श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक महानुभाव—

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव—

१	,,	श्रीमान् लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी रईस	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन	जगाधरी
१३	,,	गेंदामल दगडू शाह जी जैन	सनावद
१४	,,	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	,,	मन्त्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	,,	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेम देवीशाह सु० बा० फतहलाल जी जैन संघी	जयपुर
२२	,,	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	खण्डवा
२३	,,	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडीह
२४	,,	गिरधारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	,,	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	,,	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेण्ट इन्जीनियर	कानपुर
३०	,,	मन्त्री दि० जैन समाज नाई की मण्डी	आगरा

३१	श्रीमान लाला	सचालिका दि० जैन महिला मण्डल नमककी मण्डी	आगरा
३२	„	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रेस	रुडकी
३३	„	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	„	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	„	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	„	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	„	बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला
३८	„	※ शीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबडा	झूमरीतिलैया
३९	„	※ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूप नगर	कानपुर
४०	„	※ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४१	„	※ दयाराम जी जैन आर. ए. डी. ओ	सदर मेरठ
४२	„	※ मुन्नालाल यादवराम जी जैन	सदर मेरठ
४३	„	+ जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सदर मेरठ
४४	„	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला

नोट:—जिन नामोके पहिले ※ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये है, शेष आने है। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया सभी बाकी है।

●

आमुख

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) की गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक टीका करनेके प्रारम्भ मे मोक्षमार्गके नेता आप्तको वदन करनेके प्रसगकी व्याख्यामे सर्वप्रथम आ। तार्किकशिरोमणि समन्तभद्राचार्यने ये आप्त सर्वज्ञ ही क्यो वदन करनेके योग्य हैं इसपर मीमासा (सयुक्तिक विचारणा) की। किसीके पास देव आते हैं, कोई आकाशमें चलते है, किसीपर चमर ढुलते हैं, इन कारणोसे वे आप्त नही हैं पूज्य नही है। ये बातें तो मायावी पुरुषोमे भी सभव हो सकती हैं। ससारी देवोमे सभव होनेसे दिव्य शरीर भी पूज्यत्वका हेतु नही है। तीर्थप्रवर्तन भी अनेकोने की है उनमे परस्पर विरोध भी है अतः तीर्थप्रवचन सबकी आप्तताका हेतु नही बन सकता, किन्तु जिसके परस्पर विरुद्ध वचन नही हो, युक्तिशास्त्रमे अविरुद्ध वचन हो, प्रमाणमे प्रसिद्ध व अबाधित वचन हो वही निर्दोष हो सकता है। इस पर्वापर वस्तुस्वरूपके अभिमतोत्तर पाण्डित्यपूर्ण सयुक्तिक विचार किया गया है। जैसे किन्ही दार्शनिकोका सिद्धान्त है कि तत्त्व एकान्तत भावस्वरूप है किसी भी प्रकार अभावस्वरूप नही है। इस सम्बन्धमे सक्षिप्तरूपमे यह जानकारी दी है कि यदि कोई पदार्थ सर्वथा भावरूप है तो कोई भी पदार्थ सर्व पदार्थोंके सद्भावरूप हो जायगा तब द्रव्य क्षेत्र कालभावकी कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकती। भावैकान्तको अनेक विधियोमे अनेक दोष दूषित दर्शाया है। किन्ही दार्शनिकोका अभिमत है, किन्ही दार्शनिकोका मन्तव्य है कि तत्त्व अभावस्वरूप ही है इस विषयमे बताया गया है कि पदार्थ यदि अभावैकान्तमय है तो ज्ञान, वाक्य, प्रमाण

आदि कुछ भी न रहा फिर सिद्ध ही क्या किया जा सकेगा। यो पदार्थ न केवल भावस्वरूप ही है और न केवल अभावस्वरूप ही है किन्तु प्रत्येक पदार्थ स्व द्रव्य क्षेत्रकाल भाव भावस्वरूप है और पर द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे अभावस्वरूप है। तथा दोनो स्वरूपोंको एक साथ कहा जाना अशक्य होनेसे अवक्तव्यरूप है। यो तीन स्वतन्त्र धर्म सिद्ध होनेपर इनके द्विसंयोगी तीन भङ्ग और त्रिसंयोगी एक भङ्ग और सिद्ध होता है। यो सप्त भङ्गोमें भावस्वरूप व अभावस्वरूपका वर्णन करके सम्यक् प्रकाश दिया है।

पूर्वोक्त स्याद्वाद विधिसे निम्नाङ्कित इन सब विषयोके सम्बन्धमें भी यथार्थ प्रकाश दिया गया है (१) पदार्थ एक है या अनेक है, (२) वस्तु अद्वैतरूप है या द्वैतरूप अर्थात् एकान्तः सभी ज्ञेय सर्वथा पृथक पृथक् हैं, (३) वस्तु नित्य है या अनित्य, (४) वस्तु वक्तव्य है या अवक्तव्य, (५) कार्यकारणमें, गुण गुणीमें सामान्य सामान्यवान्में भिन्नता है, या अभिन्नता है, (६) धर्म धर्मीकी सिद्धि आपेक्षिक है या अनापेक्षिक है (७) क्या हेतुसे ही सब कुछ सिद्ध होता है या आगमसे ही सब कुछ सिद्ध होता है (८) क्या प्रतिभासमात्र अन्तरङ्ग अर्थ ही है या बहिरङ्ग प्रमेय पदार्थ ही है, (९) क्या भाग्यसे ही अर्थसिद्धि है या पुरुषार्थसे ही अर्थसिद्धि है (१०) क्या अन्य प्राणियोंमें दुःखके उत्पादसे पाप बँधता है, (११) क्या अन्य प्राणियोंमें सुखका उत्पाद होनेसे पुण्य बधता है, (१२) क्या स्वयके क्लेशसे क्या पुण्य बँधता है, (१३) क्या स्वयके सुखसे पाप बधता है, (१४) क्या अज्ञानसे याने ज्ञानकी कमीसे बन्ध ही होता है, (१५) क्या अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है। उक्त सभी विषयोंकी सयुक्तिक मीमांसा करके स्याद्वाद विधिसे सभी विषयोंका यथार्थ परिचय कराया गया है, जिसका अति संक्षेपमें वर्णन किया जाय तो वह भी बहुत अधिक विवरण हो जाता है। इस सबको पाठकगण स्वयं इन प्रवचनोंका अध्ययन करके परिज्ञात करें। अन्तमें वस्तुस्वरूपको सिद्ध करने वाले तत्त्वज्ञानकी प्रमाणरूपता व स्याद्वाद नयसंस्कृतता व तत्त्वज्ञानका फल, स्याद्वादका विवरण, केवल प्रत्यक्ष परोक्षके अन्तरमें स्याद्वादकी केवल ज्ञानवत् सर्वतत्त्वप्रकाशकताका वर्णन करके वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेष्टाको ही आप्त होना सिद्ध किया है तथा आत्मकल्याणार्थी पुरुषोंको सम्यक् उपदेश और मिथ्योपदेशकी विशेष जानकारी हो एतदर्थ इस आप्तमीमांसाको रचनेका आशय तार्किक चूडामणि श्री समन्तभद्राचार्यने बताया है।

इस महान ग्रन्थके गूढतम महत्त्वको सरलतासे सर्वसाधारणोपयोगी प्रवचन द्वारा प्रकट करना अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी जी महाराजके प्रकाण्ड पाण्डित्यका सुमधुर फल है जिसे जैन मीमांसकोंकी उच्चतम कोटिमें विराजमान करनेका महाराजजी ने प्रयास किया है। आशा है जैन समाज ही नहीं, विश्व समाज इस प्रयाससे लाभान्वित होगा।

तत्त्वज्ञान-प्रभावित.

व्याकरणरत्न, काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

सहारनपुर

आप्तमीमांसा प्रवचन

[पंचम भाग]

●

प्रवक्ता

(अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु. मनोहर जी वर्णी सहजानन्द' महाराज)

●

मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

●

लोकमे आप्त कौन है, प्रश्न की समीक्षा— तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी बहुत बडी टीका करनेके प्रसगमे स्वामी समन्तभद्र आचार्यने उक्त मगलाचरणके प्रसगको लेकर यह निर्णय बताना उचित समझा कि लोकमे आप्त कौन हो सकता है ? जो मोक्षमार्गके नेता है, कर्मपहाडके भेदने वाले हैं और विश्वतत्त्वके ज्ञाता हैं वे आप्त हो सकते हैं। इन तीन विशेषणोमे यह सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ निर्दोष और शासनके याने मोक्षमार्गके मूल प्रणायक आप्त कहलाते हैं तो ऐसा निर्णय करनेके प्रसगमे यह विवाद उठना प्राकृतिक ही है कि ऐसे आप्त भगवान अरहंत ही क्यो हैं ? और उसके कारणके विवरणमे स्वामी समन्तभद्र देवने प्रथम उन कारणोको बताया कि जिन कारणोसे ही अरहत आप्त नही कहलाते किन्तु अन्य कारणसे कहलाते हैं, इसे अलकार रूपमें वर्णित किया है कि मानो आप्तके निर्णयके लिए समन्तभद्र चले तो सभी लोकमान्य देवोको निरखते-निरखते जब अरहत देवपर दृष्टि पहुची तो मानो प्रभुकी ओरसे ही ध्वनि हुई कि ठीक है समन्तभद्र, हमारी दृष्टि करना उचित है। हम ही आप्त हैं क्योकि मेरे पास देव आते हैं, आकाशमे चलता हूं, चामर आदिक विभूतियाँ ढुरती है। उसके उत्तरमे कहा गया कि हे प्रभो ! आप इन बातोसे आप्त नही, महान नही, क्योकि ये बातें तो मायावी पुरुषोमे भी देखी जाती हैं। तब मानो प्रभु की ओर से फिर प्रश्न हुआ। तब तो चूंकि हमारा शरीर महोदयविशिष्ट है, शरीरके भीतर कोई उपधातुके दोष नही है और बाहरमे पुष्पवृष्टि आदिक हुआ करती है अतएव मैं महान हूं। तो समन्तभद्र कहते हैं कि शरीरके ऐसे महोदय के कारण तो प्रभु आप महान नही हैं,

क्योंकि यद्यपि शरीर का इतना स्वच्छ होना एक दिव्य और सत्य है लेकिन ऐसी शुचिता तो देवोंके शरीरमें भी हो सकती है। किन्तु वे हैं रागादिमान, महान तो नहीं, तब तीसरी बार मानो यह प्रश्न हुआ कि हमने एक तीर्थ चलाया है, जैन शासन चलाया है इस कारणसे हम महान हैं तो उसके उत्तरमें कहा गया कि एक तीर्थ चलानेके कारण भी आप महान नहीं हो, क्योंकि तीर्थ तो अनेकोंने अनेक चलाये। और उन तीर्थोंका एक दूसरेसे विरोध है व उनका परस्पर भी विरोध है। हां, इतनी बात अवश्य है कि परस्पर विरोध होनेके कारण यद्यपि तीर्थ चलाने वाले सबमें आप्तपना नहीं हो सकती, फिर भी कोई तीर्थ चलाने वाला गुरु होता ही है। और, ऐसा गुरु वही तीर्थप्रणेता हो सकता कि जहाँ दोष एक न रहे हो।

निर्दोष निरावरण, सर्वज्ञ प्रभुकी आप्तताका निर्णय और भावैकान्तवादियोंके आप्तपना हो सकनेका पुनः एक पर्यनुयोग दोषावरणरहित कोई तीर्थप्रणेता गुरु हो सकता है, इस कथनपर पुनः प्रश्न हुआ कि दोष और आवरण मुझमें नहीं रहे यह कैसे निश्चय किया ? तो समन्तभद्राचार्यने कहा कि दोष, आवरण चूंकि औपाधिक भाव हैं और उपाधिके मिलनेपर बढ़ते हैं, उपाधिके घटनेपर कम होते हैं। तो जहाँ उपाधि नहीं रहती वहाँ ये सभीके सभी दोष समाप्त होजाते हैं। यो यह सम्भव है कि कोई आत्मा ऐसा होता है जिसमें दोष और आवरण बिल्कुल नहीं रहते। और इसी कारण उसका इतना शुद्ध विकास होता है कि सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती, त्रिलोक त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ उसके प्रत्यक्षमें रहते हैं। और, ऐसे निर्दोष निरावरण सर्वज्ञ हे अरहंत तुम ही हो, क्योंकि निर्दोष हो और युक्ति शास्त्रके अविरुद्ध आपके वचन हैं, जिनके शासनमें कहीं विरोध न आये। जो वस्तुस्वरूपके अनुकूल हो, उस शासनका प्रणेता निर्दोष ही हो सकता है। आपका शासन किसी प्रमाणसे बाधित नहीं होता। किन्तु जो आपके शासन अमृतसे बाह्य हैं ऐसे एकान्तवादियोंका अपना ही खुदका मतव्य प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है। एकान्तवादमें जो आसक्त हैं वे चूंकि अनेकान्त शासनका आलम्बन नहीं लेना चाहते इस कारण उनके यहाँ पुण्य पाप परलोकादिककी सिद्धि नहीं होती। इस सब कथनके होनेके बाद अब मानो भगवानकी ओरसे यह प्रश्न हुआ कि पदार्थोंका भाव ही तो स्वरूप है, अभाव स्वरूप नहीं। तो जब पदार्थोंका अस्तित्व ही स्वरूप है ऐसा निश्चय करते हैं कुछ लोग और उसमें प्रत्यक्ष अनुमान आदिकका विरोध न आये तो ऐसे केवल अस्तित्व को कहने वाले दार्शनिक और उनके गुरुजन भी तो निर्दोष सिद्ध होते हैं। अतएव इन गुरुओंमें भी, उन ज्ञानी दार्शनिकोंमें भी आप्तपनाकी बात बन सकती है इस कारण वे भी स्तुत्य हो जावें ? ऐसा मानो प्रश्न होनेपर आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

भावैकान्त माननेमे अभावकी अमान्यता होनेके कारण विडम्बनाका प्रतिपादन– पदार्थोंमे यदि केवल सत्ताका ही एकान्त माना जाय और अभावका निराकरण किया जाय तब तो फिर सभी पदार्थ सर्वरूप हो जायेंगे, अनादि हो जायेंगे, अनन्त हो जायेंगे और स्वरूपरहित हो जायेंगे। किन्तु ऐसा तो आपका या वस्तुका सिद्धान्त है ही नही। वह आपके शासनसे बहिर्भूत ही मतव्य है। इस कारिकाका स्पष्ट अर्थ करनेके अर्थ एक सांख्य सिद्धान्तका आश्रय लेकर बताया जा रहा है कि पदार्थ जैसे माने गए हैं प्रकृति आदिक २५ तत्त्व। सांख्य सिद्धान्तमे भाव एकान्त है अर्थात् पदार्थ सद्रूप है, सदैव सद्रूप है। कभी किसी पर्यायकी उत्पत्ति होती है सो वहाँ यह नही माना जा रहा कि वह कार्य अब हुआ है। वह थे भी अनादिसे ही था, पर वह तिरोहित था अब व्यक्त हुआ है। जैसे कि एक बडके दानेमे कितने ही बडके पेड और कितने ही बडोके फल मौजूद है लेकिन उनका आविर्भाव नही है। उस बीजको बो देनेमे जो अकुर पैदा हो जाते बट वृक्ष हो जाते, आविर्भाव होगया। तो कुछ भी बात ऐसे नही होती सांख्य सिद्धान्तके मतव्यमे कि कोई पदार्थ पहिले न था और अब बन गया हो। तो यो इस भावैकान्तके सिद्धान्तमे पदार्थ २५ माने गए हैं और उन पचीसोका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि मूल प्रकृति तो प्रधान कहलाती है। वह है कार्यरहित वह किसीका कार्य नही है। वह मूलभूत चीज है। अब महान अहकार और ५ तन्मात्रायें अर्थात् स्पर्श रस गंध, वर्ण शब्द ये ७ प्रकृतिके विकार हैं। और ये किसीके कारण भी हैं और कार्य भी है। और ५ बुद्धि इन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और ५ महाभूत पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आकाश तथा मन ये १६ विकार हैं, कार्यरूप ही हैं। पर प्रकृति और पुरुष ये विकृतिरूप नही हैं, इस तरह २५ तत्त्वोकी व्यवस्था की गई है। उन २५ पदार्थोंका अस्तित्व ही है। सदा अस्तित्व है ऐसा निश्चय करनेका नाम है भावैकान्त। ऐसे भावैकान्तके माने जानेपर सभी पदार्थोंमे चूँकि किसी भी प्रकारसे अभाव तो माना नही गया कुछ तो इतरेतराभाव आदिक जो अभाव हैं उन सब अभावोका अपह्नव (निराकरण) हो जायगा। अर्थात् अभाव तो रहे ही नही। और जब अभाव कुछ रहे ही नही तो सर्व पदार्थोंमे सर्वात्मकताका प्रसग किस तरह आता है उसका वर्णन अब किया जा रहा है।

अभावके भेद और अभावका अपह्नव करनेसे होनेवाली विडम्बनाकी सूचना– अभाव एकान्त न मानने वालो ने चूँकि अभावको नही माना है तो अभावके न माननेसे अनेक दोष उपस्थित होते हैं उनका वर्णन करते हैं। अभाव ४ प्रकारके होते हैं—इतरेतराभाव, प्रागभाव प्रध्वसाभाव और अत्यन्ताभाव। इतरेतराभाव— एक व्यक्तरूपका अन्य व्यक्तरूपमें अभाव रहना। जो पुद्गलरूप है, परिणमियाँ हैं वे सब अपनेमे अपना–अपना लक्षण रखती हैं। एकका दूसरेमे अभाव है, इसको कहते हैं इतरेतराभाव। प्रागभावका अर्थ है—किसी भी कार्यका अपने कालसे पहिले अभाव

रहना। जैसे मृत्पिण्डसे घट बनता है तो घटका घट कालसे पहिले अभाव रहना अर्थात् मृत्पिण्डादिक सकलोंका नाम है घटका प्रागभाव। प्रध्वंसाभाव कहते हैं किसी कार्यका प्रध्वंस होनेपर आगे अभाव रहना। जैसे घटका अभाव होनेपर फिर घट आगे नहीं रहता कपाल आदिक पर्यायें रहती हैं। तो कपाल आदिक परिणतियोंका नाम है घटका प्रध्वंसाभाव। अत्यन्ताभाव कहते हैं एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें सदा अभाव रहनेको। कभी भी एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं बन सके ऐसे अत्यन्त अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं। अब इन अभावोंके न माननेसे भावैकान्तवादियोंके यहाँ क्या-क्या आपत्तियाँ आती हैं इस बातका वर्णन करते हैं।

भावैकान्तवादमें इतरेतराभावका अपह्नव होनेसे होनेवाली विडम्बना का निर्देश—भावैकान्तवादमें सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंने २५ तत्त्वोंकी व्यवस्था की है। जिसमें संक्षेपरूपसे उन्हें तीन श्रेणियोंमें रखें, एक व्यक्त, दूसरा अव्यक्त, तीसरा पुरुष। व्यक्त और अव्यक्त तो अचेतनभाव हैं। प्रधानका नाम अव्यक्त है। जो कार्य-रूप नहीं बनता उसको अव्यक्त कहते हैं और जो कार्यरूप होते हैं वे कहलाते हैं व्यक्त और दोनों प्रधानके ही तत्त्व हैं, मूल तत्त्व तो प्रधान अव्यक्त है। उस प्रधानसे प्रसूत जितनी सृष्टियाँ व्यक्त कहलाती हैं। तो अब देखिये—व्यक्त हुए महत् अहंकार घट आदिक कार्य और अव्यक्त हुआ प्रधानतत्त्व। सो जब इन भावैकान्तवादियोंने इतरेतरा-भाव नहीं माना तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि व्यक्त अव्यक्त स्वरूप बन जायगा क्योंकि व्यक्तका अव्यक्तमें इतरेतराभाव तो माना नहीं। जब व्यक्त अव्यक्तमें अभाव रूपसे नहीं है तो अर्थ यही हुआ कि व्यक्त और अव्यक्त एक बन गए। तो व्यक्तका अव्यक्तात्मक बन जानेपर सब सर्वात्मक बन गया अर्थात् सब रूप ही व्यक्त अव्यक्त है। अब उनमें यह भेद नहीं किया जा सकता कि यह महान है, यह अहंकार है ये मात्राएँ हैं, यह प्रधान है आदिक। और, जब व्यक्त और अव्यक्तमें कुछ लक्षण न बना सर्वात्मक सब बन गया तो ऐसा व्याख्यान करना जिसमें व्यक्त और अव्यक्तके लक्षण का भेद बताया है वह कैसे संगत होगा? भावैकान्तवादियोंने कहा है कि व्यक्त तो होता है हेतुमान अर्थात् कारण वाला। व्यक्तोंका कुछ न कुछ कारण होता है। व्यक्त होते हैं अनित्य, क्योंकि वे अपने कारणसे उत्पन्न हुए हैं। तो जो उत्पन्न हुआ है वह अनित्य होता है। व्यक्त होता है अव्यापी। चूँकि वह एक अंश है और वह उत्पन्न होता है तब वह व्यापी कैसे बन सकता है? व्यक्त होता है सक्रिय, क्रियावान परिणतिरूप। व्यक्त होता है अनेक, क्योंकि जो कार्यरूप बने हैं वे तो अनेक ही हैं। व्यक्त होता है आश्रित, क्योंकि वह प्रधानके आश्रित है। व्यक्त होता है लिङ्गरूप। लिङ्ग कहते हैं (चिन्हको) जो किसीका अनुमान कराये तो व्यक्त प्रकृतिका अनुमान कराता है। व्यक्त होता है सावयव। चूँकि वह अनेकरूप है, अनेक अंशरूप है अतएव सावयव है और व्यक्त होता है परतन्त्र। प्रधानके आधीन है, ऐसा तो होता है व्यक्त, और अव्यक्त होता है इससे विपरीत। अव्यक्त कहते हैं प्रधानको। प्रधानका और

कोई कारण नहीं है। प्रधान ही तो सबका मूल कारण है। अतएव वह नित्य है, व्यापी है, उसमें परिणति नहीं, क्रिया नहीं, वह एक है, किसीके आधीन नहीं, उसका कोई चिन्ह भी नहीं, उस प्रधानको ज्ञानीजन अपने ज्ञानमें समझ पावेंगे। देखनेमें, समझाने-बतानेमें, आ सकने वाला प्रधानका कोई चिन्ह नहीं है। अतएव वह निरवयव है स्वतन्त्र है, इस तरह जो व्यक्त और अव्यक्तके लक्षणोंके भेदका कथन किया है वह सब विरोधको प्राप्त होता है, क्योंकि अब तो सब ही कुछ बन गया। इतरेतराभाव न माननेसे सभी पदार्थ सब स्वरूप हो गए। यह तो हुई इतरेतराभाव न माननेपर विडम्बना। अब प्रागभाव न माननेपर क्या विडम्बना होती है, सुनो!

भावैकान्तवादमें प्रागभावका अपन्हव होनेसे होने वाली विडम्बनाका निर्देश—प्रागभावका अर्थ यह है ना, कि जो जो कार्य होना है वह कार्य कार्यकालसे पहिले न रहे। लेकिन प्रागभाव जब नहीं मानता है कोई तो उनका अर्थ यह हुआ कि उसके मतव्यमें प्रत्येक कार्य अनादिसे हैं। प्रागभाव न माननेसे महान अहंकार आदिक जितने व्यक्त भाव हैं, विकार भाव हैं वे सब अनादि हो जायेंगे। तो यों प्रागभाव न माननेपर ये सब विकार अनादि हो जाते हैं और महान अहंकार आदिक जब अनादि हो गए तब सृष्टिके क्रमका कथन करना अत्यन्त विरुद्ध हो जाता है। जैसे कि भावैकान्तवादने प्रकृतिको सृष्टि बननेका क्रम बताया है वह सब अविरुद्ध हो जाता है। उन का सिद्धान्त है कि प्रकृतिसे महान तत्त्व उत्पन्न होता है। महानका अर्थ है बुद्धि करना। जो ज्ञानात्मक भाव हैं वे सब महान माने गए हैं। वे महान प्रकृतिमें उत्पन्न होते हैं। इस महान तत्त्वको पुरुषका धर्म नहीं माना सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंने। सो प्रकृतिसे महान तत्त्व हुआ, महानसे अहंकार हुआ, अहंकारसे १६ गण हुए ५ बुद्धि इन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ तन्मात्रायें व मन। इन १६ गणोंमें जो ५ मात्रायें हैं उनसे ५ पृथ्वी, जल अग्नि, वायु व आकाश इन ५ भूतकी उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार जो इन व्यक्त भावोंकी सृष्टिका क्रम कहा है वह कथन निषिद्ध हो जाता है। तो प्रागभावके न माननेपर इन सब विकारोंको अनादि माननेकी विडम्बना बनती है।

भावैकान्तवादमें प्रध्वंसाभावका अपन्हव होनेसे होने वाली विडम्बनाका निर्देश—अब प्रध्वंसाभाव न माननेपर क्या आपत्ति आती है इसको सुनो। प्रध्वंसाभावका अर्थ है कि किसी विकारका, कार्यका प्रध्वंस होनेपर आगे अभाव रहना। अब प्रध्वंस यदि नहीं मानते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि समस्त विकार अनन्त हो जायेंगे। और जब समस्त विकार अनन्त हो गए तो इन विकारोंका संहार मानना कि ये सब विकार नष्ट होकर केवल प्रकृति रह जाती है। इस प्रकार उन विकारोंके संहारका कथन कहना बिल्कुल विरुद्ध पड़ता है। भावैकान्तवादियोंने सृष्टिके संहारका क्रम यह बताया है कि पृथ्वी आदिक ५ महाभूत ५ तन्मात्राओंमें लीन हो जाते हैं। जैसे कि पृथ्वीमें गंध, रूप, रस, स्पर्श, शब्द इन तन्मात्राओंमें प्रवेश हो जाता है।

अर्थात् पृथ्वी इन ५ तन्मात्राओंमें प्रवेश हो जाता है अर्थात् पृथ्वी इन ५ तन्मात्राओंमें लीन हो जाती है। जलका रस आदिकमें अग्निका रूपादिक तन्मात्राओंमें प्रवेश हो जाता है। और, वायुका स्पर्श और शब्द इन तन्मात्राओंमें प्रवेश हो जाता है। और, आकाशका शब्द तन्मात्राओंमें प्रवेश हो जाता है। इस तरह ये ५ महाभूत इन ५ तन्मात्राओंमें लीन हो जाते हैं और ये ५ तन्मात्रायें ५ बुद्धि इन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय और मन, ये हुए १६ तत्त्व। इनका अहंकारमें अन्तर्भाव हो जाता है और अहंकारका, महानमें तथा महानका प्रकृतिमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह विलीन हो होकर केवल अन्तमें प्रकृति तत्त्व रह जाता है। इस तरह सृष्टिके संहारका कथन करना यह अटपट प्राप्त हो जाता है यह संहार व संहारक्रम सिद्ध ही नहीं होता तो प्रध्वंसाभावके न माननेपर यह विडम्बना बनती है।

अत्यन्ताभाव न माननेसे होने वाली विडम्बनाका निर्देश—अब अत्यन्ताभावके न माननेमें क्या आपत्ति आती है इस बातको भी परखिये। अत्यन्ताभाव कहते हैं द्रव्योंका द्रव्योंमें अभाव होनेको याने किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्योंमें अभाव होना अत्यन्ताभाव है सो अब ऐसा अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो भावैकान्तवादियोंके यहाँ दो द्रव्य माने गये हैं प्रकृति और पुरुष। तो प्रकृति और पुरुषमें अब अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो प्रकृति बन गया पुरुषात्मक। तो इसका अर्थ यह है कि सर्वात्मक बन गया। अब वहाँ फिर कुछ भी द्रव्य न रहेगा। प्रकृति बन गया। अब वहाँ फिर कुछ भी द्रव्य न रहेगा। प्रकृति बन गया पुरुषात्मक, पुरुष बन गये प्रकृत्यात्मक, फिर रहा ही क्या? और तब प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे लक्षणभेदका करना बिल्कुल विरुद्ध पड जाता है। भावैकान्तवादियोंने कहा है कि व्यक्त तो होता है सत्त्व रजः तमः, इन तीन गुणों वाला व्यक्त होता है अविवेकी अर्थात् भेदरहित व्यक्त होता है आत्माके भोग्यरूप ऐसा सामान्य अचेतन प्रसव धर्म वाला व्यक्त होता है, जिसकी कि शक्ति हो गई और अव्यक्त अर्थात् प्रधान हुआ व्यक्तसे विपरीत, और पुरुष होता है उन दोनोंसे विरुद्ध। अर्थात् केवल चिन्मात्र। इस तरह उन सबके लक्षणका भेद कहना असंगत है, क्योंकि अत्यन्ताभाव न माननेसे सर्व सर्वात्मक हो गया फिर लक्षणभेदका अवसर ही क्या?

स्याद्वादशासनसे बहिर्भूत भावैकान्तवादमें ही विडम्बनाकी आपत्ति भावैकान्तमें जब किसी भी प्रकारका अभाव नहीं माना है तब वहाँ सभी पदार्थ अस्वरूप हो जाते हैं। उनका कुछ स्वरूप नहीं रहता, क्योंकि अपने आपका असाधारणरूप क्या है यह बात किसी भी तत्त्वमें व्यवस्थित नहीं रह सकती, क्योंकि वस्तुस्वरूपके नियामक हैं ये चार प्रकारके अभाव, उनको माना नहीं। तब द्रव्य, गुण, पर्याय सजातीय विजातीय सब कुछ एक हो जायगा, तब किसीका भी स्वरूप न रह सकेगा। यों अभाव प्रमुख माननेवाले सांख्यएकान्तवादियोंका मतव्य दूषणका स्थान है। और ऐसा एकान्त अभिमत हे प्रभो! आपका नहीं है। आपके शासनसे बहिर्भूत

एकान्तवादियोका यह मतव्य है। सो उनके यहाँ अभावका अपन्हव करनेपर सब कुछ सब रूप हो गया। द्रव्य, गुण, पर्याय ये सर्व सर्वात्मक हो गए। पदार्थमे अब कोई विशेष तो रहा नही। सभी तत्वोका व्यक्त अव्यक्त और उभयरूप, सत् असत् और उभयरूप द्रव्य पर्याय और उभयरूप भाव अभाव और उभयरूप, ये सबके सब सर्वरूप हो गए। अब उनमे कोई विशेष ही न रहा ऐसी स्थितिमें एक इस ही साधारण प्रश्नका कोई उत्तर दे दे कि अब अभावका अपन्हव करने वाले भावैकान्तवादियोसे कहा जाय कि दधि खाओ तो वे दधिके बजाय ऊँटको खाने और खानेके लिये क्यो नही दौडते? अब तो किसी भी तत्त्वका कोई असाधारणरूप रहा नही। वस्तुका असाधारणरूप रहता है अभावके नियमसे। अभाव न माननेपर सर्व सर्वात्मक हो गए। तब दही और ऊँट ये कोई अलग थोडे ही रहे। सर्व सर्वरूप हो गए। ऐसी विडम्बना क्यो नही बन जाती? तो यो भाव एकान्तमे अभावका अपन्हव करनेसे ये सारी विडम्बनायें होती हैं पर हे भगवान अरहन्तदेव! तुम्हारे शासनमे ये कोई दूषण नही आते, क्योकि स्याद्वादशासनमें कथंचित् अभावको अपन्हव नही माना गया। वस्तु भावाभावात्मक है, अतएव अनेकान्त शासनमे कोई दूषण नही आता।

व्यक्त, अव्यक्त व पुरुषके स्वरूपके वर्णनसे ही चारो अभावोका अभ्युपगम बताकर भावैकान्तवादियो द्वारा आक्षेपनिराकरणका प्रयास—अब ये भावैकान्तवादी शका कर रहे हैं कि देखिये! व्यक्तमें उनका स्वभाव तो माना ही है। व्यक्तका स्वभाव और अव्यक्तका स्वभाव ग्रन्थोमे जुदा-जुदा वर्णन किया हो है, तो व्यक्त और अव्यक्तके स्वभावका जो वर्णन है वही तो इतरेतराभावका दर्शन कराता है। और, प्रकृति पुरुषमे जब प्रकृतिका रूप बताया गया और पुरुषका रूप बताया गया, तब दोनोका रूप जुदा-जुदा बता देना यही तो अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार महान, अहंकार आदिक जो व्यक्त परिणतियाँ हैं उनमे अपने-अपने कारणका स्वभाव तो बताया ही गया। महानरूप कारणका स्वभाव अन्य है, अहंकाररूप कारणका स्वभाव अन्य है, प्रत्येक कार्यके कारणोका स्वभाव बताया ही गया। तो अपने कारणके स्वभावका जो वर्णन है वही तो प्रागभाव है। इस प्रकार महाभूतोका मात्रामे अन्तर्भाव होना, गणोका अहंकारमे अन्तर्भाव होना आदिकरूपसे जो अन्तर्भावके आश्रयका वर्णन किया जाता है। जहाँ महाभूत लीन होते हैं वह महाभूतका कारण द्रव्य है, और वही स्वरूप है प्रध्वसाभावका। तो इस तरहसे इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव सांख्योने भी माना है। जब अभावका उपन्हव अप्रसिद्ध है सांख्य सिद्धान्तमें तो फिर सर्वात्मक होना, अनादि अनन्त होना, अस्वरूप होना ये सारे दोष क्यो कहे जायेंगे?

वस्तुमे किसी भी प्रकार अभाव तत्त्व मान लेनेपर वस्तुके भावाभावात्मकपनेकी सिद्धि—उक्त शकाके उत्तरमे कहते हैं कि केवल किसी आक्षेपसे

बचनके लिए कभी कथन कर देना यह आक्षेपसे बचानेमे समर्थ नही हो सकता। यदि वस्तुत: इन चार प्रकारके अभावोंको माना जा रहा है तब भावैकान्त तो न रहा। अब तो समग्र वस्तुयें भावात्मक हो गयी। स्याद्वादी जन भी अभावको भावसे भिन्न ही नही मानते। अभाव और भाव ये जुदे-जुदे पदार्थोंमें होते हो ऐसा नही मानते हैं, क्योंकि अभावको भावसे अर्थान्तर माननेमे अभाव नीरूप अर्थात् निःस्वभाव बन जायगा, अर्थात् अभावकी कुछ शकल न रहेगी। कोई स्वरूप न रहेगा। अतएव अभाव भावसे अर्थान्तर नहीं है। एक ही वस्तुमे भाव और अभाव दोनोकी सिद्धि होती है। यहाँ शंकाकार कहता है कि अभावमें नीरूपता न हो जाय यह बात तो इतना मान लेनेसे ही बन जायगी कि अभावमे "नही है यह" ऐसा ज्ञानको उत्पन्न करनेका रूप है, सो अभाव रूपरहित मुद्रारहित न बनेगा उसकी मुद्रा तो है, क्या मुद्रा है कि यह अभाव नास्तिके ज्ञानको उत्पन्न करनेका रूप रख रहा है, तब अभाव नीरूप न बन सकेगा और भावसे अर्थान्तर बना रहेगा। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह अभाव को भावसे अर्थान्तर माननेमे अभाव नही ठहर सकता, और वह नास्ति। इस प्रकारके ज्ञानका जो जनक बन रहा है इससे तो अभावकी भाव स्वभावता प्रसिद्ध होती है। अभाव भावरूप हुआ करता है। क्योंकि अभाव पदार्थ भी तो ज्ञान और स्वभावका विषयभूत एवं अर्थक्रियाकारी है। अतएव अभाव पदार्थ भी भावस्वरूप बना। जैसे जो पदार्थ सद्भावस्वरूप होता है वह पदार्थ ज्ञानका विषयभूत और अभिधान विषय-भूत होता है, तथा उनमे अर्थक्रिया परिणति भी होती है। ऐसे ही ये सब बातें अभाव बताकर भी जानी जा सकतीं। अभाव पदका जो अर्थ है उसमे भी घटित होता हैं तीनों बातें अतएव अभाव नामक पदार्थ भाव स्वभाव ही ठहरता है, क्योकि नास्तित्व भी वस्तुका धर्म है, जैसे कि अस्तित्व, पदार्थमे सत्व है इस प्रकार अस्तित्व पदार्थ-का धर्म है तो पदार्थमें नास्तित्व है यह भी उसहीका धर्म है। अस्तित्व नाम है उसका कि वस्तुमें "यह है" इस प्रकारके प्रत्ययका विषयभूत पर्याय हो। इसी प्रकार नास्तित्व नाम है उसका कि जो वस्तुमें "यह नहीं है" इस प्रकारके प्रत्ययका विषयभूत पर्याय हो। यदि पर्यायरहित द्रव्यका एकान्त माना जाय अर्थात् अनुद्भूत शाश्वत द्रव्य ही है, उसमें व्यक्तरूप पर्याय या धर्मादिक कुछ नही है तब तो उस मतव्यमें सर्वात्मक होना आदिक दोषोंका प्रसंग आता ही है। वह किसी भी प्रकारसे निवारण नही किया जा सकता है।

सर्वव्यक्त पदार्थोंको एकात्मक माननेकी हठमे प्रकृति व पुरुष तत्त्व का लोप होकर एक सत्ताद्वैत मात्रकी मान्यता बना सकनेका प्रसंग—यहाँ सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते है कि सर्वपर्यायात्मक सर्वविवर्तरूप एक अनादि अनन्त प्रधानको हमने माना है, और उस प्रधानको छोडकर सारे विशेष वस्तुत कुछ नही हैं। इस कारण यह सिद्ध साधन होता है, अर्थात् अगर सब कुछ सर्वात्मक बनता है तो हमारे लिए यह कोई दोषकी बात नही है। वह तो हम मानते ही हैं कि सर्व कुछ

दृश्य सब विश्व एक प्रकृत्यात्मक है इस वचनके उत्तरमे कहते हैं कि सर्व कुछ विश्वमे एक सन्मात्र मानना और उसका कोई विशेष न मानना इन पर्यायरूपोको, विवर्तोंको वस्तुगत न मानना इस हठमें तो प्रकृति और पुरुषमे भी भिन्नता न रहेगी। प्रकृति और पुरुषमे भी अभेद हो बैठेगा। क्योंकि यह कहा जा सकेगा कि सत्ताको छोड़कर प्रकृति और पुरुष कोई अलग-अलग रूपसे प्रतिभासमे नहीं आते और इस तरह यदि मानलिया जाता है तो इसमे सत्ताद्वैतका प्रसग आता है? तो यह कहा जा रहा था कि प्रधानकी जो परिणतियाँ हैं बुद्धि अहकार, इन्द्रिय, पृथ्वी आदिक ये सब विवर्त हैं। ये तत्त्वभूत नहीं हैं। इस रूप यह एक रूप नहीं है अत. प्रधान सर्वस्वरूप है। लेकिन अविवेक रखकर यदि इन सब परिणतियोको जिनसे कि अर्थक्रिया बनती है भिन्न भिन्न इन्द्रियके द्वारा ग्रहण है, भिन्न-भिन्न प्रकारसे जिनमे कार्य बनता है उनको यदि एकात्मक कह दिया जाय तो इस विधिसे प्रकृति और पुरुषको भी एकात्मक कह दिया जाय तो इसमें कौन सी आपत्ति आती है। देखिये—प्रकृति भी सद्रूप है और प्रधान भी सद्रूप है। केवल सत्त्वको दृष्टिमे निरखा जाय तो सर्व कुछ सन्मात्र ही है। यो केवल सन्मात्र की सिद्धि होनेसे और प्रकृति और पुरुषका विशेष लक्षके रूपसे प्रतिभास न होनेसे एक सन्ताद्वैतका प्रसग आता है। तब प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व न रहेंगे। एक सन्मात्र ब्रह्म ही तत्त्व सिद्ध होगा। और यो आप एकान्तकी हठमे २५ तत्त्व न ठहर कर केवल एक ब्रह्माद्वैत ही तत्त्व सिद्ध हो बैठेगा

सत्ताऽद्वैतवादीका मन्तव्य और उसकी मीमांसा—सत्ताद्वैतके प्रसगको सुनकर ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि सत्ताद्वैतकी ही बात रहो। सत्ताद्वैत ही युक्तिसगत विदित होता है क्योंकि सत्त्वकी अपेक्षासे प्रकृतिमे, पुरुषमे, उभय वस्तुओमे किसी प्रकारकी विशेषता नजर नहीं आती। चेतन और अचेतनके जितने भेद हैं, जो सबोको प्रतीत होते है वे सब अविद्यासे ही उपकल्पित हैं। अनादि कालीन अविद्याकी वासना से ये समस्त पदार्थ भिन्न-भिन्न रूपमे विदित होते हैं। वस्तुत. तो वे सब सन्मात्र हैं। इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादीके कहे जानेपर उनसे पूछा जा रहा है कि भला यह तो बतलाओ कि ये सब जो विशेषके विदित हो रहे हैं इन विशेषोको आप किस प्रमाणसे निराकृत कर सकोगे? ब्रह्माद्वैतवादियोसे स्याद्वादी कह रहे है कि देखिये! प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो इन विशेषोका निराकरण नहीं किया जा सकता, इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाणको तो विधायक बताया गया है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण केवल विधि सद्भावको सिद्ध करने वाला है, वह किसीका निषेध अथवा निराकरण नहीं करता यों सत्ताद्वैतसिद्धान्त नुयायियोने माना है। तो जब प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है किसीके निराकरण करनेका तो प्रत्यक्षके द्वारा चेतन अचेतन विशेषको कैसे खण्डित किया जा सकता है? विशेषका निषेध करनेमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती और इसी प्रकार अनुमान तथा अथवा आगम प्रमाणसे भी इन विशेषोका निराकर नहीं किया जा सकता

क्योंकि अनुमान और आगम प्रमाण भी प्रतिषेधक नहीं माने गए। अनुमान अथवा आगम भी किसी वस्तुकी विधिको ही सिद्ध करता इस द्वैतवादी मानते हैं। प्रत्यक्ष की तरह आगम और अनुमान प्रमाण भी विधायक स्वीकार किया गया है ब्रह्माद्वैत-वादके सिद्धान्तमें। यदि अनुमान और आगमको प्रतिषेधक मान लिया जाता है तो प्रत्यक्ष प्रमाणके भी प्रतिषेधकपनेका प्रसंग आयगा। क्योंकि अनुमान और आगम प्रमाण हैं प्रत्यक्षमूलक। उनका आद्य ज्ञान मूल कारण प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान यदि विधायक ही रहता है तब तो अनुमान और आगम प्रमाण भी विधायक ही रहेंगे और यदि अनुमान और आगम प्रमाणको प्रतिषेधक मान लेते हैं तो उन ज्ञानोंकी उत्पत्तिका आद्य मूल कारणभूत प्रत्यक्ष ज्ञान है उसे भी प्रतिषेधक मानना होगा।

ब्रह्माद्वैतवादी और विशेषवाद प्रधान क्षणिकवादियोंमें अभेद और भेदसाधनके विषयमें चर्चा — अब यहाँ ब्रह्मद्वैतवादी कहते हैं कि यह सिद्धान्त स्वयं किसी प्रमाणसे विशेषोंका निराकरण नहीं करता, किन्तु यह किया जाता है कि विशेषोंका भेदका सिद्ध करने वाला जो कुछ भी प्रमाण दिया जायगा, जो भी साधन बताया जायगा उसमें व्यभिचार बतानेसे विशेषोंका निराकरण किया जाता है। देखिये ! वस्तुमें सर्वथा भेद मानने वाला दार्शनिक, क्षणिकवादी। सो जो वस्तुमें पूर्णतया भेद मानने वाले हैं उन्हींसे हम ब्रह्माद्वैतवादी आज कहते हैं कि वे वस्तुके विशेषको, भेदको सिद्ध करनेमें साधन क्या देते हैं ? या तो वे कहेंगे कि कारण भेदसे वस्तुमें विशेषकी सिद्धि होती है या यह कहेंगे कि वस्तुओंमें स्वयं विरुद्ध धर्म पाये जा रहे हैं सो उस विरुद्ध धर्मके सम्बन्धसे उनमें भेद पाया जाता है। तो दोनों विकल्पोंके सम्बन्धमें सुनो कि कारणभेद तो वस्तुके भेदको सिद्ध करने वाला साधन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कारणभेद अभेदवादियोंने माना ही नहीं है। भेदवादी अभेदवादियों के प्रति यदि भेद सिद्ध करना चाहते हैं तो साधन ऐसा कहना चाहिए जैसा अभेदवादी मान सकें हों। सो कारण भेद तो अभेदवादियोंके प्रति असिद्ध है अतः वस्तुमें विशेषको, भेदको सिद्ध करने वाला साधन कारणभेद नहीं बन सकता। इस ही प्रकार विरुद्धधर्माध्यास भी नहीं माना है। प्रत्येक पदार्थमें एक सम्भाव्य अविरुद्ध धर्मका अध्यास भी वस्तुके विशेषको, भेदको सिद्ध करने वाला साधन नहीं बन सकता। और, तो क्या, अधिकसे अधिक बारीक चर्चामें चलकर, यदि भेदवादी यह कहें कि चेतन और अचेतनके भेदको बताने वाला जो ज्ञानाकार है उस ज्ञानाकार के भेदसे वस्तुमें स्वभाव भेद कल्पित कर लिया जायगा, अर्थात् ज्ञानमें जो प्रतिभास भेद हो रहे हैं कि यह चेतन है, यह अचेतन है, तो ज्ञानमें जो जुदे-जुदे रूपसे प्रतिभास हो रहा है इस प्रतिभासके भेदसे वस्तुमें स्वभावभेद मान लिया जायगा। तो पूछो ज्ञानमें प्रतिभास भेद पानेसे यदि स्वभाव भेदको साध्य बनानेका प्रयास करोगे तो इस प्रयासमें भी यह साधन व्यभिचारी हो जायगा। देखो चित्राद्वैतवादीके यहाँ ज्ञानात्मा अभेदरूप है, उसमें भेद तो नहीं है लेकिन ज्ञान प्रतिभास भेद वहाँ भी पाया

जा रहा है। तो ज्ञान प्रतिभास भेदरूप साधन आत्म मे भी पाया जा रहा है लेकिन वहाँ भेदरूप साध्य नही है। तो ज्ञानमे प्रतिभासभेद होनेसे भी वस्तुमे स्वभावभेद सिद्ध नही किया जा सकता।

चित्राद्वैतवादी और ब्रह्माद्वैतवादीमे अभेदसाधनके लिये आक्षेप-समाधान अब यहाँ चित्राद्वैतवादी कह रहे हैं कि देखिये! ज्ञानात्मक जो एक तत्त्व है जैसे कि चित्राद्वैतमे केवल एक ज्ञान ही तत्त्व माना है और उस ज्ञान तत्त्वमे जो खण्ड खण्ड रूपसे प्रतिभास हो रहा है वह प्रतिभास तो भ्रम [illegible] क्रमसे हो रहा है। परमार्थसे तो वह ज्ञानात्मक तत्त्व एक ही है, इस कारणसे उस ज्ञानात्मक तत्त्वके साथ ज्ञान प्रतिभास भेदरूप साधनका व्यभिचार न बनेगा। जो अभी ब्रह्माद्वैतवादियोंने ज्ञान प्रतिभास भेदसे स्वभावभेद सिद्ध करनेके प्रति ज्ञान प्रतिभास भेदको व्यभिचारी कहा है सो वह व्यभिचार न आयगा क्योंकि अभेद आत्मामे अर्थात् ज्ञानतत्त्वमें जो भेद प्रतिभासमे आ रहा है वह भ्रान्त है। इस ही बातको क्षणिक सिद्धान्त मे कहा भी है कि यह ज्ञानात्मा ज्ञानक्षणमात्र यह तत्त्व यद्यपि एक है लेकिन जिनकी विपरीत दृष्टि है उन पुरुषोने इसे ग्राह्य सम्वेदन, ग्राहक सम्वेदन इस तरहसे भेद वाले की तरह देख डाला है। वस्तुतः वह ज्ञानात्मक अन्तस्तत्त्व एक ही है। उसमे जो खण्ड खण्ड प्रतिभास होते हैं अर्थात् नाना वस्तुओंका ज्ञान जिन्हे हो रहा है वे सब भ्रान्त हैं। इस शंकाके उत्तरमे ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि फिर तो चित्रज्ञान स्वरूपमे जो बताया जाता है एकत्व उसकी तरह और जो प्रतिभासभेद हो रहा है उसे भ्रान्त माननेकी तरह ब्रह्माद्वैतवादमे भी एकता मानना और अनेक प्रतिभास होनेको भ्रम मानना इससे क्यो डरा जा रहा है। ब्रह्माद्वैतवादमे भी विभ्रमके अभावके कथनका दिव्यपानका लिया जाना चाहिए, जिसमे कि आत्माके उद्धारका भी मार्ग मिल जायगा देखिये, ब्रह्माद्वैतके सिद्धान्तमे भी यह कहा जा सकता है कि यहाँ जो ज्ञान प्रतिभास भेद हो रहा है बाहरमे जब कुछ निरखते हैं तो विविध अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होरहे हैं तो वह सब प्रतिभास भेद अविद्यारूप कारणमे है और अविद्या रूप कारणसे जानने वालेको भ्रम ही बन रहा है। परमार्थतः तो ज्ञानमात्र अद्वैतकी व्यवस्था है। सो देखिये! जिस प्रकार आकाश तो विशुद्ध है, उसमे कोई भेद नही पड़ा हुआ है लेकिन जिसको तिमिर रोग लग गया हो ऐसा मनुष्य इस आकाशको भी इस तरहसे निरखता है कि जैसे भिन्न-भिन्न अनेक रेखाओमे यह आकाश व्याप्त हो। तो जैसे आकाश की मुद्रामें तिमिर रोगके कारण भ्रम चल रहा है ऐसे ही अविद्यावासनाके कारण ज्ञान प्रतिभास भेदका भ्रम बन जाता है। यह ब्रह्म तो उत्पाद आदिक भेदोंसे रहित है निर्विकल्प है, घट पट आदिक भेद भी जहाँ नही है लेकिन यह लोक अविद्याके कारण कलुषपनेको प्राप्त हुएकी तरह भेदरूप ही निरख रहा है। तो यो विशेषको सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया जावे, ज्ञानमे प्रतिभास भेद होना यहाँ तक भी हेतु वस्तुमें भेद सिद्ध करने के लिए समर्थ नही है।

प्रतिभास भेदके अन्तरसे ही प्रतिभासताका ज्ञान—उक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जब जैसे प्रतिभास भेदके कारण एक चित्रज्ञान ग्राह्य ग्राहक आदिक सज्ञाओंको धारण करता है उस ही प्रकार एक ब्रह्म प्रतिभास भेदके कारण नाना व्यपदेशोंको प्राप्त होता है। जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियोंके द्वारा जो नाना प्रकारका ज्ञान होता है उसमें विविध वस्तुयें प्रतिभासित होती हैं। तो यहाँ प्रतिभासका ही तो अन्तर है। उस प्रतिभास भेदकी वजहसे रूपादिक नाम पड़ गए। चक्षुइन्द्रियसे जो जाना उसका नाम रूप रखा, रसना इन्द्रियसे जाना उसका नाम रस रखा, कर्णेन्द्रियसे जाना उसका नाम शब्द रखा, स्पर्शन इन्द्रियसे जाना उसका नाम रखा, चिकना आदिक स्पर्श रखा घ्राण इन्द्रियसे जाना उसका नाम सुगंध दुर्गंध रखा। तो भिन्न-भिन्न इन्द्रियसे और मनसे ज्ञान हो रहे हैं उस भेदकी वजहसे ये नाना प्रकारके पदार्थ कहलाने लगे। जैसे कि चित्राद्वैतवादियोंने भी एक ही ज्ञानमें प्रतिभास भेदकी वजहसे ग्राह्यसम्वेदन ग्राहकसम्वेदन इस तरह नाना सम्वेदन माने हैं इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवाद में भी चक्षुरादिज्ञान प्रतिभासभेदकी वजहसे नाना रूप मान लिये जावें तत्वतः भेद न माना जावे। यों चित्रज्ञान मानने वालेके आक्षेप समाधानकी तरह कि जो कुछ प्रतिभास भेद हो रहा है किसी कारणसे उसके होनेपर भी ज्ञाताको यह भ्रम हो जाता है क्योंकि परमार्थसे एक ब्रह्म अद्वैत ही तत्व है यों सत्ताद्वैतकी बात ठीक सही बनती है। भावैकान्तको अद्वैतमें ढालने वाले दार्शनिक स्वपक्ष सिद्धिके लिये कह रहे हैं कि क्षणिकवादियोंने जो विशेषवाद माना है, भेद कथन किया है वह निराकृत हो जाता है।

चित्राद्वैतवादियों द्वारा सत्ताद्वैतमें दिये गए प्रतिभासभेदासिद्धिके आक्षेपपर सत्ताद्वैतवादियोंका तुलनात्मक समाधान—अब यहाँ क्षणिकवादी ब्रह्माद्वैतवादियोंसे कहते हैं कि आप लोग जो चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा होने वाले ज्ञानमें प्रतिभासभेद भी तो अभेद एकान्तमें असिद्ध है। जहाँ केवल एक सत्व ही तत्व माना है ऐसा सर्वथा अभेदवादमें प्रतिभासभेदकी कथा कहाँ लगेगी। इसके उत्तरमें ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यदि इस तरह चक्षुरादिक ज्ञानप्रतिभासभेद हमारे पक्षमें असिद्ध बताते हो तो इसी तरह ग्राह्य सम्वेदन, ग्राहक सम्वेदन ऐसे जो प्रतिभासभेद भेदवादी मान रहे हैं, एक ज्ञानतत्व मानने वाले योगाचार क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तमें जो एक ही ज्ञानक्षण मानते हैं तो उस एक ज्ञानात्मामें वह प्रतिभासभेद भी कैसे सिद्ध हो सकेगा? वहाँ भी प्रतिभासभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि कहो कि हम क्षणिकवादी उस ग्राह्याकार सम्वेदन और ग्राहकाकार सम्वेदनके प्रतिभास भेदको, कल्पनासे सिद्ध मान लेंगे तो एक ज्ञानमें जो यह प्रतिभास होता है कि यह ज्ञान जो कुछ जाना जा रहा है, इसमें बाह्य पदार्थोंका आकार आया है। सो आए पदार्थोंका जो प्रतिभास हुआ है वह तो है ग्राह्याकार और वह ज्ञान भी स्वयं ज्ञानरूप है, केवल ज्ञानस्वरूपको लिए हुए है वह हुआ ग्राहकाकार सम्वेदन। तो ऐसा

जो प्रतिभासभेद है, वह काल्पनिक है। वस्तुतः तो वह ज्ञान क्षणमात्र है। यदि ऐसा कहो तो ब्रह्माद्वैतवादमें भी इस ही प्रकारका समाधान हो जायगा। क्योंकि जिस तरह क्षणिकवादी प्रतिभासभेदको कल्पनासे ही हो रहा है अतएव आक्षेपसे बच नहीं सकते। यों ब्रह्माद्वैतवादी विशेषवादियोंके प्रति कह रहे हैं कि इस प्रकार सत्ताद्वैत की बात नहीं मान लेना चाहिए।

इतरेतराभावप्रत्ययसे ही भावस्वभावभेदकी साधनाके विपक्षमें ब्रह्मवादियो द्वारा यौगोंके प्रति कथन — इस ही प्रसगसे सम्बन्धित ब्रह्माद्वैतवादी नैयायिकोंकी एक आशंकाका निराकरण करते हुये कह रहे हैं कि जो भी लोग इतरेतराभावके ज्ञानसे भाव अर्थात् वस्तुमें स्वभावभेदकी सिद्धि करते हैं उनके सिद्धान्तमें इतरेतराभावका विकल्प भी क्यों न अयथार्थ हो जायगा वर्णादिक विकल्पोंकी तरह। जैसे कि वर्ण, रस आदिकका ज्ञान जो कि कल्पनासे उपाधिके वशसे भिन्न-भिन्न प्रकारका जो हो रहा है वह पारमार्थिक नहीं, काल्पनिक है यह कहा जा रहा इसी प्रकार जिस इतरेतराभाव प्रत्ययके द्वारा ये नैयायिक वस्तुमें स्वभाव भेदकी साधना करने चले हैं भावसाधनाके लिए बताया गया वह इतरेतराभावज्ञान भी अयथार्थ क्यों न होगा? वह भी मात्र कल्पनासे ही माना जायगा। इस प्रकरणमें मूल बात यह कही जा रही है कि पदार्थका केवल भाव एकान्त ही माना जाय। अभावका निराकरण किया जाय तो आपत्तियाँ अनेक हैं। उसका ही समाधान होते होते अब यहा तक नौबत आयी कि इस तरह अनेकान्त माननेपर सांख्यसिद्धान्तमे प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व भी नहीं ठहरते हैं, किन्तु सत्त्वकी अविशेषता होनेसे ये दोनो भी एकात्मक बन जायेंगे। और, यों सत्ताद्वैतका प्रसग आ जायगा। इस प्रकरणको सुनकर सत्ताद्वैतवादी अवसर पाकर अपने सिद्धान्तका समर्थन कर रहे हैं, और उस समर्थनके प्रसगमें, इतरेतराभावके ज्ञान द्वारा जो वस्तुमे स्वभावभेद माननेवाले हैं ऐसे नैयायिकोंके प्रति कह रहे हैं कि इतरेतराभावका ज्ञान भी अयथार्थ है, असिद्ध है। केवल इतरेतराभावकी कल्पना की गई है।

नैयायिको द्वारा वर्णादिज्ञानकी भावभेदसिद्धिमे व्यभिचारिता व इतरेतराभावज्ञानकी अव्यभिचारिता सिद्ध करनेका प्रयास और सत्ताद्वैतवादी द्वारा उसका परिहार — अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि वर्णादिकका ज्ञान तो भावमें, वस्तुमें स्वभावभेदके बिना भी हो जाता है। तब वर्णादिक विकल्पकी बात कह कर जो इतरेतराभावको भी मिथ्या बताया जा रहा सो उदाहरण व्यभिचारी है। वर्णादिकका ज्ञान तो अयथार्थ है क्योंकि इस प्रसगमे जो अनुमान बनाया उसमें वर्णादिकका ज्ञान होना यह तो हुआ साधन और वस्तुमें स्वभावभेद कर देना यह हुआ साध्य। तो वर्णादिकका भिन्न-भिन्न प्रकारसे ज्ञान हो तो रहा है फिर भी अपना स्वभावभेद सिद्ध नहीं कर पाता। अतएव ये वर्णादिक ज्ञान अयथार्थ हैं मिथ्या हैं।

पर इतरेतराभावका जो ज्ञान होता है वह मिथ्या नहीं है। समाधानमें ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे हैं कि नैयायिकोंके द्वारा व किसीके द्वारा भी इस कथनकी व्यवस्था बनाना शक्य नहीं है क्योंकि इतरेतराभावका भाव और अभावमें अभेद है, उसमेंभी इतरेतराभावका ज्ञान चूंकि अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता अतः व्यभिचारी है। उनका अनुमान यह बन रहा था कि इतरेतराभावका ज्ञान चूंकि हो रहा है इसलिए वस्तुमें स्वभावभेद पड़ा हुआ है सो यहाँ खुद ही साधन व्यभिचारी बन रहा है, क्योंकि भाव अभावका तो अभेद है, जैसे इस कमरेमें घड़ा नहीं है यह कहा, तो कमरा तो हुआ शुद्ध भूतल। जैसा तैसा है अपने स्वरूपका और घड़ा नहीं है यो घटका अस्तित्व कहलाया अभाव। तो घड़ेका अभाव और शुद्ध भूतलका होना इसका तो अभेद है, बात एक ही है। तो इतरेतराभावका ज्ञान तो हो गया मगर वहाँ भावभेद न बन सका। तब इतरेतराभावका ज्ञान भी व्यभिचारी हेतु रहा। भाव और अभावमें अभेद है, यह बात यों सिद्ध होती है कि वस्तुके छोड़कर असत्का और कुछ नाम नहीं है। वस्तुका ही नाम अभाव है। अभाव वस्तुको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। क्योंकि प्रमाण पदार्थको ही विषय करता है। तब भावकी ही बात रही। भावमें अभाव अभेदरूपसे रह रहा है। कोई वस्तुमें दो तत्त्व नहीं हुए और न भेद हुआ।

नैयायिकोंके द्वारा अभावके प्रत्यक्षविषयत्वकी सिद्धिका प्रयास और सत्ताद्वैतवादी द्वारा उसका परिहार— नैयायिक यहाँ अपना यह मन्तव्य रख रहे हैं कि देखिये! प्रत्यक्ष तो अभावका विषय करने वाला होता ही है, क्योंकि अभावका इन्द्रियके साथ संयुक्त विशेषण सम्बन्ध है याने इन्द्रियके द्वारा तो इन्द्रियका सम्बन्ध बना पृथ्वीका, तो इन्द्रियसे सीधा संयोग हुआ पृथ्वीका और पृथ्वीपर घड़ा नहीं है, यह उस पृथ्वीका विशेषण बना। तो यों संयुक्त विशेषण सम्बन्ध हो गया इन्द्रियसे। इन्द्रियसे संयोग हुआ पृथ्वीका, पृथ्वीका विशेषण बन रहा है, घड़ा नहीं है तो यों इन्द्रियके साथ अभावका संयुक्त विशेषण सम्बन्ध बन गया और ऐसा ज्ञान होता भी है कि उस घटके अभावसे विशिष्ट पृथ्वीको देख रहा हूं ग्रहण कर रहा हूं। तो भूतलका विशेषण बन गया ना घटका अभाव तो ऐसे घटके अभावसे विशिष्ट भूतलका जब ज्ञान हो तो इन्द्रियसे अभावका सम्बन्ध बन गया। यों प्रत्यक्षमें भी अभावको विषय कर ही लिया। इस शंकाके उत्तरमें ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो एक पृथ्वी आदिकके सत्त्वको विषय करता है। प्रत्यक्षने अभावको विषय नहीं किया। प्रमाण तो सभी विधायक होते हैं, विधि सत्ता सद्भावको सिद्ध करने वाले होते हैं। प्रतिषेधको बताने वाले नहीं हैं। क्योंकि यदि प्रत्यक्षके द्वारा अभावका दर्शन करना अंगीकार कर लिया जाय तो फिर कभी भी अभावके अवसानका कारण ही न बनेगा। फिर तो भावके दर्शन होनेका कभी मौका ही न मिलेगा। अब तो प्रत्यक्षसे मान लिया है अभावका दर्शन सो प्रत्यक्ष अभावका दर्शन करता है तो अभाव तो है अनन्त एक वस्तुमें, उस वस्तुसे भिन्न अनन्त वस्तुओंका

अभाव पड़ा हुआ है । अब वस्तुमे अभावका दर्शन जब होने लगा तो अनन्त अभावके जाननेमे ही जानने वालेके ज्ञानकी शक्ति क्षीण हो जायगी, कितना अभाव जानेगा ? तो अभाव हो अभावके जाननेमें ही सारा उलझा रहेगा और वहाँ ही शक्ति समाप्त हो जायगी। फिर कभी वस्तुके सत्त्वका ज्ञान ही न हो सकेगा अतएव मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष अभावका ग्रहण नही करता । वह तो केवल भावका ही ग्रहण करता है । यो सर्व विश्व केवल सत्त्व मात्र है । यो एक ब्रह्म अद्वैत ही तत्त्व है यो सत्ताद्वैतवादमे कोई बाधा नही आती ।

प्रत्यक्षज्ञानसे अभावप्रतिपत्तिके विषयमे योग व ब्रह्मवादियोकी वार्ता

अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्षको अभावका ग्राहक माननेपर जो यह आक्षेप दिया है कि यदि प्रत्यक्ष अभावका दर्शन करने लगे तो अभावके जाननेका कभी अवसान नही हो सकता । और तब भावके दर्शन करनेका अवसर ही न आयगा अर्थात् प्रत्यक्ष अस्तित्वका दर्शन कर ही न सकेगा सो यह आक्षेप देना युक्त नही है क्योकि किसी विषयके जाननहार पुरुषके द्वारा स्मरणमे आने वाले घटके अभावका ज्ञान हो गया तो घटके अभावकी प्रतिपत्ति होनेपर इससे अन्य-अन्य प्रकारके जो अनन्त अभाव है उनका स्मरण नही हो रहा तब प्रत्यक्ष सत्ताका दर्शन कर सके ऐसा अवसर आ जायगा । और यो प्रत्यक्ष सत्ताका भी ग्रहण करने वाला बन जायगा । इस प्रकारके उत्तरमें कहते हैं ब्रह्माद्वैतवादी कि देखिये प्रत्यक्ष जो है वह स्मरणकी अपेक्षा नही करता । यदि प्रत्यक्ष स्मरणकी अपेक्षा करने लगे तो वह अपूर्व अर्थका साक्षात्कारी न रहा । अपूर्व कहते हैं उसे जो किसी प्रमाणके द्वारा जाना न गया हो अज्ञात हो ऐसे अपूर्व अर्थका साक्षात्कार करे कोई ज्ञान तो उसे प्रमाण कहते हैं । अब प्रत्यक्ष ने तो स्मृतिमे आने हुए पदार्थका ही ज्ञान किया । अत. वह प्रत्यक्ष अपूर्व अर्थका साक्षात्कारी न बन सका । अतः प्रत्यक्ष केवल अभावको ही देखे ऐसा माननेमे विरोध आता है ।

प्रत्यक्षके प्रकारोंको कहते हुए योगो द्वारा प्रत्यक्षसे अभावग्रहणका प्रतिपादन—अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष होते हैं दो प्रकारके । भाव प्रत्यक्ष और अभाव प्रत्यक्ष । और वे दोनो होते है दो दो प्रकारके । एक स्मरण निरपेक्ष दूसरा स्मरणापेक्ष । तो इनमेंसे स्मरण निरपेक्ष । भावप्रत्यक्ष तो योगियोके होता है । जैसे योगियोका प्रत्यक्ष स्मरणकी अपेक्षा नही करता और सीधा ही वस्तुके सद्भावको जान लेता है और कोई होता है स्मरणापेक्ष भावप्रत्यक्ष । जैसे कि यहाँ अल्पज्ञ पुरुषोने सुख आदिकके साधनभूत किसी पदार्थको देखा और उस पदार्थको देखा और उस पदार्थको देखकर पहिले अनुभव किए गए सुखका साधन है ऐसा ज्ञान किया तो देखिये—अब यह प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्व स्मरणकी अपेक्षा करने वाला हो गया ना, सो जैसे किसीको मिठाई खानेकी प्रकृति है । अब वह वर्तमानमे मीठे

भोजनको देखकर पहिले स्मरण करता है, कि इसमें इस इस प्रकारका आनन्द पाया था। यह सुखका साधन है और फिर उस सुखके साधनका स्मरण करके अब प्रत्यक्ष में यह ज्ञान हो रहा है कि यह मिठाई सुखका साधन है तो देखिये अब यह प्रत्यक्ष ज्ञान स्मरणकी अपेक्षा करने वाला हो गया था। तो भाव प्रत्यक्ष दो प्रकारके हुए। इसी प्रकार अभाव प्रत्यक्ष भी दो प्रकारके हैं। किन्हीं पदार्थोंमें स्मरणकी अपेक्षा न रखकर अभाव प्रत्यक्ष हुआ करता है। जैसे कि योगी पुरुषोंका अभाव प्रत्यक्ष। किन्तु जो अल्पज्ञ पुरुष हैं उनको किसी पदार्थमें जो अभाव प्रत्यक्ष हुआ वह प्रतिषेध्य की स्मृतिकी अपेक्षा रखकर हुआ। शुद्ध भूतल निरखकर जो घटके अभावका प्रत्यक्ष बना तो अभाव प्रत्यक्षमें प्रतिषेध्य घटके स्मरणकी अपेक्षा तो रहती है। ऐसा सब को अनुभव भी होता है। इस तरह कहीं भाव प्रत्यक्ष होता है कहीं अभाव प्रत्यक्ष होता है। और अल्पज्ञजनोंके वह स्मरणकी अपेक्षा रखता हुआ हो जाता है। अतः यह कहना कि प्रत्यक्ष स्मरणकी अपेक्षा नहीं रखता, यह बात युक्त नहीं बनती।

ब्रह्मवादियों द्वारा योगाभिमत अभाव ग्राहकत्वके मन्तव्यका निराकरण—अब नैयायिकोंकी उक्त आशंकाके समाधानमें कहते हैं ब्रह्माद्वैतवादी कि देखिये यदि विकल्पज्ञान कोई स्मरणकी अपेक्षा रख रहा है तो वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। जैसे कि अनुमान आदिक ज्ञान वे स्मरणकी अपेक्षा रखते हैं तो उन्हें प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष तो यदि समस्त कल्पनाओंका विषयभूत विषय करना है ऐसा जानकर यदि उसे स्मृतिकी अपेक्षा करने वाला मान लिया जाय तो अनवस्था दोष आयगा। वह अनवस्था दोष इस तरह आयगा कि देखो—स्मरणज्ञान जितना होता है वह पहिले किए गए अनुभवकी अपेक्षा किया करता है। और अब नैयायिकोंने यही मान लिया यह कि जितने अनुभव वाले प्रत्यक्ष होते हैं वे स्मृतिकी अपेक्षा किया करते हैं। तो अब वह पूर्व अनुभव भी किसी अन्य स्मृतिकी अपेक्षा करने वाला बनेगा। फिर वह स्मृति पूर्व अनुभवकी अपेक्षा करेगा। वह पूर्व अनुभव अन्य स्मृतिकी अपेक्षा करेगा। तो यों अनवस्था दोष आता है। यदि यह कहे कि बहुत दूर जाकर कोई अनुभव ऐसा होता है अर्थात् कोई प्रत्यक्ष अन्तिम ऐसा होता है कि स्मृतिकी अपेक्षा नहीं करता। तो भाई जब कोई अनुभव स्मृति निरपेक्ष भी मान लिया गया तो प्रकृत अनुभव भी वर्तमानमें जो कुछ भी जाना जा रहा घट आदिकके अभावका ग्रहण करने वाला यह प्रत्यक्ष भी, स्मृतिकी अपेक्षा नहीं रखता ऐसा मान लो। इसमें ही स्मरणापेक्षपनेकी कल्पना क्यों की जा रही है? वह कल्पना व्यर्थ होती है।

सद्युक्त प्रत्यक्ष द्वारा तुच्छ अभावका ग्रहण किये जानेके सम्बन्धमें यौग व ब्रह्मवादियोंका विवाद— अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि पूर्व अनुभव किए गए पदार्थको विषय करने वाली स्मृति किसी भी प्रकार अपूर्व अर्थमें जैसे कि प्रकृतमें अभावकी बात चल रही उस अभाव अर्थमें ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये समर्थ हो सकी।

अर्थात् स्मृति अभावका ज्ञान करानेमें समर्थ है। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात संगत नहीं बैठती कारण कि यदि स्मृति उस अपूर्व अर्थमें कुछ ज्ञान करानेका सामर्थ्य न रख सकी तो प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रख सकी है। कभी कभी तो स्मृति जिसकी स्मृति हुई है उस ही पदार्थंमें न पदार्थंका ज्ञान करानेमें सामर्थ्य रखती है। वह तो हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान। और कभी-कभी पूर्व प्रत्यक्ष किए हुए पदार्थका स्मरण होकर जो वर्तमानमें अन्य अर्थका सदृशरूपसे कुछ ज्ञान कराता है तो वह होता है सादृश्य प्रत्यभिज्ञान क्योंकि उस स्मृतिने यहाँ सजातीय अर्थका स्मरण कराया। तो स्मृति किसी प्रत्यक्षभूत पदार्थका ज्ञान करानेमें सहयोगी तो है लेकिन उस सहयोगमें प्रत्यभिज्ञान नामका ज्ञान बनेगा, प्रत्यक्ष ज्ञान न बनेगा देखिये! पूर्व अनुभूत किए हुए घटमें तो स्मरण बने और वह उससे विजातीय पदार्थान्तरमें याने घट रहित भूतलमें उसका अभाव जो विजातीय है उसका ज्ञान उत्पन्न कराये तो ऐसी अटपटी असङ्गती बातको कौन बुद्धिमान मान सकता है? अगर यदि प्रत्यक्षको स्मरणापेक्ष मान लिया जायगा तो वह प्रत्यक्ष अपूर्व अर्थका साक्षात्कारी न बन सकेगा, इस कारण यह मानना चाहिए कि समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान स्मृति निरपेक्ष ही होते हैं। और, वह प्रत्यक्षज्ञान यदि अभावको विषय करने वाला मान लिया जायगा तो अनन्तों अभावके ज्ञानमें उलझे रहना होगा, फिर ऐसी स्थितिमें किसी पदार्थके सत्त्वका दर्शन होनेका अवसर ही न आ सकेगा क्योंकि अभावके ही ज्ञानमें उलझे रहनेसे अभावके दर्शनका ही पूरा काम न बनेगा।

यौगाभिमत भावदिदृक्षाकी कारणताके मन्तव्यकी मीमांसा—यहाँ नैयायिक कहते हैं कि जो जानने वाला पुरुष है उसको पदार्थके भावके जाननेकी इच्छा हुई है तो वह सत्त्वके दर्शनकी इच्छा पदार्थमें सत्त्वके प्रत्यक्षका कारण बन जायगा। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात भी युक्तिसगत नहीं जचती। कारण कि प्रत्यक्षज्ञान सत्त्वकी इच्छाकी अपेक्षा नहीं रखता। देखिये! जैसे—घटके दर्शनकी इच्छा भी हो रही है लेकिन घट न हो तो घट रहित प्रदेशमें घटका दर्शन नहीं हो रहा और कभी घटके दर्शनकी इच्छा नहीं हो रही फिर भी सामने यदि घट है तो उसके दर्शन हो जाते हैं। इस कारण यह नहीं माना जा सकता कि पुरुषकी जब भावकी दिदृक्षा हुई तो वह सत्ताके दर्शनका कारण है याने पदार्थको देखनेकी इच्छासे पदार्थका सत्त्व देख लिया जाना नहीं बनता। यो प्रत्यक्ष ज्ञान अभावको नहीं जान सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो सत्तामात्रका ही कथन करने वाला है। प्रत्यक्षकी प्रमाणता तो वस्तुके सत्त्वमात्रसे ही बनती है। यो प्रत्यक्ष जो कुछ जानेगा वह केवल सत्स्वरूपको जानेगा। प्रत्यक्षका विषय अभाव नहीं है। तब वह पदार्थमें रहनेवाले विशेषोंको भेदोंको किस तरह जान सकेगा और जब भेदको जान न सकेगा तो यह सिद्ध होगया कि सारा विश्व सत्तामात्र है उसमें कोई विशेष या अभाव नहीं है। तब नैयायिकोका यह कहना कि इतरेतराभावके दर्शन होनेसे वस्तुमें विशेषोंका भेदोंका ज्ञान होता है, यह कथन अयुक्त है।

। अस्तु केवल ब्रह्ममात्र है और सत्त द्वैत हो सत्व होनेसे न प्रकृति पुरुषका भेद है और न घट पट आदिक पदार्थोंका भेद है। यों अन्यमें केवल ब्रह्माद्वैतमात्र है।

निःस्वभाव अभावकी अनुमानसे भी प्रतिपत्तिकी असम्भवता यहाँ नैयायिक कहते हैं कि यदि अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं होता तो मत हो, पर अनुमान से तो अभावका ज्ञान बन जायगा। इस शंकापर ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि जब निःस्वभाव अभाव है, तुच्छाभावरूप अभाव है, भावसे सम्बन्ध ही नहीं है तो वह समस्त शक्तियोंसे रहित कहलाया। और जो समस्त शक्तियोंसे रहित निःस्वभाव अभाव है उसकी सिद्धि करने वाला न तो स्वभाव हेतु हो सकता है, और न कार्यहेतु हो सकता है। तो स्वभावलिंग और कारणलिंगकी असम्भवता होनेसे फिर अनुमानसे अभावकी प्रमिति कैसे हो सकती है? जो स्वभावरहित है, तुच्छाभाव है असत् है उसका तो कोई स्वभाव ही नहीं हो सकता। यदि कोई स्वभाव मान लिया जाय तब तो वह भाव स्वरूप हो गया, फिर अभाव कहाँ रहा? तो इस ही कारण निःस्वभाव अभावको सिद्ध करने वाला कोई स्वभावलिंग हो ही नहीं सकता और इस ही प्रकार कार्यलिंग भी अभावको सिद्ध करने वाला नहीं हो सकता क्योंकि यदि अभाव का साधक कोई कार्यलिंग बनता है तब अभाव भाव स्वभावरूप बन गया। यदि कार्य है लिंग तो उसका साध्य कारण है तो कारण सद्रूप बन जायगा। फिर अभाव कहाँ रहा? यों न तो किसी स्वभावसे और न किसी कार्यरूप हेतुसे अभावकी प्रमिति होती है। अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि अनुपलब्धि तो अभावकी सिद्धि कर देगा अर्थात् अनुपलब्धिरूप हेतु अभाव ज्ञानकी सिद्धि कर देगा। इसके उत्तरमें ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि अनुपलब्धि तो अभावकी प्रमितिकी ही व्यवस्था करेगी क्योंकि अभाव माना गया है तुच्छाभाव और तुच्छाभावका अर्थ है असत्। तो अनुपलब्धि हेतुसे तुच्छाभावकी सिद्धि करनी होगी तो अभावसे अभाव कैसे सिद्ध होगा? अनुपलब्धि तो अनुपलब्धि ही सिद्ध करेगी। तब तुच्छाभावका अभाव भी बन बैठा। अतएव अनुपलब्धिरूप हेतुसे भी निःस्वभाव अभावकी प्रतीति नहीं हो सकती। प्रमितिका अर्थ है प्रमाण, जानकारी। तो अभाव कोई प्रमाण है कोई तत्त्व है इसकी व्यवस्था जैसे प्रत्यक्षसे न हो सकी थी अनुमानसे भी नहीं हो सकती है। नैयायिक कहते हैं कि भावोंकी अनुपलब्धि होनेसे भी अभावकी प्रमिति बन जायगी। भावरूप होकर भी फिर यदि नहीं पाया जाता तो उस अनुपलब्धिसे अभावसे ही तो प्रमाण व्यवस्थित होता है। उत्तरमें ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह कथन भी सही नहीं है क्योंकि तुम्हारे कहे गए हेतुसे अर्थात् भावरूप होनेपर फिर अनुपलब्धि होना इस हेतुसे तो भावान्तर स्वभावरूप ही अभावका प्रतिभास बना। जब यह हेतु कहा गया कि कोई पदार्थ भावरूप है और फिर उसकी अनुपलब्धि है तो वह अभाव है। तो इस कथनसे तो तुच्छाभाव नहीं पाया। किन्तु जो शुद्ध भूतल भावरूप बना जिसकी सत्ता ग्रहण की गई। तो वह भावान्तर स्वभावरूप ही तो अभाव सिद्ध हुआ। इस तरह अभाव

की सिद्धि न प्रत्यक्षसे हो सके न अनुमानसे हो सकेगी। जब किसी प्रमाणसे अभाव की सिद्धि न हुई तो कभी कोई विरोधी चिन्ह उपस्थित करके अर्थात् अभावका विरोधी हो भव और भवका निज उपस्थित करके निज स्वभाव अभाव की सिद्धि करना चाहे तो वह अशक्य है। विरोधी चिन्हमें भी स्वभावरहित तुच्छा-भावरूप अभावकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती।

निःस्वभाव अभावकी प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिसे प्रतिपत्तिके मन्तव्यकी मीमांसा—यहाँ मीमांसक सिद्धान्तके अनुयायी कोई शङ्काकार कहते हैं कि सत्ताका अनुपलम्भ करने वाले प्रमाण पाँच हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान और आगम ये ५ प्रमाण जहाँ घटित न होते हों सत्ताको सिद्ध करने वाले ५ प्रमाण जहाँ जहाँ निवृत्त हो जाते हैं वहाँ तो अभावक प्रमिति बन जायगी। उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि प्रमिति अर्थात् अभावका जो प्रमाण किया गया वह अथवा सत्ताका ग्रहण करने वाले पाँचो प्रमाणोंकी निवृत्ति भी तो निज स्वभाव है। तो निज स्वभाव है, वह भी तो तुच्छाभावरूप है यों पाँचो प्रमाणोंका अभाव वह भी स्वभाव रहित हुआ। तब अभावमें प्रमितिको उत्पन्न करनेकी, प्रमाणपञ्चक निवृत्ति अभावको प्रमाणित करनेकी सामर्थ्य नहीं है। प्रमाण निवृत्ति कुछ चीज ही नहीं है, तुच्छाभाव है। अतएव सत्ताको ग्रहण करने वाले पाँच प्रमाणोंकी निवृत्तिसे किसी भी अभावकी प्रमिति उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि सत्ताका उपलम्भ करने वाले ५ प्रमाणोंके रूपसे जो परिणमा नहीं है ऐसे अभावमें कुछ जानकारी बने इसका विरोध है क्योंकि अभाव होता है दो प्रकारका प्रसज्यरूप और पर्युदासरूप, प्रसज्य का अर्थ है सर्वथा उसका निषेध करना अर्थात् जो बात प्रसङ्गमें आती हो उसका प्रतिषेध कर देना, किन्तु पर्युदासरूपका अर्थ है कि यह नहीं किन्तु इसके एवजमें अन्य कुछ। जैसे किसीने कहा कि अब्राह्मणको लावो तो इसका अर्थ यह भी हो सकता कि ब्राह्मणको मत लावो अन्यके लानेका कोई संकेत नहीं है, और इसका अर्थ यह भी हो सकता कि ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य किसीको लावो, तो ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य किसीको लावो यह अर्थ तो पर्युदास रूप है और लावो ही मत, सर्वथा निषेध करना यह प्रसज्य प्रतिषेधरूप है। तो अब अभावमें यह बतायें कि प्रसज्य प्रतिषेधरूप अभाव की बात करते हो या पर्युदासरूप अभावकी बात करते हो। यदि प्रसज्य प्रतिषेधरूप अभावकी बात कहते हो तो वहाँ कुछ है ही नहीं, ऐसे अपरिणामको किस प्रमाणसे ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें परिणाम ही देखा जाता है। जो विधिरूप है, व्यक्त रूप है वही दिखनेमें आ सकता है। जैसे मृत्पिण्डका अभाव घटका उत्पाद। यदि कोई कहे कि हमने देख लिया मृत्पिण्डका अभाव है, तो देखा क्या? घटकी शकल देखी क्योंकि मृत्पिण्डके अभावका घटके उत्पादरूपसे परिणाम जानेका ही स्वभाव है, या उत्तरके पर्यायके उत्पादका ही नाम पूर्व पर्यायका व्यय है। तो अभाव भावस्वरूप कहलाता है। अभावकी कुछ मुद्रा ही नजरमें आयेगी। अभाव तुच्छाभावकी

उपस्थित दृष्टिमें नहीं आ सकता है। तो तुच्छ प्रतिषेधरूप अभावको प्रमाणताकी विरोध है। यदि कहो कि हम पर्युदासरूप अभाव कहेंगे। जैसे घटका अभाव बताने तो घटसे अन्य है भूतल। भूतलोम भूतलका विज्ञान हुआ इस हेतु मानते हैं घटकी निवृत्ति। तो यों अन्य पदार्थोंके सद्भावरूप अभावको यदि मानते हो तब भी उस विज्ञानसे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके विज्ञानसे निःस्वभाव अभावकी प्रसिद्धि न हो सकी। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि अभाव सद्भावरूप हुआ करता है। क्योंकि यहाँ अब अन्य वस्तुके सद्भावरूप ही अभाव सिद्ध हुआ। अभावको जाननेका अन्य कोई प्रकार नहीं है। इस कारण निःस्वभाव अभावके किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता है।

अभावके निराकरणमात्रसे सत्ताद्वैतवादकी सिद्धिकी असंगतता — उक्त प्रकार ब्रह्माद्वैतवादियोंने अभावका प्रतिषेध किया, क्योंकि उनका सिद्धान्त है एक सत्ताद्वैत। किन्तु मात्र अभावके निराकरणका प्रयत्न कर देनेसे कि निःस्वभाव अभावका न तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञान होता है और न अनुमान प्रमाणसे ज्ञान होता है, कदाचित् इस बातको मान लिया जाय लेकिन इतने मात्र कथनसे सत्ताद्वैतकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् एक अस्तित्व मात्र ही हो, कुछ केवल सत् ही हो सब एक मात्र इस बातकी सिद्धि नहीं होती। प्रमाणसे तो वस्तुके नानापनका ही परिज्ञान हो रहा है। अतएव ऐसा सर्वैकान्त जिसमें किसी भी प्रकारसे अभावको स्वीकार न किया जाय। केवल सन्मात्र ब्रह्ममात्र ऐसे सत्ताद्वैतकी मान्यता युक्त नहीं होती है।

बुद्ध्यादिकार्यनानात्व मात्रसे वस्तुके नानात्वका सत्ताद्वैतवादियोंका कथन — अब सत्ताद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तुओंमें जो नानापनका परिज्ञान हो रहा है सो वस्तु नाना हैं इस कारणसे नहीं हो रहा, किन्तु बुद्धि आदिक कार्य नाना पाये जा रहे हैं इस कारणसे वस्तुमें नानापनका परिज्ञान होता है अन्यथा नहीं। यदि नाना बुद्धि आदिकके हुए बिना वस्तुमें नानापन सिद्ध हो जाय तब तो लोकमें एक पदार्थ कुछ ठहरेगा ही नहीं। जहाँ बुद्धि आदिक कार्य नाना न हो रहे हों और फिर वस्तु मान ली जाय नाना तब तो एक कुछ न रहेगा। इस कारण यह समर्थन करना सदय है कि वस्तुके नानापनका ज्ञान होनेसे सत्ताद्वैतकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि नाना कारणपना तो एकत्व होनेपर भी देखा जाता है। कहीं स्वभाव एक है, अभेद है तो भी नाना क्रिया वहाँ देखी गई है। जैसे कोई एक नर्तकी का नृत्य हो रहा है, और उसपर एक साथ मिलकर दर्शक भी दृष्टि लगाये हैं, उन सब दर्शक जनोंके नाना भाव हो रहे हैं, नाना क्रियायें हो रही हैं। सुखादिक भी सबके नाना हो रहे हैं। तो देखो! नर्तकीका अभिप्राय तो एक है। वहाँ तो स्वभावका अभेद है और फिर भी नाना कर्म हो रहे। तो स्वभावके अभेद होनेपर भी नाना क्रियायें देखी जाती हैं। इस कारण यह कहना कि बुद्धि आदिकरूप कार्य नाना हों, तो परमार्थतः वस्तु नाना हो जायें, यह बात युक्त नहीं बैठती है।

शक्ताकार द्वारा कार्यनानात्व होनेपर भी वस्तुनानात्व न माननेके मन्तव्यकी मीमांसाकी मीमांसा—ब्रह्माद्वैतवादी उक्त कथनके प्रसंगमें कह जा रहे हैं कि जो ब्रह्माद्वैतवादीने यह कहा है कि विविध कर्म क्रिया आदिक तो स्वभावके अभेद होनेपर भी हुआ करते हैं, इस कारण बुद्धि आदिक नाना कार्य होना, नाना कर्म होना, ये नानापनको सिद्ध नही करते। सो इस सम्बन्धमे सुनो—जो दृष्टान्त दिया है नर्तकीका कि नर्तकीको देखकर अनेक लोग अनेक प्रकारके अपने सुख ज्ञानादिक भावों का करते हैं तो वह नर्तकी एक है मगर उसमें स्वभावभेद कितने हैं, सो बात यह है कि नर्तकी आदिकको क्रियावोंमें स्वभावका भेद है ही। स्वभावका अभेद असिद्ध है क्योंकि शक्तिका नानापन उसमें मौजूद है, इस कारण कार्यके नानापनसे जो साधन बनाया गया है शक्तिका नानापन सिद्ध करनेके लिए वह व्यभिचारी नही हो सकता और यह बात अयुक्तिक है कि जब कार्य नाना हो रहे हैं तो स्वभावमें भी नानापन है उतनी ही शक्तियाँ है जितने कि कार्य होते हैं। इसपर सत्ताद्वैती कहते हैं कि नर्तकी आदिक किसी एक पदार्थमें जो शक्तिका नानापन प्रतीत होता है वह कार्यविशेषसे ही तो कह रहे हो कि चूँकि उसके निमित्तसे दिखता उससे कार्य नाना प्रकारके होते हैं, इस कारण उस पदार्थमे शक्ति नाना है, तो आपका यह कार्य विशेष नामक हेतु जब यह व्यभिचारी बन जाता है तब फिर उस कार्य नानापनसे शक्तिके भी नानापनकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? समाधान कर्ता कहते हैं कि जो नर्तकीका काल है, परिणति है उसमे भी तो शक्ति नाना मानी गई है। और, जब शक्ति उसमे नाना है और उसी को सिद्ध करनेके लिए बुद्धि आदिक कार्य विशेष हेतु दिया गया है कि चूँकि दर्शक जनोंकी नाना प्रकारकी बुद्धि अथवा नामकरण या सुखादिक कार्य होते हैं, अतः शक्ति नाना है यह सिद्ध होता है फिर वह प्रसव विशेष नामका हेतु अर्थात् नाना कार्योंको उत्पन्न करना है, इस प्रकारका जो हेतु है वह व्यभिचारी कैसे होगा ? प्रसव विशेष नामका हेतु निर्दोष है और वह शक्तिकी विविधताको सिद्ध करता है इसपर सत्ताद्वैतवादी कहते हैं कि यदि बुद्धि आदिक कार्य विशेषके साधनसे शक्तिमें नानापन मानोगे तो इसमे अनवस्था दोष आता है फिर तो नर्तकी आदिक किसी क्षणमे याने किसी समयमें, परिणमनमें एक शक्तिमें अर्थात् नाना शक्तियोंमेसे किसी भी बुद्धि आदिक कार्य नाना हो रहे हैं ऐसा दिखाकर शक्तिके नानापनका प्रसंग आ गया। मायने उस एक शक्तिमे नाना शक्तियोंकी सिद्धि होती है। फिर जो नाना शक्तियोंकी सिद्धि होगी उसमे भी प्रत्येक शक्तिमें नाना शक्तियोंकी सिद्धि होगी, इस तरह उन शक्तियोंका ही परिचय न पाया जा सकेगा। तो प्रकृतमें शक्ति नाना है, इसकी सिद्धिका अवसर ही कहाँसे आयगा और इस तरह जब कि अनवस्था दोष आता है तब बहुत दूर जाकर भी अर्थात् अनवस्थाकी पद्धतिमें बहुत दूर तक अनवस्थाका आक्रमण सहकर फिर कहीं ऐसा अगर मान लेते हैं कि बुद्धि आदिक कार्य विशेष होनेपर भी अब शक्ति नाना नही है। तो जब अनवस्थासे तंग होकर किसी जगह यह मानना पड़ा कि बुद्धि आदिक कार्य विशेष

होनेपर भी शक्तियाँ नाना नहीं हैं, तब भागका हेतु कैसे व्यभिचारी न होगा ? और, फिर वह स्वभावका अभेद कैसे सिद्ध न होगा ? फिर तो वस्तुमें नानाधर्मोंका नाम न बन सकेगा।

सत्ताद्वैतवादियों द्वारा केवल अविद्यासे नानामिथ्याव्यवहारके उपनयनका कथन—यहाँ कोई शंका करते हैं ब्रह्माद्वैतवादियोंसे कि अगर वस्तुमें विचित्रता नहीं मानते, उसमें नाना शक्ति, नाना कार्य यदि नहीं मानते तब फिर देशकी अवस्थाका भेद और कालकी अवस्थाका भेद यह सब कैसे घटित होगा ? इसपर सत्ताद्वैतवादी कहते हैं कि बात यह है कि स्वयं असत् होकर भी केवल यह अविद्या अपनेमें और दूसरेमें विद्यमान पदार्थोंको जहाँ कि स्वभावका भेद देशकालका भेद और अवस्थाका भेद नजर आता है, इस भेदको मिथ्या व्यवहारकी पदवीमें ले जाता है अर्थात् अविद्याके कारण ये सब देश काल अवस्थाके भेद बना करते हैं। और, फिर जिस कारणसे कि क्षणिकवादियोंके जो भिन्न संतानका मतव्य है और स्कंधोंकी मान्यता है वे सब विकल्पित हो जायेंगे कि इसमें सत्य कौन है ? क्षणिकवादियोंने स्कंध ५ माने हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप तो, इन स्कंधोंके और भिन्न संतति वालेके सम्बन्धमें विकल्प बन जाता है कि नैयायिक द्वारा माने गए नित्य पदार्थ एक संतति वाले वे भी मिथ्या हैं और वहाँ क्षणभंगवादमें भी मिथ्या है। इस तरह चूँकि विकल्प नाना हैं तब सत्ताद्वैतवादी इन सब विशेषोंका अपह्नव करते हैं। वस्तुमें कोई भेद अथवा धर्म नहीं है, न वस्तु एक सत्तामात्र ही है। क्षणिकवादियोंके ही द्वारा कहा गया विज्ञान वेदनादिक स्कंध और नैयायिकोंके द्वारा कहे गये द्रव्य, गुण, कर्मादिक पदार्थ वे सब निःस्वभाव अभावकी तरह वस्तुतः सिद्ध नहीं होते क्षणिकपना अक्षणिकपना और कुछ अंश नित्य कुछ अंश अनित्य इस प्रकारसे निरपेक्ष नित्यानित्यपना अथवा कोई स्वभाव ही न मानना। न वस्तुमें नित्यपना है न अनित्यपना है, न उभयपना है, अर्थात् शून्य है। इस तरह शून्यादिक विशेषकी सिद्धि करनेमें भी साधनमें व्यभिचार आता है। अर्थात् ये भी सिद्ध नहीं होते तब एक विशुद्ध सत्त्व मात्र ही सिद्ध होता है। इस प्रकार सत्ताद्वैतवादियोंने एक सन्मात्र तत्त्वको सिद्ध करना चाहा और वे इस भावैकान्तको चरमसीमा पर ले गये। भावैकान्तवादियोंमें कुछ तो ऐसे सिद्धान्त हैं कि जो अनेक पदार्थ मानकर भी उन पदार्थोंमें एक सत्त्वका एकान्त करते हैं। किसी भी प्रकार उनमें अभाव नहीं मानते, लेकिन सत्ताद्वैतवादी उन भावैकान्तवादियोंमें बढ़ चढ़के यह कह रहे हैं कि पदार्थ भी नाना नहीं है। ऐसा एक सत्त्व ही तत्त्व है अन्य भावोंकी तो चर्चा दूर रहे। इस प्रकार भावैकान्तमें अपनी एक प्रमुखता जाहिर करते हुए सत्ताद्वैतवादी सन्मात्र ब्रह्मकी सिद्धिका प्रयास कर रहे हैं।

सर्वथा अभेदवादमें इष्ट मन्तव्यकी सिद्धिकी अशक्यताके वर्णनमें उक्त शंकाओंका समाधान—अब उक्त शंकाओंके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि सत्ता-

द्वैतवादियोंके द्वारा कहा गया जो परमतका निराकरण है उसको स्वीकार करते हैं अर्थात् अन्य जो वैनाशिक अथवा अभाव एकान्त आदिकके सम्बन्धमे जो कुछ निराकरण किया है वह तो कुछ मानने योग्य है लेकिन केवल सारा विश्व सन्मात्र है, केवल सत्ताका ही अद्वैत है इस सम्बन्धमे आपत्ति है और यह मन्तव्य दूषित है। मुख्य प्रतिभास और वस्तुके विविध कार्य इनमे यदि अभेद मान लिया जाय तो अभेद होनेपर भी किसी एक ब्रह्मके एकत्वको सिद्ध कैसे किया जायगा ? क्योंकि एकत्वके मायने हैं सब कुछ एक मात्र। वहाँ साध्य साधन भी न रहे, साध्य साधनका भी अभेद हो गया, तो अब यह बतलावो कि किसके द्वारा और क्या सिद्ध किया जा रहा है ? न साधन है न साध्य है। न पक्ष है न विपक्ष है। जहाँ सत्ताद्वैतका मत है केवल एक सन्मात्र तो जब पक्ष विपक्ष साध्य साधन ये कोई तत्त्व नही रहते तब फिर अनुमान ही क्या और किस साधनके द्वारा किसकी सिद्धि करनेकी बात। यदि मान लेते हैं साध्य साधन आदिक भेद तो सत्ताका अद्वैत नही रह सकता। तो यहाँ अब साध्य साधन आदिक बहुतसे तत्त्व हो गए। तो यों केवल सत्त्वका अद्वैत माननेपर एकत्व भी सिद्ध नही हो सकता। भला बतलावो कि सत्तामात्र ही है स्वरूप जिसका ऐसा किसी परम ब्रह्मका जो समर्थन करते हैं वे एकत्वको किस तरह सिद्ध करेंगे ? प्रतिभास कार्य है इस हेतुसे सिद्ध करोगे या प्रतिभाससमात्र है इस हेतुसे सिद्ध करोगे या स्वभावहेतुसे सिद्ध करोगे ? अथवा कारणभेदका भाव है अतएव सन्मात्र है ऐसा सिद्ध करोगे ? किसी भी साधनके द्वारा तो सिद्ध करनेका ही प्रयास करोगे, सो जो भी साधन देवे वह साधन तो साध्यसे अभिन्न ही रहेगा। यदि अभिन्न न रहे तो द्वैतका प्रसंग आता है। साधन अलग चीज हुई साध्य अलग वस्तु हुई। तो अब साधन और साध्य यदि भिन्न होते हैं तब तो इष्ट मत अद्वैतकी सिद्धिका कोई उपाय नही रहता। और साधन साध्य आदिक सब मानते हैं तो एक बात न रही। अब तो अनेक बातें हो गईं। फिर अद्वैत न रहा साध्य साधनके अभेद होनेपर प्रतिभासादिक हेतुसे क्या एकत्व निर्णीत हो सकता है ? साधन जहाँ हो वहाँ साध्य होता है। साध्य जहा न हो वहा साधन नही होता। यह जब घटित कर ही लोगे तब तो साधन साध्यका साधक होता, पर यह घटित हो ही नही सकता सत्ताद्वैत एकान्तमें क्योंकि यहाँ पक्ष विपक्ष आदिक कुछ भी नहीं है जिसमें साध्य धर्म बताया जाय उसका तो नाम पक्ष है अब सभी पदार्थ अप्रसिद्ध हैं तो उससे भिन्न कोई साध्यधर्म रहा ही नही तब किस साध्यको सिद्ध करोगे, इस कारण सत्ताद्वैतके एकान्तमें यह कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।

साध्य साधनादिका भेद माने बिना अभेद साधक अनुमानकी असिद्धि

सन्मात्र ब्रह्मवादके आग्रहमे सन्मात्र तत्त्वकी सिद्धिका कोई उपाय ही नही हो सकता। उस सन्मात्र तत्त्वको यदि अनुमानसे सिद्ध करनेका प्रयास करें तो अनुमान बन ही कैसे सकता ? क्योंकि सत्ताद्वैतके आग्रहमें पक्ष, विपक्ष, सपक्ष साध्य साधन इन सबका अभाव है। देखिये ! साध्य धर्मका आधाररूपसे प्रसिद्ध होना उस हीको तो पक्ष कहते

है। जब समस्त पदार्थ याने कुछ भी तो सत्ताद्वैतमें प्रसिद्ध ही नहीं है क्योंकि एक सत्त्व न तत्त्व है, तब प्रतिनियत भिन्न होनेके कारण जो एकत्व है साध्य धर्म है अन्यत्र साध्य है यह असम्भव हो गया तब पक्ष किसी भी प्रकार सिद्ध न हो सका। विपक्षकी बात सुनो, विपक्ष कहलाता है वह जो पक्षसे विरुद्ध हो, जिसमें साध्य न पाया जाय। तो पक्षमें विरुद्ध कुछ क्या होगा? पक्ष ही कुछ नहीं है। विरुद्ध धर्मका प्रयोग कहाँ बताया जाय? विपक्ष भी अद्वैतवादमें अपना कुछ स्वरूप नहीं रखता। सपक्ष कहलाता है वह जहाँ ऐसा उदाहरण दिया जा सके कि साध्यधर्मक, धर्मिमें साधन सिद्ध किया जा सके। तो जब सत्ताद्वैतमें केवल सन्मात्र ही है तो सपक्ष कहाँ रहा? और, यदि हम किसीको भिन्न मान लेते हैं कि पक्ष भी है, सपक्ष है विपक्ष है, साधन है तब फिर भेदवाद प्रसिद्ध हो गया। अद्वैत कहाँ रहा?

पराभ्युपगत भेदसे स्वार्थ सिद्धिकी अशक्यता— यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि हम नहीं मानते हैं इन सब भेदोंको, लेकिन दूसरोंने तो पक्षादिक भेदोंको माना है। तो दूसरोंके माननेसे पक्षादिक सिद्ध हो जायेंगे। फिर सत्ताद्वैतके साधक अनुमानमें कोई दोष न आयगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि सत्ताद्वैतमें तो स्व और परका विभाग भी सिद्ध नहीं होता कि कौन स्व है, कौन पर है? जब एक सत्ताका ही अद्वैत है, अन्य कुछ माना ही नहीं गया तो स्वपर कहाँ विभक्त हो सकता है? और स्व पर मान लिया जाता है तो फिर अद्वैत अभेद एक रहा कहाँ? देखो! स्व भी है और पर भी है। तो अद्वैतवादमें स्व और परका भेद भी न हो तो पराभ्युपगम भी असिद्ध है जिस पराभ्युपगमसे आप पक्षादिके सिद्ध करना चाहते हैं तो पक्ष सपक्ष विपक्ष सब ये कुछ न रहे और इन सबके न रहनेसे अनुमान भी न बन सकेगा और तब अनुमानसे सत्ताद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती।

अभेदाद्वैतसाधक अनुमानकी असंगतता— जब अद्वैतवादमें पक्ष सपक्ष, विपक्षकी असिद्धि है तब जो ब्रह्माद्वैतवादमें प्रतिभास द्वैतकी सिद्धिके लिए जो एक अनुमान बनाया है वह भी असिद्ध है। अद्वैतवादियोंने कहा है कि समस्त पदार्थ प्रतिभासके अन्तः ही प्रविष्ट हैं क्योंकि प्रतिभास समानाधिकरणरूपतासे उनकी मान्यता होती है। जैसे कि प्रतिभासस्वरूप। तो यों जो ब्रह्माद्वैतका साधन बताया जाता वह भी खण्डित हो जाता। इसका कारण यह है कि न ज्ञाता है, न ज्ञेय है, न पदार्थ है, न पक्ष है, न सपक्ष है, न विपक्ष है। तो यह अनुमान बनेगा किस प्रकार। तो अद्वैतवादके आग्रहमें अनुमान प्रमाण की व किसी भी अन्य प्रमाणकी व्यवस्था नहीं बनती। प्रमाण मानोगे तो प्रमेय भी है, फिर प्रमाणके साधन भी हैं। अद्वैतवाद फिर रहा कहाँ? अपेक्षाभेदसे विवक्षासे तो सन्मात्र पर्याय भी सब सिद्ध की जा सकती है, किन्तु एकान्त आग्रह करके न केवल सत्त्व सिद्ध किया जा सकता न केवल भेद, असत्त्व सिद्ध किया जा सकता। तो यों सत्ताद्वैतकी सिद्धि नहीं बनती।

सर्वथा अभेदवादमें आम्नाय आगममें प्रत्यक्ष अनुमानादिका अप्रवेश— शंकाकार कहते हैं कि उस सत्ताद्वैतकी आम्नायोंमें ही सिद्धि हो जायगी। हमारा जो आगमका आम्नाय चला आ रहा है, वेद शास्त्र आदिक जो कुछ हम मानते चले आये हैं उसमें सत्ताद्वैतकी सिद्धि हो जायगी। तो इसका उत्तर यह है कि इस तरह सिद्ध करना भी असम्भव है, क्योंकि वह आम्नाय वह धर्मशास्त्र भी तो साध्यसे अभिन्न है। साध्य है ब्रह्मतत्त्वमात्र। जब उसमें ही वह अभिन्न है तो आम्नाय भी साधन नहीं बन सकता कि किसी तत्त्वको वह सिद्ध कर सके। इससे यह निर्णय हुआ कि जब साध्य और साधनका एक अभेद बन गया (अन्यथाद्वैतका प्रसंग आता है) तो इस द्वैतवादमें जब साध्य और साधन भी भिन्न चीज न रहे तो किस अनुमानसे और कहाँ सत्ताद्वैत सिद्ध हो सकता है? अथवा किस आगमसे या प्रत्यक्ष प्रमाणसे सत्ताद्वैत सिद्ध हो सकता है? जब पक्ष सपक्ष आम्नाय इन्द्रियादिक अनुमान आगम प्रत्यक्ष न किसी भी प्रकारका प्रमाण कारण नहीं ठहरता तब सत्ताद्वैतकी सिद्धिका उपाय क्या रहेगा? अनुमान प्रमाण तो बन सकेगा जब पक्ष, सपक्ष विपक्ष सिद्ध हो। अद्वैतमें इसकी सिद्धि नहीं है। आगम तब कारण बन सकेगा जब कि आम्नाय सिद्ध हो। भिन्न-भिन्न पुरुषोंके वचनोंकी धारणा चलती आयी हो, किन्तु अद्वैतमें ये सर्व द्वैत कहाँ सम्भव हो सकते? प्रत्यक्षमें कारण पड़ता है इन्द्रिय। जब इन्द्रिय आदिक सत्ताद्वैतमें कुछ नहीं ठहरता तो प्रत्यक्ष प्रमाण बने कैसे? तो इन सबके अभाव होनेसे वह ब्रह्म सन्मात्र उन प्रमाणोंके द्वारा साधा गया नहीं बन सकता, क्योंकि साध्यकी सिद्धि कहीं भी असाधन नहीं देखी गई याने साधन तो हो नहीं और साध्यकी सिद्धि बन जाय ऐसा कहीं भी सम्भव नहीं होता। यदि साधनके बिना साध्यकी सिद्धि बन जाय तो इसमें बड़ी विडम्बना आती है। साधन तो प्रमाण कहलाता, ऐसा प्रमाण कि जिसके द्वारा इष्ट मतव्यकी सिद्धि की जाती, निर्णय किया जाता तो वही साधन जब न हुआ तो किसी साध्यके प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि साधनके बिना कुछ भी सिद्ध किया जाने लगे तो यो शून्य तत्त्व भी सिद्ध हो जाय कि सत्ताद्वैत भी नहीं है कुछ भी नहीं है और कुछ भी न होना यही मात्र तत्त्व है, यह भी सिद्ध कर दिया जायगा।

स्वरूपकी स्वतः गतिमाननेमें सर्व मन्तव्योंकी सिद्धि होनेसे तथ्यका अनिर्णय—अद्वैतवादी कहते हैं कि स्वरूपकी तो स्वतः ही गति हो जाती है याने जो तत्त्वका ब्रह्मका स्वरूप है उसका बोध तो स्वतः ही हो जाता है, प्रमाणकी वहाँ आवश्यकता ही नहीं है। तो उत्तरमें कहते हैं कि यह बात तो सब वादियोंके लिए समान है। ज्ञानाद्वैतवादी भी यह कह सकते हैं कि उस ज्ञानाद्वैतका बोध तो स्वतः ही हो जायगा, और अधिक तो क्या कहें, अब तो सबका ही अपना-अपना इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणके न होनेपर भी व्यवस्थित बन जायगा। वे भी कहेंगे कि स्वरूपकी तो स्वतः ही गति होती है। हम जो कुछ मानते हैं तत्त्वस्वरूप तो वह है और

स्वरूपका बोध स्वतः ही होता रहता है। तो यों अतिप्रसंग उपस्थित हो जाता है। और स्वरूपकी स्वयमेव गति होती है इस प्रकारका यदि हेतु दिया जाय तो जैसे वह ब्रह्मवादी स्वरूपकी स्वतः ही गति होती है ऐसा कहकर एक पुरुषाद्वैतको सिद्ध करने में लग रहा है या सत्ताद्वैतको सिद्ध करनेमें लग रहा है तो इस ही हेतुसे कि स्वरूपकी स्वतः ही गति होती है अनेकान्तवाद भी सिद्ध हो जायगा। तथा जैसे स्वरूपका ही बोध होता है यह कहकर ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानाद्वैतको सिद्ध करें तो इसी तरह अनेक सम्वेदन भी तो इस ही उपायको देकर सिद्ध किए जा सकते हैं। अनेक सम्वेदन भी हैं क्योंकि उनके स्वरूपका बोध स्वयमेव ही हो जाता है। तो यों अतिप्रसंग होनेसे सत्ताद्वैतको भेदरहित निर्विशेष मान लेना शक्य नहीं है। और इस सत्ताद्वैतके सम्बन्धमें विस्तार पूर्वक आगे विचार करेंगे इतने ही कथनसे यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि वस्तु अनेकात्मक है। उसमें किसी भी भाव एकान्त या अभाव एकान्त आदिकको गम नहीं है।

भावैकान्तमें अस्वरूपताके प्रसंगकी आपत्ति देखो। मूल प्रकरणमें बात यह चल रही है भावैकान्तमें कि २५ तत्त्व माननेवाले सांख्य सिद्धान्तानुयायी आत्मादिक भावस्वरूप ही हैं, इस तरहका भावैकान्त मान रहे हैं किन्तु उनके भावैकान्तमें दोष दिखाते दिखाते जब सत्ताद्वैतके प्रसंगकी बात आने लगी तो अब सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंने अपने मतमें कहे गए दोषके परिहार करनेकी इच्छासे सत्ताद्वैतको अङ्गीकार करना प्रारम्भ कर दिया था। सो सत्ताद्वैतकी अवस्था असत्य है, यह विवरण सहित बता दिया गया है। तब वे अभी केवल एक अपनी पुरानी ही टेक रक्खें कि नाना आत्मादिक भाव स्वरूप ही हैं सो इस भावैकान्तमें तो दोष बना ही दिया गया था कि भावैकान्त माननेपर चूंकि अभावका लोप हो जाता है अतः आगे अभावका अपन्हव कर दिया, जिससे वस्तु सर्वात्मक, अनादि अनन्त और अस्वरूप हो जायगा। यह महादोष भावैकान्तमें दूर किया जाना अशक्य ही है।

प्रागभाव व प्रध्वंसाभावका अपन्हव करनेवालोंके प्रति दूषणप्रदर्शन— साधारणरूपसे भावैकान्तके आग्रहमें दोषापत्ति देकर अब विशेषरूपसे उन अभावोंके अपन्हवोंमें प्रत्येक अभावके निराकरणसे क्या दूषण आता है यह बतानेका उपक्रम किया जाता है। उन चार अभावोंमेंसे इस समय प्रागभाव और प्रध्वंसाभावको जो नहीं मानते हैं ऐसे वादियोंके प्रति दूषण दिया जा रहा है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव न माननेका अर्थ है कि जो दार्शनिक घट आदिकका प्रागभाव नहीं मानते वाले, घट आदिक कार्य पहिले न थे, अब हो गए हैं, इस प्रकारसे जो प्रागभाव नहीं मानते उनके प्रति अथवा घट वस्त्रादिकका प्रध्वंसाभाव नहीं मानते अब भी शाश्वत है, नष्ट होनेपर उसका अभाव नहीं होता, इस तरह प्रध्वंसाभाव न माननेवाले दार्शनिकोंके प्रति अब दूषण दिया जा रहा है। जो प्रागभाव नहीं मानते वे सभी पदार्थका प्रागः

भाव नहीं मानते। लेकिन उदाहरण रूपमें घटपट आदिक पदार्थका प्रागभाव न माननेको बताया है ताकि उस दृष्टान्तके आधारसे स्वमत परमतका स्पष्ट परिचय बने और प्रध्वंसाभावमें शब्दादिकका उदाहरण लिया जाय कि जो समझमें आता है कि शब्दादिक भी प्रध्वंस होकर फिर नहीं रहते लेकिन कुछ कारणोंसे लोग शंका कर सकते हैं कि शब्द मिट जानेपर भी रहा करते हैं। सो ऐसे सन्देह वाले उदाहरण से प्रध्वंसाभावके मन्तव्यमें लग गए हैं। तो जो दार्शनिक नहीं मानते प्रागभाव प्रध्वंसाभावको उनके लिए दूषण दिखाते हुए आचार्य समन्तभद्रदेव इस कारिकाको कहते हैं।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्तता व्रजेत् ॥१०॥

प्रागभावादिके निराकरणमें पदार्थोंके अनादि अनन्त होनेका दूषण— प्रागभावका निराकरण करनेपर तो कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे और प्रध्वंसाभावका निराकरण करनेपर पदार्थ, कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेंगे, यह दूषण आता है प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न माननेपर। जैसे कि घटका प्रागभाव नहीं माना तो फिर घट अनादि हो जाना चाहिए। अनादिसे ही घटकार्य द्रव्य रहना चाहिए, पर ऐसा कहाँ है? और प्रध्वंसाभाव न माननेपर फिर तो घटादिक, शब्दादिक अनन्त हो जाना चाहिए। कभी भी इनका अभाव न होना चाहिए। लेकिन ये भी फिर कहाँ हैं? तो ये दो दूषण मुख्यतया प्रागभाव और प्रध्वंसाभावके न माननेपर आते हैं।

प्रागभावकी प्रसिद्धि करनेके लिये चार्वाककी शंका— प्रागभावका अर्थ है कि कार्यकी उत्पत्तिसे पहिले कार्यका आत्मलाभ होनेसे पहिले कार्यका न होना प्रागभाव है और वह माना गया है द्रव्यकार्यके पहिले अनन्तर रहने वाला अद्भावरूप पर्याय। ऐसा लक्षण बनाकर यहां चार्वाक शंका करते हैं कि देखिये! स्याद्वादी जनो जो लोग ऐसा कहते हैं कि कार्यके आत्मलाभसे पहिले कार्यके न होनेका नाम प्रागभाव है और वह उस कार्यसे निकट पहिले ही होने वाली परिणतिरूप है। ऐसा कहने वालेके मतमें यह दोष आता है कि फिर तो उस पहिले पर्यायके पहिले कार्य अनादिकालसे बना रहना चाहिए। जैसे कि कपालियोंका प्रागभाव घट पर्याय है तो घट पर्याय है तो घट पर्याय होनेसे पहिले अनादिकालसे कितना समय गुजर गया तो इतने सारे समयमें फिर कपालियाँ रूप पर्यायें होते रहना चाहिए। क्योंकि अब प्रागभाव जो घट है वह तो नहीं है इससे पहिले, तो प्रागभाव यदि पहिली पर्यायक सद्भावरूप माना जाता है तो उस कार्यका सद्भाव उससे पहिले सदा ही समस्त पर्याय सततियोंमें पाया जाना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि उन अनादि परिणामोंकी परम्परायोंमें इतरेतराभावरूप अभाव माना गया है इस कारणसे उस

कपालरूप कार्यद्रव्यका उन सब अनादि पर्यायोंमें प्रसंग नहीं आता सो सुनो ! फिर तो उसके अनन्तरकी पर्यायोंमें भी इतरेतराभावसे ही कार्यका अभाव सिद्ध हो जायगा अर्थात् कपालसे पूर्ववर्ती घटरूप पर्यायमें भी इतरेतराभावसे कपालका अभाव बन जायगा। फिर प्रागभावकी कल्पना क्यों की जा रही है ? यदि कहा जाय कि जो कार्य है उसके प्रागभावके अभावका स्वभाव सिद्ध करनेके लिये प्रागभाव कहा जा रहा है। जैसे घटका प्रागभाव है मृत्पिण्ड, तो घटकार्यका यह स्वभाव बतानेके लिये कि प्रागभावका अभाव होना कार्यका स्वभाव है अर्थात् पूर्वपर्यायका अभाव न रहना यही कार्यका स्वभाव है, यह सिद्ध करनेके लिये प्रागभावकी कल्पना की जाती है। तो सुनो—चार्वाक कह रहे हैं कि कार्यसे पहिले पर्यायसे रहित जितनी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सारी पर्यायें हैं फिर तो उन पर्यायोंमें कार्यस्वभावपना क्यों नहीं आता, क्योंकि अविशेषता है याने यदि घटका, मृतपिण्डके अभावका स्वभाव मात्र प्रयोजन है तब तो देखिये कि पूर्ववर्ती जितनी पर्यायें हैं उनका भी तो अभाव है। फिर वे सब कार्य क्यों न कहलाने लगेंगे ? यदि स्याद्वादी यह उत्तर दें कि यद्यपि प्रागभावका अभाव सारी पर्यायोंमें है फिर भी कोई ही पर्याय कार्य मानी गई है, सारी पर्यायें कार्य नहीं मानी गईं। जैसे घटकार्य एक घट हुआ। आकारको लिए हुए पदार्थ ही कहलायेगा, अन्य न कहलायेगा। तो चार्वाक कहते हैं कि यह तो एक अभिप्राय बना लेना मात्र है। सोचनेसे जो जैसा चाहे सोच सकता है।

कार्यप्रागनन्तर पर्यायको द्रव्यमात्रको, पूर्वसकल पर्याय सततिको प्रागभाव माननेका चार्वाकों द्वारा विरोधन— अब यहां चार्वाक स्याद्वादियोंके प्रति कुछ आक्षेपके रूपमें कह रहे हैं कि यदि स्याद्वादी जन यह मानें कि कार्यके ठीक पहिले अनन्तरकी पर्याय कार्यका प्रागभाव है और प्रागभावका ही प्रध्वंस होना सो घट आदिकरूप कार्य है। पर इतरेतराभाव कार्य नहीं है। और इसी कारण पूर्व और उत्तर समस्त पर्यायोंमें घट पर्याय बननेका प्रसंग नहीं आता क्योंकि उन पूर्व और उत्तरकी समस्त पर्यायोंमें प्रागभावकी प्रध्वंसरूपता नहीं है, याने प्रागभाव बन-कर फिर उसका अभाव बने तब तो कार्य कहलाये। किन्तु उन पूर्व उत्तरवर्ती सारी पर्यायोंके इतरेतराभाव माना है। यदि ऐसा अपना अभिप्राय बनाया तो यह भी क्षणिकवादियोंका मत बन जायगा स्याद्वादियोंके इस प्रसंगमें। याने पूर्व क्षणका विनाश ही उत्तर क्षणकी उत्पत्ति है, ऐसा जो क्षणिकवादियोंका सिद्धान्त है फिर वह आ जायगा। और, यों स्याद्वादमतका विरोध हो जायगा। और देखिये—प्रागभाव जो अनादि है, स्याद्वादियोंने माना है और प्रागभावका अनादिपनका यह स्वीकार करना अब इस सिद्धान्तके मान लेनेपर कि घटका प्रागभाव है पूर्व अनन्तवर्ती पर्याय मात्र ऐसा माननेपर फिर अनादिपनेका स्वीकार करना विरुद्ध हो जाता है। अब घटका प्रागभाव केवल घटसे पहिलेकी अवस्था मृत्पिण्डरूप ही मान ली गई तब प्रागभावकी अनादिता कहां ठहरी ? स्याद्वादीजन यदि कहें कि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे

अनादि अनन्त है, प्रागभाव तब फिर बताओ चार्वाक पूछते हैं कि क्या मिट्टी आदिक द्रव्यका नाम प्रागभाव है ? यदि मिट्टी द्रव्यका ही नाम प्रागभाव है क्योंकि घड़ा बने पहिले तो मिट्टी ही बनी रही। तो यों मिट्टीका ही नाम प्रागभाव मान लिया जाता है तब फिर प्रागभावका अभाव होना यह घटमें कैसे घटित होगा ? क्योंकि घड़ा भी बन गया तो आखिर मिट्टी तो है ही। मिट्टीको मान लिया अब प्रागभाव द्रव्यार्थिक दृष्टिमें तो मिट्टीका जब विनाश हो, अभाव हो तब ही तो घट बनेगा। लेकिन घटमें मिट्टीका अभाव देखा ही नहीं जाता। मिट्टी ही तो है। द्रव्यका अभाव असम्भव है। किन्तु जो द्रव्यको अनादि अनन्त माना गया है और अब प्रागभाव नित्य सिद्ध हो गया तब फिर घटकी उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी यों विचार करने पर प्रागभावकी सिद्धि नहीं बनती। यहाँ चार्वाक आदिक जैनादिकके प्रति कह रहे हैं कि यदि प्रागभावके सम्बन्धमें ऐसा कहें कि जितनी पूर्व पर्यायें हैं वे सभीकी सभी जो अनादि परम्परासे चली आयी हैं वे सब घटके प्रागभाव हैं। यों घटका प्रागभाव अनादि है अतएव पूर्व समयमें घटकी उत्पत्ति न होगी। तो इसपर चार्वाक कहते हैं कि तो भी पहिले अनन्तर पर्यायकी निवृत्ति होनेपर जैसे घटकी उत्पत्ति हो जाया करती है इस ही तरह उन समस्त पर्यायोंकी निवृत्ति होनेपर भी घटकी उत्पत्तिका प्रसंग आ जायगा। और, ऐसा होनेपर फिर घटमें अपेक्षापना हो जायगा। क्योंकि जितनी पर्यायें हैं जैसी उनकी निवृत्तिकी सन्तति अनादि है तो पूर्व पर्यायोंकी निवृत्ति का नाम है घट और पूर्व पर्यायें नष्ट हुई, यह सतति है अनादिकालसे तब तो घट भी अनादिकालसे हो जायगा।

द्रव्यपर्यायात्मक प्रागभाव माननेपर चार्वाकों द्वारा विरोध प्रदर्शन— यदि जैनादिक यह कहें कि पहिले अनन्तरकी जो पर्याय है वह घटका प्रागभाव नहीं और न मिट्टी आदिक द्रव्य मात्र घटका प्रागभाव है। और न घटसे पूर्व होने वाली सारी पर्यायोंकी सतति भी प्रागभाव है किन्तु क्या है प्रागभाव, द्रव्य पर्यायात्मक कुछ हो चीज प्रागभाव कहलाती है। और, वह कथंचित् अनादि है, अर्थात् द्रव्य दृष्टिसे अनादि है और पर्याय दृष्टिसे सादि है। इस प्रकार स्याद्वादियोंका सिद्धान्त निरंकुश हो है, उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। तो इसपर चार्वाक कहते हैं कि यों तो द्रव्य अपेक्षा अनादि है और पर्याय अपेक्षा सादि है इन दोनों पक्षोंमें जो दोष दिया गया है वह दोष यहाँ लागू होगा। क्या कि देखो ! द्रव्यरूपसे यदि अनादि मान लेते हैं प्रागभावको तब प्रागभाव विनाश रहित हो जायगा, और इस तरह फिर कभी भी कार्यकी उत्पत्ति न हो सकेगी, और पर्यायरूपसे यदि प्रागभावको सादि मानते हो तो प्रागभावसे पहिले भी घटकी उत्पत्ति हो जायगी, जैसे कि प्रागभावके पश्चात् घटकी उत्पत्ति बताते हैं क्योंकि पर्यायरूपसे प्रागभाव मान लिया गया सादि याने प्रागभाव किसी समयसे हुआ तो जिस समयसे हुआ उससे पहिले तो प्रागभाव न था, अब बताओ घटका हो जाना कैसे निवारण किया जा सकेगा ? कोई उपाय नहीं है कि प्रागभाव

की यह व्यवस्था बनायी जाय कि इस प्रागभावकी समाप्ति पर यह घट बनेगा। तब प्रागभावकी कोई व्यवस्था नहीं बनती। ऐसे चार्वाक प्रागभावका खण्डन कर रहे हैं।

चार्वाकोंके आक्षेपके समाधानमें नैयायिकोंका मन्तव्य— चार्वाककी उक्त बात सुनकर अब यहाँ नैयायिक बोलते हैं कि प्रागभाव भाव स्वभाव नहीं है याने किसीकी सत्ताका स्वभाव रखने वाला प्रागभाव नहीं होता क्योंकि प्रागभाव भावसे विलक्षण पदार्थ है, और इसका कारण यह है कि प्रागभाव पदार्थका विशेषण है। जैसे घटका प्रागभाव आदि किसी पदार्थका विशेषणरूपसे प्रागभावका प्रयोग किया जाता है इस कारणसे प्रागभाव भावसे विलक्षण है और जो भावसे विलक्षण है वह भाव स्वभाव हो नहीं सकती तो प्रागभावको जो भावस्वभाव मानें उनके यहाँ चार्वाक द्वारा कहे गये दूषण लगे, हमने तो प्रागभावको भाव स्वभाव माना ही नहीं तब तो यह दूषण नहीं आ सकता। उक्त नैयायिकको इस आशंकाका समाधान किया जाता है कि प्रागभावको भाव स्वभाव न मानकर एक तुच्छाभावरूप मानने वाला योग भी समीचीन कहने वाले नहीं हैं, क्योंकि सर्व प्रकारसे भाव विलक्षण अभाव हो अर्थात् तुच्छ अभाव हो ऐसे अभावको ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। अब यहाँ नैयायिक भाव विलक्षण अर्थात् तुच्छ अभावको सिद्ध करने वाले प्रमाणको दिखाते हैं। कह रहे हैं नैयायिक कि देखिये अपनी उत्पत्तिसे पहिले घट न था ऐसा जो यह ज्ञान है वह तो असत्को विषय करने वाला है ना, यह ज्ञान असत्को विषय करता है इसका हेतु यह है कि घट नहीं है ऐसा जो प्रत्यय है वह सत् प्रत्ययसे भिन्न है। "नहीं है यह" यह ज्ञान 'यह है" इस ज्ञानसे तो भिन्न है ना, अस्तित्वका ज्ञान और ढंगका है नास्तित्वका ज्ञान और ढंगका है। तो अपनी उत्पत्तिसे पहिले घड़ा न था ऐसा ज्ञान सत् प्रत्ययसे विलक्षण है, और जो सत्का विषय होता है अर्थात् जो असत्का विषय नहीं है वह सत् प्रत्ययसे विलक्षण नहीं होता। याने जो ज्ञान अस्तित्वको विषय करता है वह ज्ञान अस्तित्वके ज्ञानसे विलक्षण नहीं होता। जैसे कि द्रव्य सत् है आदिक जो ज्ञान होते हैं वे ज्ञान सत्को विषय करने वाले हैं ना, तो वह अस्तित्वके ज्ञानसे विपरीत ज्ञान नहीं है किन्तु यह जो ज्ञान हो रहा है कि घट अपनी उत्पत्तिसे पहिले न था ऐसा जो नास्तित्वका ज्ञान हो रहा है वह सत् प्रत्ययसे विलक्षण है। और इस ही कारण यह असत्का विषय करने वाला है। यह अनुमान उस प्रागभावको सिद्ध करने वाला है, सो प्रागभाव भावस्वभाव नहीं है तुच्छाभावरूप है।

यौगोक्त आक्षेपसमाधानमें चार्वाकोंका कथन—उक्त यौगमन्तव्यके उत्तरमें चार्वाक यह कह रहे हैं कि भावविलक्षण अभावकी बात यों युक्तिसंगत नहीं है कि सत् प्रत्ययसे विलक्षण है, यह हेतु इस ज्ञानके साथ व्यभिचरित होता है याने जब यह कहा जाय कि प्रागभाव आदिका प्रध्वंसाभाव आदि नहीं है, तो यह भी एक ज्ञान है। तो इस ज्ञानमें सत् प्रत्यय विलक्षणता तो पाई गई याने अस्तित्वका बोध नहीं

किया जा रहा है, जाना जा रहा है न की ही बात लेकिन यह असत्का विषय, नहीं कर रहा। प्रागभावमें प्रध्वंसाभाव नहीं है तो एक किसीमें अभाव नहीं है। इस कथन का अर्थ यही तो हुआ कि भाव है। सो देखो यह ज्ञान सत्को विषय कर बैठा। सो इस ज्ञानसे आपके हेतुका व्यभिचार होता है, अतएव नैयायिकोंके द्वारा कहा गया अनुमान सही नहीं है अब यहाँ नैयायिक यदि यह कहे कि यह ज्ञान भी असत्को विषय करने वाला है। प्रागभावमे प्रध्वंसाभाव आदिक नहीं हैं ऐसा ज्ञान भी नास्तित्वका ही विषय करने वाला है, इस कारण हेतु व्यभिचरित न होगा। तो यह भी बात युक्तिसगत नहीं बैठती, क्योंकि इसमें फिर अभावको अनवस्था हो जायगी। याने अब तो यहाँ एक ५ वाँ अभाव बन गया। चार अभाव तो बताये ही थे -प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। लेकिन इन प्रागभाव आदिकमे प्रध्वंसाभाव आदिक नहीं हैं यह एक ५ वाँ अभाव बना दिया तो इस पाँचवें अभावका इन चारो अभावोंमे अभाव है कि नहीं वहाँ पर भी एक नया अभाव मानना पड़ेगा। और, जब एक नया अभाव माना तो उस अभावमे भी ये सारे अभाव नहीं हैं इसके लिए फिर अन्य अभाव मानना होगा। तो यों अभावकी अनवस्था हो जायगी।

योगाभिमत मुख्य व उपचरित अभावका निराकरण—अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि देखिये! जो भूतल है जमीनका भाग है वह तो सद्भावरूप है ना, अब सद्भावरूप जमीनके भाग आदिकमे कुम्भादिक नहीं हैं, ऐसा जो ज्ञान हो रहा है वह तो है मुख्य अभावका ज्ञान और प्रागभाव आदिकमे प्रध्वंसाभाव आदिक नहीं हैं, इस प्रकारका जो ज्ञान हो रहा है वह है उपचरित अभावका ज्ञान। तो मुख्य अभावका ज्ञान और उपचरित अभावका ज्ञान कोई एक तुलनासे नहीं बन सकता इसलिए अभाव की अनवस्था न होगी। इसपर चार्वाक समाधान करते हैं कि यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि फिर तो परमार्थसे प्रागभाव आदिकमें संकरताका प्रसंग आ जायगा। अब प्रागभावमे प्रध्वंसाभाव आदिकका अभाव उपचरित है तो इसके मायने यह हुआ कि परमार्थसे प्रागभावमें प्रध्वंसाभाव आदिकका अभाव नहीं है याने प्रध्वंसाभाव प्रागभावमे बसे हुए हैं। तो यों प्रागभाव आदिकमे संकरता हो जायगी। उनका कोई नियत स्वरूप न रह सकेगा। क्योंकि उपचरित अभावमें परस्पर व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। यदि उपचरित अभावसे अभावमे परस्पर व्यतिरेक बन बैठे तब तो घट आदिकमें अथवा अभावमें मुख्य अभावकी कल्पना करना व्यर्थ है। जैसे घट पट आदिक मे इतरेतराभावकी कल्पना कर रहे घटमें पट नहीं, यह है इतरेतराभाव। सो पारमार्थिक इतरेतराभाव आदिककी कल्पना क्यों की जा रही है? अब तो उपचरित अभावसे ही सारे अभावोंकी व्यवस्था बना ली गई है। तो यों उपचरित अभाव माननेपर परमार्थसे प्रागभाव आदिकमे संकरताका दोष आता है।

योगप्रस्तुत प्रागभावतुच्छाभावसाधक भावविशेषणत्व हेतुकी असंग-

तताका प्रतिपादन - और भी सुनो— नैयायिकोंने जो यह कहा है कि प्रागभाव आदिक भावस्वभाव नहीं है क्योंकि वे सदा भावके विशेषण रहते हैं। भावके विशेषणका अर्थ यह है कि जैसे घट तो है भावरूप और घटका नाम लेकर कहना कि यह घटका प्रागभाव है, यह घटका प्रध्वंसाभाव है, इस प्रकार घटमें अभावका विशेषणरूपसे बताना यह हो रहा है ना, इस ही कारण प्रागभाव आदिक भाव स्वभाव नहीं है ऐसा नैयायिकोंका कथन और अनुमान बनाना यह समीचीन नहीं है। क्योंकि इसमें जो हेतु दिया है भाव विशेषणपना वह पक्षमें अव्यापक है। वह किस तरह ? प्रागभाव प्रध्वंसादिकमें नहीं है आदिक जो अभावका विशेषण है तो अभावका विशेषण होकर भी अभाव प्रसिद्ध है याने यह कहना कि अभाव सदा भावका विशेषण होता है यह बात सही नहीं है। अभाव अभावका भी विशेषण बन जाता है और, फिर इस हेतुका गुण आदिकसे व्यभिचार आता है। यह कहना कि जो सर्वदा भावका विशेषण होता है वह भाव स्वभाव नहीं होता, अभावरूप होता, लेकिन देखो गुण भी पदार्थका विशेषण बनता है। जैसे कि कहा जाता घटका रूप, तो रूप तो गुण है और घट पदार्थ है तो यहां गुणको पदार्थका विशेषण बताया गया और नैयायिकोंके अनुमानके हिसाबसे जो भावका विशेषण होता है वह भावरूप नहीं होता, तुच्छाभावरूप होता है। तो यहां रूप घटका विशेषण बन गया, तो यहां भी अभाव बन जायगा। लेकिन इसे अभावरूप मानते नहीं। तो सर्वथा रूप भावका विशेषण है गुण भावके विशेषण है फिर भी गुण आदिक भाव स्वभावरूप है यदि यह कहो कि मैं सबको देखता हू आदिक व्यवहाररूपसे स्वतन्त्र भी तो गुण विदित होते हैं तब गुणोंमें सर्वदा भाव विशेषणता की बात न रही। गुण कभी भावके विशेषणरूपसे भी प्रयुक्त होते हैं और कभी स्वतन्त्र रूपसे भी प्रयुक्त होते हैं कभी कोई यों कह देता है कि मैं घटका रूप देखता हूं तो इसमें रूप गुण घटका विशेषण बन गया और कभी कोई यों भी कहता है कि मैं रूपको देखता हू तो यहां रूप किसीका विशेषण नहीं हुआ किन्तु एक स्वतन्त्र ही रहा। तो मैं रूपको देखता हूं आदिक व्यवहार होनेके कारण गुण स्वतन्त्र भी प्रतीत होते हैं अतः गुणमें सर्वदा भाव विशेषणपना नहीं है। अतएव हेतु व्यभिचरित हुआ। तो नैयायिकके इस कथनपर चार्वाक कहते हैं—तब फिर अभाव तत्त्व है। इस ढंगसे अभावका भी स्वतन्त्रपना विदित हो जाता है। कभी अभाव भावके विशेषण रूपसे भी कहा जाता है। जैसे घटका प्रागभाव आदिक। और, कभी अभावको स्वतंत्ररूपसे भी कहा जाता है, जैसे कि एक अभाव भी तत्त्व है। तो इस तरह अभावको स्वतंत्ररूपसे कहा जानेके कारण अभाव भी सदा भावका विशेषण सिद्ध न होगा।

सामर्थ्यसे अभावको भावविशेषणत्व कहकर भी आपत्तिसे छुटकारेका अभाव—यहां नैयायिक अभावको भावविशेषण बताकर तुच्छाभावरूप अभाव सिद्ध कर रहे हैं। उनके उत्तरमें चार्वाक यह कहते हैं कि भावका विशेषण तो गुण भी है,

तब गुण भी तुच्छ असत् हो जायगा। उसपर नैयायिकने कहा कि गुण तो सदा भावविशेषण नहीं बनता। कभी गुणका स्वतंत्र भी प्रयोग होता है। जैसे मैं रूप देखता हूँ, तो इसी प्रकार चार्वाकने कहा कि अभावका भी स्वतंत्र प्रयोग होता है। तो अभाव भी सदा भाव विशेषण न रहेगा। इस पर नैयायिक यह कहते हैं कि अभावत्व तो सामर्थ्यसे भावविशेषण बनेगा ही क्योंकि उस सम्बन्धमें जब यह प्रश्न होता है कि किसका अभाव? तो अपने आप उसका उत्तर मिलता है कि द्रव्यका अभाव। तो अभावका स्वतंत्र विधिसे भी कोई प्रयुक्त करे तब भी सामर्थ्यसे वह भावविशेषण बनता है। अत्यन्ताभाव तो सदा ही भाव विशेषण है। इसपर चार्वाक कहते हैं कि इसतरह फिर गुणादिक भी सदा ही भाव विशेषण रहेंगे क्योंकि गुणादिक जो विशेष्य स्वतंत्र रूपसे प्रयुक्त किए गए हैं, तब उनके बारेमें भी प्रश्न होगा कि किसका रूप? तो वहाँ उत्तर आ जाता कि द्रव्यका रूप। तो गुण रूपका स्वतंत्ररूपसे भी प्रयोग किया जाय फिर भी सामर्थ्यसे वह भावका विशेषण बनेगा ही। अतः यदि प्रागभावको भावस्वभाव नहीं मानते तो गुण भी भावस्वभाव न रहेगा। अब नैयायिक द्वारा अभिमत प्रागभावके सम्बन्धमें मन्तव्यकी सिद्धि नहीं होती।

प्रागभावके कालके सम्बन्धमें चार विकल्प उठाकर चार्वाको द्वारा प्रागभावकी असिद्धि बतानेका प्रसंग अब और भी दूषण सुनो—चार्वाक पूछते हैं नैयायिकसे कि इस प्रागभावका आदि सान्त मानते हो या सादि अनन्त मानते हो या अनादि सान्त मानते हो? इन चार विकल्पोंमेंसे यदि प्रथम विकल्प लोगे कि प्रागभाव आदि सहित है और अन्त सहित है तो देखिये अब प्रागभावसे पहिले घट की उपलब्धि हो जानी चाहिए क्योंकि प्रागभावकी आदि मान ली गयी तो उस आदि समयसे पहिले प्रागभाव न था और प्रागभावके अभावको ही कार्य कहा जाता है। तो प्रकृतमें घटका उदाहरण चल रहा है। अब घटका प्रागभाव सादि हुआ तो उससे पहिले घटकी उपलब्धि हो जानी चाहिए। क्योंकि घटका विरोधी है प्रागभाव और प्रागभावको सादि मान लेनेमें उस कालसे पहिले है प्रागभावका अभाव तो घट विरोधी प्रागभावके अभावमें घटकी उपलब्धि हो ही जानी चाहिए, किन्तु ऐसा है कहाँ? यदि द्वितीय विकल्प लेते हो कि प्रागभाव सादि अनन्त है। प्रागभावका आदि तो है पर उसका अन्त नहीं है तो सुनो अब। प्रागभावको सादि अनन्त मानने पर प्रागभावके समयमें याने अनन्तकाल तक घटकी अनुपलब्धि हो जायगी। क्योंकि अब तो प्रागभावको अनन्त मान लिया याने उत्पत्तिके बाद प्रागभाव अब अविनाशी है तो फिर कभी प्रागभावके समयमें घट न उपलब्ध होना चाहिए। जब प्रागभावकी आदि थी प्रागभाव तो बन गया पर प्रागभाव जबसे हो तबसे भविष्यमें सदाकाल रहेगा तो फिर घटको उत्पन्न होनेका अवसर ही कहाँ रहा? यदि तृतीय पक्ष लोगे कि प्रागभाव अनादि अनन्त है तब तो घटकी सदा ही अनुपलब्धि रहेगी। क्योंकि प्रागभाव तो शाश्वत है, उसका कभी अभाव हो ही नहीं सकता। और

प्रागभावके अभावमें ही घट हो जाता था। तो अब घट कभी भी न बन सकेगा। यदि चतुर्थ विकल्प लेते हो कि प्रागभाव अनादि और सान्त है, प्रागभावकी आदि तो नहीं किन्तु उसका अन्त है तो इस विकल्पको सुनो तो अब प्रागभावका अभाव होनेपर जैसे घटकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार समस्त कार्योंकी उपलब्धि हो जानी चाहिए। घट बननेके साथ ही सारे कार्य बन जाने चाहिएँ क्योंकि आपने स्वीकार किया है कि समस्त कार्योंका प्रागभाव एक है।

आक्षेपनिवारणार्थं यौगाभिमत अनन्त निरुपाख्य प्रागभावोंका चार्वाकों द्वारा विरोधन – अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि जितने भी कार्य होते हैं उतने ही अनन्त प्रागभाव हैं। तो उन अनन्त प्रागभावोंमेंसे जैसे एक कार्यके प्रागभावका नाश होगा तो उसके प्रागभावका नाश होनेपर भी शेष जो आगे उत्पन्न होने वाले हैं उन कार्योंके प्रागभावोंका विनाश नहीं होता है, इस कारण घटके उत्पन्न होनेपर समस्त कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती। इस शंकाके उत्तरमें चार्वाक कहते हैं कि तब यह बताओ कि वे समस्त अनन्त प्रागभाव क्या स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र हैं? याने प्रागभाव अनाश्रित है या किसी द्रव्यके विशेषण बन करके उस द्रव्यके आधीन हैं? यदि कहो कि वे अनन्त प्रागभाव स्वतन्त्र हैं तो जब वे प्रागभाव स्वतन्त्र मान लिए गए तो अब वह भाव स्वभाव क्यों न कहलायेगा? वह तो सद्रूप हो जायगा। जो पदार्थ स्वतन्त्र होते हैं वे तो सत् हुआ करते हैं। अब यहाँ उन अनन्त प्रागभावोंको मान लिया स्वतन्त्र तो वे सब सत् स्वरूप हो गए। जैसे कि काल आदिक पदार्थ स्वतन्त्र हैं तो यों प्रागभाव भावस्वरूप स्वतन्त्र सिद्ध हो जाता है। यदि कहो कि वे अनन्त प्रागभाव परतन्त्र हैं क्योंकि सदा अभाव भावके ही विशेषण माने गए हैं। इस तरह यदि प्रागभावोंको किसी पदार्थके आधीन मानते हो तो यह बतलावो कि वह प्रागभाव क्या उत्पन्न होने वाले पदार्थोंके आधीन है? यदि कहा जाय कि वे अनन्त प्रागभाव उत्पन्न हो चुके पदार्थोंके आधीन हैं तो देखिये—जब पदार्थ उत्पन्न हुआ उस कालसे तो उसके प्रागभावका विनाश हो जायगा फिर आश्रयपनेकी क्या बात रही? उत्पन्न होना और प्रागभाव रहना इन दोनोंमें तो विरोध है। यदि कहो कि आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थोंके आधीन हैं वे समस्त प्रागभाव, तो सुनो—यह दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं बैठता क्योंकि प्रागभावोंके सम्बन्धमें जो स्वयं हैं नहीं पदार्थ और आगे उत्पन्न होंगे ऐसे पदार्थोंके आधीन बता रहे हो प्रागभावको तो प्रागभावके समयमें पदार्थ है नहीं ऐसे पदार्थोंके आधीन प्रागभावोंका होना कैसे कहा जा सकता है जो हैं ही नहीं उनका आश्रय कोई हो कैसे सकता है क्योंकि जो स्वयं अपने स्वरूप लाभको प्राप्त हुआ हो अर्थात् वर्तमान हो ऐसा ही पदार्थ किसीका आश्रयभूत बन सकता है। जैसे भींट हो तो उसपर चित्र बनाया जा सकता है ऐसे ही प्रागभावको अपर पदार्थोंके आधीन कह रहे हो तो पदार्थ हो कभी तो वह प्रागभाव आधीन रहेगा। यहाँ कह रहे हो प्राग-

भावको उन पदार्थोंके प्राचीन जो भविष्यमें उत्पन्न होंगे। तो यो प्रागभाव भावतन्त्र नहीं रह सकता अन्यथा याने स्वयं असत् होकर भी उसके आश्रयमें कुछ रहा जाय तो प्रध्वंसाभाव भी नष्ट हुए पदार्थके आश्रय रहा करे यह आपत्ति आ जायगी। पर अनुत्पन्न अर्थात् जो उत्पन्न नहीं हुआ भविष्यमें उत्पन्न होगा अथवा प्रध्वस्त, जो नष्ट हो चुका ऐसा पदार्थ किसीका आश्रय नहीं बन सकता क्योंकि असत् किसीका आश्रय नहीं बन सकता, क्योंकि असत् किसीको आश्रय देने लगे तो इसमें बड़ी विडम्बना होगी। खरविषाण आदिक भी किसीके आश्रय बन जायें या प्रागभाव प्रध्वंसाभाव खरविषाणके आश्रयमें आ जाय। अतः उन प्रागभावोंको स्वतन्त्र अथवा भावतन्त्र कह कर भी सिद्ध नहीं कर सकते।

विशेषणभेदसे ही प्रागभावकी विभिन्नताका प्रतिभास माननेपर सामान्य अभाव व सत्तामें भी उपचरितमात्र भेदके सिद्ध होनेकी आपत्ति — अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि देखिये एक ही प्रागभाव विशेषणभेदसे भिन्न भिन्न-रूपसे उपचरित होता है। जैसे घटका प्रागभाव, पटका प्रागभाव यों अनन्त पदार्थोंके प्रागभाव कहे जाते हैं वे पदार्थ हैं अनन्त, अतएव उन विशेषणोंके भेदसे प्रागभाव भी भिन्न-भिन्नरूपसे उपचरित होते हैं। और ऐसा होनेपर प्रागभावका उत्पन्न पदार्थोंके विशेषण रूपसे विनाश हो गया। फिर भी जो आगे उत्पन्न होते हैं ऐसे पदार्थोंके विशेषण रूपसे अविनाशी अर्थात् जब प्रागभाव विशेषणके भेदसे भिन्न भिन्न हो जाता है तो उत्पन्न हुए पदार्थोंके प्रागभावका नाश हो गया तो हो जाय लेकिन जो आगे उत्पन्न होंगे—ऐसे पदार्थोंका विशेषणरूप प्रागभाव तो नष्ट नहीं हुआ इसलिए वह प्रागभाव नित्य रहा। इसपर चार्वाक कहते हैं कि फिर तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव ऐसे चार प्रकारके अभावोंकी कल्पना भी न रहेगी। यह कहा जा सकेगा सब जगह कि एक ही अभाव है किन्तु विशेषणके भेदसे प्रागभाव आदिकरूपसे उनका भेदव्यवहार बनता है जैसे कि अभी यह कहा गया था कि प्रागभाव एक है पर उत्पन्न और अनुत्पन्न पदार्थोंके विशेषणसे प्रागभाव नष्ट भी हो, न भी हो नष्ट। प्रागभाव एक ही है। तो यों हो अभाव एक ही है। उस अभावमें विशेषणोंके भेद लगते हैं जिससे उसके प्रकार चार हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं कि पूर्वकालसे विशिष्ट पदार्थ ही कार्यका प्रागभाव है। जैसे घटकार्य बनता है तो घटका प्रागभाव क्या है? घट होनेसे पूर्वकालसे विशिष्ट जो अर्थ है वही प्रागभाव है और ध्वंसाभाव क्या बनेगा कि कार्यके उत्तरकालसे विशिष्ट जो अर्थ है वह प्रध्वंसाभाव है। और, इतरेतराभाव क्या बने? कि नाना पदार्थोंके विशेषणसे युक्त जो अभाव है वही इतरे-तराभाव है। और अत्यन्ताभाव क्या बनेगा कि तीनों कालमें अत्यन्त नानास्वभावरूप भावोंका विशेषणरूप अत्यन्त अभाव। याने अभाव रहेगा एक पर उस अभावमें पूर्व काल, उत्तरकाल नाना अर्थ नाना स्वभाव ऐसे विशेषणोंमें लगायेंगे तो अभाव चार प्रकारसे विदित होगा अर्थभेदसे। सो जैसे कहा घट पहिले न था अथवा घट ध्वस्त

हो गया तो यहाँ ये ज्ञान भेद भी तो विशेषणके भेदरूपसे बताये जा रहे हैं। और जैन सत्ताको एक माना है और द्रव्यादिक विशेषणोंके भेदसे उसका भेदव्यवहार किया है ऐसे ही प्रभाव एक ही रह जायगा और बाकी पदार्थ स्वभाव प्रादिकके भेदसे प्रभाव के चार भेद बन जायेंगे। देखो ना, जिस प्रकार सत्ताको माना है एक और उसमें हेतु दिया जाता है कि चूंकि सत् प्रत्ययकी अविशेषता है हर जगह सत्से प्रतिरूप ये विदित होते हैं तो विशेष लिंग न रहनेसे सत्ताको एक माना है सत्ताद्वैतवादियोंने, उस ही प्रकार प्रभावके सम्बन्धमें भी कहा जायगा कि समस्त प्रभावोंमें असत् प्रत्ययकी अविशेषता है। तो सब प्रभाव ही प्रभाव कहलावेंगे चाहे प्रागभाव हो चाहे प्रध्वंसाभाव हो सभी प्रभावोंमें प्रभावोंका ज्ञान तो समान ही हो रहा है। तो असत् प्रत्यय की अविशेषता होनेसे और द्रव्यलिंगका भेद न होनेसे फिर तो असत्ता भी एक ही बन जायगा। अब प्रभाव चार न ठहर सकेंगे, वह सब एक ही प्रभाव होगा। यदि यों कहोगे कि पहिले न था, आगे न होगा आदिक प्रत्ययोंकी अविशेषतासे ऐसे कल्पना भावोंके कारण चार प्रकारका माना जायगा प्रभाव। तो सुनो! भावके सम्बन्धमें भी ऐसा विकल्प होता है कि यह पहिले था यह पीछे होगा, यह वर्तमानमें है। तो देखो, यहाँ कालभेदसे भावभेद बन गया ना! और यों भी कहते हैं कि यह कलकत्तामें है यह बम्बईमें है तो यों देशका विशेषण लगाकर भी देशभेदसे सत्ताका भेद माना जा रहा है। घट है, पट है, इस प्रकार द्रव्यके भेदसे भी भावमें भेद समझा जा रहा है। रूप है, रस है, यों गुणके भेदसे भी भावमें भेद हो रहा है। यह गमन है, यह प्रसार है, यों क्रियाके भेदसे भी ज्ञान विशेष हो रहा है। तब प्राक्सत्ता आदिक सत्ताभेद क्यों न मान लिए जायेंगे ?

प्रागभावकी मान्यता व अमान्यतामें प्रसंगसम्बन्धित यौग व चार्वाकों का विवाद—यहाँ नैयायिक कहते हैं कि सत्ताके सम्बन्धमें जो नाना प्रकारके ज्ञान-विशेष होते हैं, जैसे पहिले था पीछे होगा। अमुक नगरमें है, अमुक पदार्थ है। रूप है, गमन है यों द्रव्य गुण क्रिया, देश कालके भेदसे जो कुछ ज्ञान विशेष हो रहे हैं उन ज्ञान विशेषोंसे सत्ताके विशेषण ही भेदको प्राप्त होते हैं क्योंकि ज्ञान विशेष विशेषणनिमित्तक है। विशेषणोंका निमित्त पाकर ही सत्ताके भिन्न-भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुए हैं। तो यों उन भेदोंसे विशेषण ही भेदे जाते हैं किन्तु सत्ताका भेद नहीं होता और इस ही कारण सत्ता तो एक ही मानी गई है। इसपर चार्वाक कहते हैं कि फिर तो प्रभावमें जो प्रत्यय विशेष हो रहे हैं, घटका पटमें प्रभाव ये सब प्रत्यय विशेष भी विशेषणभेद हेतुक हो जायेंगे। विशेषणोंके भेदसे प्रभावोंमें प्रत्ययका भेद होता है तो यों प्रभावके विशेषण ही भेदे जायेंगे। तब भावका भी भेद न रहा, क्योंकि सत्ताका भेद न करनेमें जो युक्तियाँ दोगे वे युक्तियाँ प्रभावका भेद न होनेके कथनमें भी घटित होती हैं। कोई पृथ्वी आदिककी पर्याय रूप घट वस्त्रादिकसे भिन्न कुछ एक प्रभाव प्रत्यक्षसे प्रतिभासित नहीं होता। अर्थात् वह एक ही प्रभाव इन

घट आदिक पर्यायोंके रूपसे प्रतिभासमान होता है। तब अभावोंमें जो भेद कर दिया गया वह भेद एक लोकव्यवहारसे कर दिया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों भूत पदार्थोंका विषय करता हुआ ही तो यह लोक अभाव आदिक विकल्पोंके वशसे प्रागभाव आदिक व्यवहारोंको यह लोक कर रहा है वस्तुतः अभावमें भेद नहीं। ये सब भेद केवल विकल्पके आधार पर बन रहे हैं। जैसे कि वैशेषिक सिद्धान्तमें द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष समवाय, अभाव ऐसे विकल्प करके उन विकल्प मात्रमें द्रव्यादिक ६-७ पदार्थोंका व्यवहार बनाया जा रहा है। अथवा वैशेषिक सिद्धान्तमें प्रमाण प्रमेय आदिक १६ पदार्थोंका विकल्प करके उन विकल्पमात्रसे प्रमाण प्रमेय तत्त्वादिकका व्यवहार बनाया जा रहा है। अथवा सांख्य सिद्धान्तमें प्रकृति पुरुष महान अहंकार आदिक विकल्पोंको करके पुरुष व्यक्त अव्यक्त आदिकका व्यवहार बनाया जा रहा है। अथवा क्षणिकवाद सिद्धान्तकी अपेक्षा रूप विज्ञान स्कंध आदिक विकल्पोंको करके उक्त विकल्पोंमात्रसे रूप, स्कंध आदिक व्यवहार बनाया जा रहा है। इस ही प्रकार केवल एक रूढ़िसे चलनेके व्यवहारकी परम्परासे पृथ्वी आदिक भूत चतुष्टयक सम्बन्धमें प्रागभाव आदिक अभावोंका व्यवहार बताया जा रहा है। वस्तुतः प्रागभाव कुछ भी चीज प्रतीत नहीं होती, प्रध्वंसाभाव आदिक की तरह। जैसे प्रध्वंसाभाव आदिक अभाव कुछ चीज नहीं उस ही प्रकार प्रागभाव भी कोई पदार्थ नहीं है।

कार्यद्रव्य माननेवाले चार्वाकोंके प्रति प्रागभावके अपन्हवके निराकरणका कथन—चार्वाक सिद्धान्तके अनुयायी उक्त कथनमें प्रागभावका अपन्हव कर रहे हैं। अब इस समस्त उक्त कथनपर स्याद्वादी जन कह रहे हैं कि यहाँ इस कारिका के द्वारा प्रागभाव आदिकका लोप करके पृथ्वी आदिक कार्य द्रव्योंको मानने वाले चार्वाकोंको मुख्यतासे दूषित किया जा रहा है। किन्तु अभी सांख्य या सत्ताद्वैतवादियों का उपालम्भ नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि सांख्य और सत्ताद्वैतवादी दार्शनिक कार्यद्रव्यको नहीं मान रहे और ये चार्वाक पृथ्वी आदिक कार्य द्रव्यको स्पष्ट मान रहे हैं। तो देखो! कार्य द्रव्यको तो यहाँ मान रहे हैं और प्रागभाव आदिकका ये लोप कर रहे हैं तभी तो चार्वाक मतव्यमें यह प्रश्न आसानीसे उठता है कि यदि प्रागभाव नहीं है तो यह कार्य द्रव्य अनादि बन जायगा। तो कार्यद्रव्यके अनादिपनेकी आपत्ति चार्वाकोंके यहाँ बताई जा रही है। और, चार्वाकोंके द्वारा बताये गये समस्त दूषणोंका परिहार करते हुए यह सिद्ध किया जायगा कि प्रागभावके न माननेपर कार्य द्रव्यका अनादिसे होते रहनेका प्रसंग आयगा। सांख्य अथवा सत्ताद्वैतवादी दार्शनिकोंने तो कार्य द्रव्य माना नहीं, लेकिन तिरोभाव और आविर्भाव वाला परिणाम तो मानते हैं तो वे किसी प्रकारसे भी तिरोभाव आविर्भावके परिणामके रूपसे भी भावस्वभाव प्रागभाव आदिक मानते ही हैं। तब इस समय सांख्य अथवा सत्ताद्वैतवादियोंके प्रति न कहकर चार्वाकोंसे कह रहे हैं कि चार्वाक जन जो प्रागभावका लोप कर रहे हैं, जो

कि प्रसिद्ध है, प्रागभाव प्रमाणसे सिद्ध है उसका भी जब ये लोप कर रहे हैं तो प्राग-भावका निह्नव किया जानेपर पृथ्वी आदिक जो कार्यद्रव्य हैं वे अनादि हो जायेंगे और इस ही प्रकार चार्वाकोंके यहां चूँकि प्रध्वंसका अपलाप किया है तो प्रध्वंसाभाव प्रध्वंस होकर चीज नहीं रहती इस स्वभावका अपलाप किया जानेपर पृथ्वी आदिक कार्यद्रव्य अनन्त बन जायेंगे। अब उन कार्यद्रव्योंका कुछ भी विनाश न होगा। तो कोई यहाँ शंका करे कि फिर तो प्रागभाव आदिकका लोप करने वाले चार्वाक ऐसा ही मान लें तब क्या हर्ज है कि पृथ्वी आदिक कार्य द्रव्य अनादि भी हैं और अनन्त भी है। तो कहते हैं कि प्रागभाव आदिकका अपह्नव करने वाले चार्वाक मान नहीं सकते यह कि कार्य द्रव्य अनादि है और अनन्त है। यह तो उनको आपत्ति बताई गई है। क्यों नहीं मान सकते कार्यद्रव्यको अनादि अनन्त कि य मान लेनेपर उन चार्वाकों के मनमें स्वयं गिर व आयगा और फिर वे लौकायतिक न रहेंगे। क्योंकि लौकायतिक कहते हैं लोकव्यवहारको मानने वाले। चार्वाक लौकायतिक भी कहते हैं क्योंकि यहां केवल जो इन्द्रियसे जाना जाता है कि उस ही को सत्य मानते हैं अन्य परोक्ष आदिक किसी पदार्थको सत्य नहीं मानते। अब मान बैठें ये पृथ्वी आदिक पदार्थोंको अनादि अनन्त तब परोक्षभूत बात और यों परलोकादिककी सिद्धि हो पड़ेगी, जो कि चार्वाकों को अनिष्ट और अमान्य है।

स्याद्वादाभिमत प्रागभावमें चार्वाकप्रस्तुत दूषणोंका अभाव—अब यहाँ चार्वाक शंका करते हैं कि यह जो कहा गया कि प्रागभाव प्रमाणसे सिद्ध है सो कैसे प्रागभाव प्रमाणसे प्रसिद्ध है? प्रागभावके सम्बन्धमें तो कितने ही अभी दूषण हमने दिए हैं। उन दूषणोंसे दूषित होनेके कारण प्रागभावकी व्यवस्था नहीं बनती। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका करना युक्तिपूर्ण नहीं है स्याद्वादीजन जो प्रागभाव मानते हैं। प्रागभावका जो यथार्थ स्वरूप है उस स्वरूपमें चार्वाकके द्वारा कहे गये इन दूषणोंका अवकाश नहीं है और नैयायिक आदिकके द्वारा माने गए अभाव में तो जो दूषण दिया है उन दूषणोंके सम्बन्धमें तो हम कुछ कहना भी नहीं चाहते कि नैयायिक आदिकके द्वारा माना जो प्रागभाव है उसका तो स्याद्वादीजन भी निराकरण करते हैं। उन्होंने माना है यह कि अभाव भावरूप नहीं है क्योंकि अभाव भावका विशेषण है। जो भाव अर्थात् पदार्थके विशेषणरूपसे स्वीकार किया गया प्रागभाव स्याद्वादियोंने नहीं माना। सो यह दूषण उनमें लगो तो लगे, पर स्याद्वादियों द्वारा माने गए प्रागभावमें उन दूषणोंका अवकाश नहीं है।

प्रागभावमें चार्वाकोक्त दूषण न आनेका विवरण—देखो—चार्वाकोंने जो दूषण दिया है कि प्राग अनन्तर-परिणामका नाम प्रागभाव है। अथवा वह अनन्त परिणामका नाम प्रागभाव है। अथवा वह अनन्त है आदिकरूपसे जो चार तरहके विकल्प उठाकर दूषण दिया है उन सब विकल्पोंसे यहां दूषण नहीं आता, क्योंकि

देखिये ऋजुसूत्रनयकी विवक्षासे प्रागभाव कार्यके उपादान परिणाम रूप ही पहिले अनन्तरका रहने वाला स्वरूप है। जैसे कि घटका प्रागभाव घटके ही एकदम निकट पहिले होने वाला मृत्पिण्डरूप कार्यक्षण है। उस मृत्पिण्डरूप पूर्व भावक्षणको प्राग-भाव रूप माननेपर यह दोष नहीं आ सकता कि फिर तो पूर्व अनादि पर्यायकी सत तियोमे कार्यका सद्भाव हो जाना चाहिए। जब कि प्रागभाव केवल कार्यके पहिले समयका परिणाम ही है। घटका मृत्पिण्ड ही प्रागभाव है। तो मृत्पिण्डसे पहिले अनादिकालसे चूँकि मृत्पिण्ड न था तो घटका प्रागभाव न रहनेसे घट उत्पन्न हो जाय और घट अनादि बन जाय यह दोष नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्रागभाव के विनाशको कार्यरूपसे माना है। प्रागभावके अभावमात्रको कार्य नहीं माना, किन्तु प्रागभावका विनाश होता घटमे पहिले रहने वाला मृत्पिण्ड घटका प्रागभाव है तो प्रागभाव हो उसका फिर विनाश हो तब घटकी उत्पत्ति होगी। मृत्पिण्डके पहिले प्रागभाव नहीं है यह बात भी कुछ मानी जा सकती है, लेकिन प्रागभावका विनाश नहीं है। अतएव मृत्पिण्डसे पहिले घटकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। सो आगे की कारिकामे कहेंगे यह बात कि हेतुके क्षयका नाम कार्यका उत्पाद है, अर्थात् किसी भी कार्यके समुचित उपादानरूप परिणामका विनाश होना ही कार्यके होनेका कारण है। ओघ उपादान और समुचित उपादानमे ओघ उपादान तो द्रव्य है जो पर्याय जिस द्रव्यमे सम्भव हो सकती है उस पर्यायको उस द्रव्यमे बताना यह कह-लाता है ओघ उपादान और जो पर्याय जिस पर्यायके अनन्तरमे बनती है वह समुचित उपादान कहलाता है। जो समुचित उपादान रूप प्रागभाव होता है और उस परि-णामका, हेतुका क्षय होनेका नाम है कार्यका उत्पाद। प्रागभाव और उसके प्रागभाव आदि जो पूर्व पूर्व परिणाम हैं, उनकी सन्तति जो कि अनादि है उनको विवक्षित कार्य पता नहीं बतायी गई है। इस कारण प्रागभाव जैसा कि स्याद्वादियोंने माना है उस सिद्धान्तमे कार्य अनादिमे हो जाय प्रागभावके अभावमे यह दोष नहीं आता। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही कार्य माना गया है।

प्रागभावोंमे इतरेतराभावके आधारपर चार्वाकों द्वारा कहे गये दूषणों का अप्रवेश—चार्वाकोंने एक इस दूषणकी भी कल्पनाकी थी कि प्रागभाव और उसका भी प्रागभाव जो अनन्त प्रागभावोंमे विवक्षित कार्यका इतरेतराभाव होना चाहिए और जो इतरेतराभावक होनेकी बात कहकर उस पक्षमे दूषण दिया था सो स्याद्वादीजन प्रागभाव और उसके भी प्रागभावमे इतरेतराभावकी कल्पना नहीं करते हैं। इतरेतराभावसे द्वारा विवक्षित कार्यका अभाव नहीं ढूँढते जिस कारणसे कि इस रक्षम दिए गए दूषणका अवगाह हो सके क्योंकि प्रागभावकी विनाशरूपता ही समस्त प्रागभावों और घटोंसे व्यावृत्ति करता है याने प्रागभावकी विनाशरूपता ही इतरेतरा भावको हटा देती है, और इस तरह कार्यके पूर्व अनन्तर ही जो परिणमन है उसे प्राग-भाव माना गया है और इसका प्रागभाव माननेपर प्रागभावके अनादिपनेका विरोध

भी नहीं माना याने एक कार्यका उससे अनन्तर पूर्व समयमें रहने वाला जो पर्याय है उसको प्रागभाव माना है सो उस अनन्तर पर्यायके प्रागभाव माननेपर भी पूर्वके जो अनन्त जो समय आ गए हैं उनमें भी वह प्रागभाव अनादि है अर्थात् कार्य इस विव क्षित समयमें ही हुआ है इससे पहिले अनादिकालमें कभी नहीं हुआ इस तरहके अनादिपनेका विरोध नहीं आता, क्योंकि प्रागभाव और उसका भी प्रागभाव यों प्राग-भावकी सन्तान तो अनादिरूपसे मानी ही गई है, क्योंकि द्रव्य तो अनादि है और विवक्षित कार्यका प्रागभाव और उसका भी प्रागभाव ये सब अनादि सन्तति से चले आ रहे हैं ऐसा होनेपर यह भी दूषण देना योग्य नहीं है कि फिर पर्यायोंसे तत्त्व, कार्य अभेदरूपसे है अथवा भेदरूपसे है याने पर्यायोंसे द्रव्य भिन्न है अथवा अभिन्न है ऐसा पक्ष उठाकर जो एक द्रव्यमें दूषण दिया गया था वह दूषण नहीं बन सकता, क्योंकि पर्यायोंका द्रव्यसे कथंचित् अभेद है और कथंचित् भेद है। पूर्व-पूर्व प्रागभाव-स्वरूप अभाव क्षणोंसे ही जिसका कि भेद विवक्षित नहीं है, एक मात्र प्रागभाव है विवक्षित कार्यसे पहिले विवक्षित कार्यका अभाव है ऐसी विवक्षामें पूर्वको पर्यायमें कोई भेद नहीं डाला, ऐसे उन पूर्व-पूर्व प्रागभाव स्वरूप अभाव क्षणोंको ही सन्तान पना माना है, किन्तु सन्तानोंके क्षणकी अपेक्षासे याने पर्यायोंकी अपेक्षासे तो सादिपना ही है, उसमें अनादित्वका अभाव ही माना गया है। सो पर्याय अपेक्षासे प्रागभावमें अनादिपना नहीं है इतनेपर भी उसमें दोष नहीं आता। इस प्रकार ऋजुसूत्रनयके अभिप्रायमें मन्तव्य बनता ही है क्योंकि ऋजुसूत्रनय क्षण विध्वंसी पर्यायरूप अर्थका ही ग्रहण करने वाला है, सो ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें प्रागभाव अनादि न हो तब भी कोई दोष नहीं है क्योंकि वस्तु केवल पर्यायमात्र नहीं है, वह द्रव्य पर्यायात्मक है।

प्रागभावका अपन्हव करनेके लिये उठाये गये द्वितीय विकल्पमें भी चार्वाकके मन्तव्यकी सिद्धिकी असम्भवता —यहाँ चार्वाकोंने प्रागभावका खण्डन करनेके लिए चार विकल्प उठाये थे क्या घटका प्रागभाव पूर्व अनन्तर पर्यायरूप है? क्या घटका प्रागभाव मिट्टी आदिक द्रव्य मात्र है? क्या घटका प्रागभाव घटसे पूर्व रहने वाली समस्त पर्यायोंकी सन्तति ही है? अथवा क्या प्रागभाव द्रव्यपर्यायात्मक है? इन चार विकल्पोंमेंसे प्रथम विकल्पका तो निराकरण किया अर्थात् घटका प्राग-भावसे पहिले अनन्तर पर्यायरूप है इसपर भी प्रागभावको असिद्ध करनेके लिए जो दूषण दिये गये थे वे दूषण कोई भी घटित नहीं होते। अब दूसरे विकल्पकी बात सुनो चार्वाकका प्रश्न था, कि घटका प्रागभाव क्या मिट्टी द्रव्यमात्र है? तो देखिये! व्यव-हारनय नामक द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे मिट्टी आदिक द्रव्य घटादिकका प्रागभाव है ऐसा कहनेपर भी घटमें प्रागभावकी अभाव स्वभावता नष्ट नहीं होती। अर्थात् कार्य प्रागभावके अभावरूप ही होता है इसमें कोई बाधा नहीं आती। और, इसी कारण जो यह शंकाकारने कहा था कि फिर तो द्रव्यके अभावकी ही असम्भवता है, जब द्रव्य मात्र प्रागभाव है तो उसका तो कभी अभाव होता ही नहीं। तो प्रागभावका जब

कभी प्रभाव न होता तो घट आदिक कार्यकी उत्पत्ति कभी भी न होगी। ऐसा दूषण भी घटित नहीं होता क्योंकि कार्य रहित पूर्वकालके विशिष्ट मिट्टी आदिक द्रव्य में ही घट आदिकका प्रागभाव है इस तरह माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे घटका प्रागभाव समझना है तो घटसे पूर्वकालमें जिस प्रकारका भी मिट्टी द्रव्य है जो कि कार्यरहित है। घट पर्यायसे शून्य है। ऐसा मिट्टी द्रव्य घटका प्रागभाव है और पूर्वकाल विशिष्ट कार्यरहित मिट्टी द्रव्यका विनाश सिद्ध है। सो जब कार्यकी उत्पत्ति हुई है, जब घड़ा बन गया तब घड़ेसे पूर्व समयमें जो कुछ भी विशिष्ट पर्याय थी, घट कार्यसे रहित थी उसका विनाश हो गया तब हुआ क्या कि कार्य रहितपनेके विनाशके कारण कार्य सहितपनेरूप द्रव्यका उत्पाद हो गया। अवस्थाका विनाश हुए बिना कार्यसहितरूपसे उत्पत्ति बन नहीं सकती याने मिट्टी तो वही है। अब जिस समय घट पर्याय रहित मिट्टी है जिसके बाद ही घट पर्याय होनी है तो घट पर्याय जब होनी है तब हुआ क्या ? घटकार्य सहितरूपसे मिट्टी हुई और पहिली पर्यायका हुआ क्या ? कार्यरहित जो दशा थी उस कार्यरहित जो दशा थी उस कार्यरहित दशा का विनाश हो गया तो यो कार्यरहितपनेका विनाश हो कार्य सहित रूपसे उत्पत्ति बनती है। याने उपादान स्वरूप प्रागभावका क्षय हो तो उससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। घटके बाद खपरियाँ बनेंगी। तो जब तक घट है तब तक खपरियाँ रहित ही तो स्थिति है और जब खपरियाँ बनती हैं घटमें ठोकर देनेसे जो घटका प्रध्वंस होता है और खपरियोंका उत्पाद होता है तो ऐसी खपरियोंका उत्पन्न होना कैसे हुआ कि उपादानात्मक प्रागभाव है, घट पर्याय है उसका क्षय हुआ, वही हुआ खपरियोंका उत्पाद। तो जो दूसरा विकल्प किया गया था कि मिट्टी आदिक द्रव्यमात्र क्या घट आदिकका प्रागभाव है तो विवक्षाइहित यह भी सिद्ध होता है।

प्रागभावस्वरूपमें उठाये गये तीसरे विकल्पमें भी चार्वाकोंके स्वार्थ सिद्धिकी असम्भवता—अब शंकाकारने जो तीसरा विकल्प उठाकर प्रागभावका निराकरण करना चाहा था वह विकल्प क्या था कि क्या घटका प्रागभाव घटसे पहिले होने वाली सारी पर्यायोंकी संतति है ? तो यह विकल्प भी प्रागभावका निराकरण करनेमें समर्थ नहीं है। इस पक्षसे पूर्व पर्यायें सारी हैं जो अनादि संततिसे चली आयी हैं वे पक्षके प्रागभाव हैं। ऐसा कहनेपर भी चार्वाक द्वारा बताये गये दूषणका प्रसंग नहीं आता जैसे कि चार्वाकने कहा था कि घटका प्रागभाव यदि पहिली सब पर्यायें हैं तो जैसे घटसे पहिले होने वाली पर्यायकी निवृत्ति होनेपर घटका उत्पाद माना गया है उसी प्रकार उससे पहिले भी अनेक पर्यायें निवृत्त होती रहती हैं। तब उन समयोंमें भी उन पूर्वपर्यायोंकी निवृत्ति होनेपर घट उत्पन्न हो जाय यह दूषण नहीं आता कि पूर्वपर्यायोंकी निवृत्तिकी तरह उसमें पूर्व पर्यायकी निवृत्ति होनेपर घटकी उत्पत्ति हो जाय सो नहीं, और इस दूषणके साथ जो यह भी दूषण लगाया था कि फिर तो पूर्वपर्यायकी निवृत्ति होते रहना जैसे अनादि है उस ही तरह घट भी अनादि बन

हुयी कि प्रागभाव भावस्वभाव हो है और वह है एकानेकस्वभाव भाववान, इस कारण वह एक है अथवा अनेक है। ऐसा एकान्त पक्षमे दिया गया दोष यहां नही लगता। स्यात् प्रागभाव एक है स्यात् प्रागभाव अनेकस्वभाव है।

प्रागभावको भावस्वरूप माननेमे चार्वाकोकी शल्यका निराकरण—यहां चार्वाक कहते हैं कि प्रागभावका यदि भावस्वभाव मान लिया जाता है तब यह कार्य पहिले न था इस प्रकारके नास्तित्व ज्ञानका विरोध होता है अर्थात् जब प्रागभाव सद्भावरूप हो गया तब वहां किसी द्रव्यपर्यायमे नास्तित्वका ज्ञान कैसे बन सकता है? वह तो है भावस्वभाव, तब मृत्पिण्डरूप प्रागभावमे यह घट घटसे पहिले न था इस प्रकारका नास्तित्व प्रत्यय न बनेगा। समाधानमे कहते हैं कि प्रागभावसे भावस्वभाव माननेपर भी कार्य पहिले न था यह नास्तित्वका ज्ञान बन जाता है। क्योंकि कार्यका अभावाभावान्तररूप होता है और कार्यका भावान्तररूप जो कार्यसे अनन्तर पूर्व रहने वाली पर्याय है उसके नास्तित्व वह ज्ञानका कोई विरोध नही है। जैसे कि घटरहित पृथ्वीके आधार घट नहीं है इस प्रकारका ज्ञान होता है तो घटका नास्तित्व यहां घटरहित भूतल है। तो जैसे घटरहित भूतलमे घटके नास्तित्वका प्रत्यय बन जाता है, इसी प्रकार भावस्वभाव प्रागभावमें कार्य पहिले न था इस प्रकारका नास्तित्वका प्रत्यय बन जाता है। यो नय और प्रमाणकी विवक्षासे द्रव्यरूप, पर्यायरूप द्रव्यात्मक प्रागभाव सिद्ध होता है और यो प्रमाण प्रसिद्ध प्रागभावका चार्वाक सिद्धान्तमे लोप किया है। तो प्रागभावका निन्हव करने पर कार्य अनादि बन बैठेगा, इस प्रकारका दूषण आता है। अतः प्रागभावका लोप न करना चाहिए याने चार्वाकदर्शनका मतव्य न बनाना चाहिए।

प्रध्वंसाभावकी प्रमाणप्रसिद्धिके वर्णनमे ऋजुसूत्रनयकी विवक्षासे उपादेयक्षणकी उपादानप्रध्वंसरूपता—अब यहां चार्वाक पूछता है कि हम चार्वाकोके यहाँ प्रध्वंसाभाव कैसे प्रसिद्ध होगा? प्रध्वंसाभाव प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तो इसके समाधानमे कहते हैं कि नय और प्रमाणकी विवक्षासे प्रध्वंसाभाव भी सिद्ध होता है। कैसे सिद्ध होता है सो सुनो! ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे तो उपादेय क्षण ही उपादानका प्रध्वंस कहलाता है। उपादेयका अर्थ है कार्य, जो उपादानसे प्रकट हुआ है उसे उपादेय कहते हैं। और उपादानका अर्थ है कारण। तो प्रागभावका प्रध्वंस होना सो ही कार्यकी उत्पत्ति है। तो ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे कार्यरूप जैसे कपाल ...रियोका पुञ्ज है वह ही घटका प्रध्वंस कहलाया। कपालोका प्रागभाव ...सूत्रनयकी दृष्टिसे तो वह उपादेय ही उपादानका प्रध्वंस है। ... उपा- ...उपादेयका प्रध्वंस कल्पना बन जानेपर यह शंका नही कर सकते कि ...देय क्षणके बादमे अर्थात् घट फूटकर खपरियाँ ... समयमें चूंकि अब प्रध्वंसका अभाव ...

प्रध्वंस हुआ था जब कि घड़ा फूट गया था। अब ठीकरियाँ बननेके बाद घड़ा तो नहीं फूट रहा, तो प्रध्वंसाभाव होनेसे फिर घड़ेका पुनर्जीवन हो जाय अर्थात् घड़ा फिर बन जाय यह दोष न आयगा। क्योंकि कारण कार्यका उपमर्दनात्मक नहीं होता। यानी कार्यका उपमर्दन करके, विनाश करके, प्रध्वंस करके कारण नहीं बनता किन्तु उपादानका उपमर्दन होना कार्यकी उत्पत्तिरूप है यानी समुचित उपादान कारण का प्रध्वंस होना, उपमर्द होना ही कार्यकी उत्पत्तिरूप है। प्रागभाव और प्रध्वंस, ये उपादान उपादेयरूप माने गए हैं। प्रागभाव तो है उपादान कारण और प्रध्वंस है उपादेयरूप, कार्यरूप। तो यों प्रागभावके उपमर्दनरूप ही प्रध्वंसका आत्मलाभ होता है अर्थात् प्रागभावके नष्ट होते ही प्रध्वंसाभाव बनता है। अब यहाँ चार्वाक शंका करते हैं कि इन दोनों अभावोंमें उपादान उपादेयभाव कह सकते हैं क्योंकि यह तो अभावरूप है, असत् है। जो असत् है उसमें कोई उपादान कहलाये और कुछ उपादेय कहलाये यह बात कैसे सम्भव है? तो समाधानमें पूछते हैं कि भावोंमें उपादान कैसे सम्भव है? उत्तर दिया जाता है यानी चार्वाक यहाँ कहते हैं कि भावोंमें, सद्भावरूप पदार्थोंमें तो उपादान उपादेय यों बन जाता है कि जिसके होनेपर जिसका आत्मलाभ बने वह तो है उपादान और जो कार्य बना वह है उपादेय। तो उत्तरमें कहते हैं कि यही बात अभावमें लगा लीजिये—कारणात्मक पूर्वक्षणवर्ती प्रागभावके होनेपर प्रध्वंसका स्वरूपलाभ होता है अर्थात् कार्यस्वरूप जो उत्तरपर्याय है उसका स्वरूपलाभ होता है, तो यों प्रागभाव उपादान बन गया और प्रध्वंस उपादेय बन गया क्योंकि जिसके होने पर जिसका आत्मलाभ हो वहाँ उपादान उपादेय व्यवस्था है ऐसा माना गया है। तो प्रागभावके होनेपर प्रध्वंसका आत्मलाभ होता है अतएव प्रागभाव उपादान है और प्रध्वंस उपादेय है। हाँ, यदि तुच्छ अभाव हो, जो सर्व स्वभावरहित अभाव मानते हैं जैसे नैयायिकोंने माना है कि अभाव भावस्वभावी नहीं है किन्तु तुच्छ अभावरूप है तो ऐसे तुच्छ अभावमें तो उपादान उपादेयका विरोध आयगा और भावस्वरूप अभावके माननेमें उपादान उपादेय भावका विरोध नहीं होता। यह तो हुआ एक ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे अनन्तर पर्यायरूप प्रध्वंसकी सिद्धि।

व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे मृदादिद्रव्यमात्रकी प्रध्वंसाभावस्वरूपता—अब मृत्कादि द्रव्यमात्र प्रध्वंस होता है इसके सम्बन्धमें सुनो कि व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें घटके उत्तरकालमें रहने वाले घटके आकारसे रहित मिट्टी आदिक द्रव्य ही घटका प्रध्वंस है और वह प्रध्वंस अनन्त बनता है। इस प्रध्वंसकी आदि तो हुई पर अन्त न रहेगा। प्रध्वंस हुआ है तो प्रध्वंस ही रहेगा। तो यों घटाकार रहित घटके उत्तरकालमें अनन्त घट प्रध्वंस होता है अर्थात् अविनाशी प्रध्वंस होता है, ऐसा माननेपर यह सिद्ध हुआ कि घटमें पूर्वकाल वर्ती जो मिट्टी द्रव्य है वह घटका प्रागभाव ही है, वह प्रध्वंस नहीं है। घटके अभाव का नाम प्रध्वंस नहीं, किन्तु घटाकार होकर फिर घटाकारसे रहित होनेका नाम

प्रध्वंस है और घट होनेसे पहिले सभी पर्यायोंमें घटका अभाव है, वह प्रागभाव कहलाता है। तथा घटाकार भी घटका प्रध्वंस नहीं कहलाता। जैसे घड़ा उत्पन्न होनेसे पहिले कि घड़ेमें घड़ेका प्रध्वंस नहीं है इसी प्रकार घटाकारकी वर्तमान पर्याय में भी घटका प्रध्वंस नहीं रहता क्योंकि यह कहा गया कि घटाकारसे रहित मिट्टी द्रव्य प्रध्वंस है। इसमें घटाकार विकल इस प्रकारका विशेषण दिया है। अब यहाँ चार्वाक शंका करते हैं कि यदि घटाकार विकल मिट्टीका नाम घटका प्रध्वंस है तो घटके उत्तरकालमें जो घटाकार विकल अन्य सतान है, अन्य मिट्टी है वह भी घटका प्रध्वंस बन जाय। यानी जो घट फूटा है उस घटाकार विकलको घटका प्रध्वंस माना गो तो ठीक, लेकिन घटाकार विकल मिट्टी द्रव्यको प्रध्वंस माननेपर जो दुनियाभरमें अन्य घटाकार विकल मिट्टी पड़ी है अन्य जगहकी जो खपरियाँ आदिक है वे भी इस घटकी प्रध्वंस बन जाये। उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ द्रव्यका ग्रहण किया। जिस मिट्टीमें घटाकार हुआ था उस हीमें जब घटाकार का विनाश हो जाय तो वह घटका प्रध्वंस है। वर्तमान पर्यायके आश्रय एकरूप हो मिट्टी आदिक इसके द्रव्य कहे जाते हैं। याने जो पर्याय जिसमें बर्त रही है वही द्रव्य कहा जायगा अन्य मिट्टी नहीं, अन्य पदार्थ नहीं। भले ही उस जातिके अन्य पदार्थ नहीं। भले ही उस जातिके अन्य पदार्थ हैं, पर जिसमें जो पर्याय बर्त रही है वह ही उसका द्रव्य कहला सकेगा, क्योंकि अन्य जो पर्यायें हैं, सतानान्तर जो हैं वे अपनी इस प्रकार अतीत अथवा अनागत पर्यायके अन्वयी नहीं हैं वे तो स्वयके हो अतीत अनागत पर्यायोंमें रहने वाले हैं। जैसे एक ग्राममें घड़ा फूटा तो उस ही ग्रामके उस ही घट पर्यायमें अन्वयी रूपसे रहने वाली मिट्टी उसका द्रव्य है। यों दूसरे गावमें भी फूटना रहता है। दूसरे गावकी जो घटादिक पर्यायें हैं उनका अन्वय उन ही गाओंकी उन मृत्तादिकोंमें है। किसी विवक्षित कार्यका द्रव्य अन्य न कहलायेगा। और, यों प्रमाणसे प्रसिद्ध होता है कि प्रध्वंस भी वस्तुका धर्म है और यह प्रध्वंस भावस्वरूप है। उस प्रध्वंसका जो अपन्हव करना है सो उस अपन्हवके करने पर अर्थात् प्रध्वंस भावके न माननेपर जितने भी कार्य द्रव्य हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु ये समस्त कार्य द्रव्य अनन्त बन जायेंगे। जब प्रध्वंस नहीं मानते तो कार्यका फिर कभी विनाश ही न होगा। यो प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका लोप करने वाले चार्वाकोंके यहाँ कार्यद्रव्य अनादि और अनन्त हो जानेका प्रसग आता है। सांख्य सिद्धान्तमें भी प्रागभाव न माननेपर घट आदिक पदार्थोंकी अनादि होनेका प्रसग आता है। और जब घटपट आदिक पदार्थ, अनादि बन बैठते हैं तब पुरुषका व्यापार करना अनर्थक हो जाता है। कुम्हार क्यों घड़ा बनानेका प्रयत्न करता है? घड़ा तो अनादि है। सांख्य सिद्धान्तको सत्कार्यवाद भी कहते हैं। सत्कार्यवादका अर्थ है कि प्रत्येक कार्यकारणमें पहिलेसे ही मौजूद है। केवल उसकी अभिव्यक्ति करना होती है जैसे बड़का जो एक छोटा दाना है उसमें अनगिनते पेड़ और अनगिनते फल

मौजूद हैं। केवल उसको बोकर, हल उगाकर अभिव्यक्ति की जाती है। तो इस तरह जो समस्त कार्योंका अनादि मान रहे हैं, प्रागभाव नहीं मानते याने जैसे घटके एक दीवमें भविष्यमें होने वाले दृश्योंका अभाव नहीं मानते तो उनके सिद्धान्तमे कार्य अनादि बन बैठेगा और तब पुरुषके व्यापारकी अनर्थकता बन जायगी। फिर किसलिए पुरुषका व्यापार होगा? पुरुषके व्यापारके बिना घट आदिक पदार्थ होते हुए कहीं भी तो नहीं दिखते। इस कारण उन्हें टाला नहीं जा सकता। जब कि पुरुषके व्यापारके बिना घटपट आदिक पदार्थ उपलब्ध ही नहीं होते तब उनको कार्य द्रव्य मानना ही पड़ेगा। चाहे उसे सम्बंधरूपसे कार्य द्रव्य कहे और चाहे सीधा ही कार्यद्रव्य कहें वह कार्यद्रव्य कहलायेगा और जब कार्यद्रव्यका लोप किया है सांख्य सिद्धान्तानुयायियोंने तब घट आदिकसे पहिले भाव तो था नहीं। प्रागभावके लोपका अर्थ ही यह है तब वह कार्यद्रव्य अनादि हो जाता है। यह दूषण भली प्रकारसे अभिव्यक्तिवादमें भी आता है। समर्थन रूपसे जिनके सिद्धान्तमें कार्य द्रव्यको मानना पड़ा उनको ऐसा ही दूषण आयगा जैसा कि चार्वाक उद्भावरूपसे कार्यद्रव्य मानते हैं और उनका दूषण आता है। जो पदार्थ नहीं है जब तक तब तक उनका प्रागभाव मानना ही होगा, अन्यथा कार्यद्रव्यकी निष्पत्तिका प्रसंग आता है। अत: किसी भी प्रकार प्रागभावका लोप करनेपर व्यवस्था नहीं बनती।

सांख्यसिद्धान्ताभिमत अभिव्यक्तिरेक मन्तव्यमे प्राप्त दूषणकी तरह मीमांसकाभिमत अभिव्यक्तिके मन्तव्यमे भी प्रागभाव न माननेपर विडम्बना—जिस तरह सांख्य सिद्धान्तके अभिव्यक्तिके मन्तव्यमें यह दूषण आता है उस ही प्रकार मीमांसकोंके यहां भी शब्दका प्रागभाव न माननेपर अनादिपना आ जाता है। सांख्य सिद्धान्त भी अभिव्यक्ति मानते हैं और मीमांसक भी अभिव्यक्ति मानते हैं। अन्तर इतना है कि मीमांसक तो आकाश नामक द्रव्यका गुण मानते हैं शब्दको और सांख्य प्रकृतिका विकार मानते हैं शब्दको, किन्तु अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें तो दोनोंकी स्थिति समान है। जैसे घट आदिकके विषयमें कहा था कि प्रागभाव नहीं मानते तो वह अनादि हो जायगा और फिर घट आदिकको निकट लानेके लिए प्रकट करनेके लिए पुरुषका व्यापार अनर्थक हो जायगा। यों ही यदि प्रागभाव नहीं मानते हैं मीमांसक जन तो उसके यहां भी शब्दको प्रकट करनेके लिए पुरुषका व्यापार अनर्थक होजायगा।

पुरुषके व्यापारको शब्दाभिव्यक्तिमे उपयोगी बतानेका मीमांसकका विफल प्रयास—अब यहां मीमांसक कहते हैं कि शब्दके प्रकट करनेमे पुरुषका व्यापार उपकारी है अत: पुरुषका व्यापार अनर्थक नहीं होता। पुरुषके व्यापारने शब्दको उत्पन्न नहीं किया, किन्तु शब्दको प्रकट किया है अतएव पुरुषका व्यापार निरर्थक तो न रहा। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन युक्तिसंगत नहीं है है, क्योंकि पुरुषके व्यापारसे पहिले शब्द है, इसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं। शब्द है

और उनके पुद्गल आगारसे अभिव्यक्ति होती है, यह कल्पना नहीं बन सकती । केवल एक मान्यताकी हठसे कोई कल्पना करना तो करले भी करे, किन्तु उनका हृदय भी मंजूर न करेगा । देखो ! अभिव्यक्तिकी कल्पना किस तरह होती है ? अंधकारमें कोई कलश आदिक रखे हैं तो कलश आदिक वर्तमान हैं उनके कार्यका आवरण पड़ा हुआ है । तो जो कलश अंधकारसे ढके हुए हैं वे कलश दीपक व्यापारसे पहिले भी उनके सद्भावका सिद्ध करने वाला प्रमाण है, जैसे अंधेरेमें ही बैठा हुआ पुरुष हाथसे टटोलकर स्पर्शन ज्ञान जाता है कि यह घड़ा है तो स्पर्शन प्रत्यक्ष आदिक से उन घड़ा आदिकके सद्भावको सिद्ध करने वाला प्रमाण है, अतएव जो पहिलेसे सत् है घट पट आदिक और अंधकारसे ढके हुए हैं तो वहाँ दीपक जलाया जाय दीप प्रकाश किया जाय तो अभिव्यक्ति हो जाती है । वे घट पट आदिक पदार्थ प्रकट दिखने लगते हैं । तो ऐसे स्थितिमें तो अभिव्यक्तिकी कल्पना युक्त है और शब्दकी अभिव्यक्ति की कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि शब्दके सद्भावको सिद्ध करने वाला दर्शन प्रत्यक्षादिक कोई प्रमाण नहीं है ।

शब्दकी शाश्वतता की प्रत्यभिज्ञानसे भी सिद्धिकी असम्भवता - यहाँ मीमांसक कहते हैं कि शब्दके सद्भावको सिद्ध करने वाले प्रत्यभिज्ञान आदिक प्रमाण तो हैं, उन प्रत्यभिज्ञानादिकसे शब्दकी सत्ता सिद्ध हो जाती है । उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानादिक प्रमाण तो शब्द सत्त्व साध्यसे विरुद्ध बातको सिद्ध करते हैं । देखो ! शब्द है प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमें जाना जाता है, यह अनुमान बना रहे हैं शंकाकार तो इस अनुमानमें साध्यकी तो है सर्वथा सत्त्व याने शब्द अनादि कालसे सर्वप्रकारसे है तो शब्दकी अभिव्यक्तिमें पहिले सर्वथा सत्त्व नामक साध्य कहाँ है बल्कि उससे विपरीत कथंचित् सत्त्वके साथ प्रत्यभिज्ञानकी व्याप्ति लगती है शब्द पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षासे तो उसमें सत्त्व है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे शब्दमें असत्त्व है । तो शब्दकी अभिव्यक्तिसे पहिले शब्दमें कथंचित् सत्त्व है, सर्वथा सत्त्व नहीं है अतः प्रत्यभिज्ञान आदिक प्रमाणोंसे शब्दका सत्त्व सिद्ध नहीं होता । अभिव्यक्तिसे पहिले यदि शब्दमें सर्वथा सत्त्व माना जाय तो वहाँ प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानका लक्षण कहा गया है यह कि दर्शन और स्मरण है कारण जिसमें ऐसा जो संकलनात्मक ज्ञान है वह प्रत्यभिज्ञान है, जैसे कि यह वही है, यह जो किया है वह तो हुआ वर्तमान और वही है इन शब्दोंमें जो ज्ञान बना है वह है स्मरण । तो यों प्रत्यक्ष और स्मरणके कारणसे जो संकलनात्मक ज्ञान होता है । सो यहाँ प्रत्यभिज्ञान मानना बन नहीं सकता, क्योंकि अभि- पदार्थोंके व्यापारसे पहिले शब्दके सद्भावको सिद्ध करने वाला भी एकत्व प्रत्यभिज्ञान बनाया जाता है, वहाँ वर्तमानसे पहिले ी सिद्धि बनी हुई है । जैसे कि कहा है देखा था । तो यहाँ इस समय

तो है प्रत्यक्ष यो शब्द भी ज्ञानमें आता है लेकिन स्मरण जो बन रहा है एक वर्ष पहिलेका उस स्मरण नामक प्रमाणसे देवदत्तकी सत्ता पहिले सिद्ध है तब प्रत्यभिज्ञान बनता है लेकिन शब्दकी अभिव्यक्तिसे पहिले शब्दको प्रकट करने वाले पदार्थोंके व्यापारसे पहिले शब्दका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

मीमांसकाभिमत सर्वथा विद्यमान शब्दमें प्रमाण ग्राह्यत्वकी असंभवता—एक बात और भी है। जो पदार्थ सर्वथा विद्यमान है, सर्वथा विद्यमान पदार्थ प्रमाणग्राह्य होता ही नहीं है। आखिर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह पदार्थ अभी अप्रमाण ग्राह्य था याने प्रमाण द्वारा अग्राह्य था। अब वही पदार्थ प्रमाण ग्राह्य बना तो अब देखिये कि वह पदार्थ पहिले प्रमाण द्वारा अग्राह्यत्व धर्मसे युक्त था और प्रमाण द्वारा ग्राह्यत्व धर्ममें युक्त बन गया। तो जैसा इस समय बना हुआ है उस प्रकारसे सर्वथा सत्त्व तो पहिले न था। तो जो सर्वथा ही विद्यमान हो वह प्रमाण ग्राह्य नहीं बनता। उसमें भी धर्म विशिष्टताकी अपेक्षासे कथंचित सत्त्व और कथंचित असत्त्व मानना होगा तो यों यह शब्द अभिव्यञ्जकसे विलक्षण है, अर्थात् जो जो पदार्थ प्रकट होनेमें आते हैं ऐसे उन घट पट आदिक पदार्थोंसे बिल्कुल विलक्षण हैं। ये घट पट आदिक तो अन्धकारसे कपड़ेसे ढके हुए उनका अन्तः सद्भाव है तब वहाँ दीप आदिकसे या आवरणके हटानेसे अभिव्यक्ति होती है। लेकिन इस तरहसे अभिव्यक्ति की पद्धति वाला शब्द नहीं है, अतः शब्दकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है, किन्तु द्रव्यभूत पदार्थ अनादिसे ही सत् है उसे तो मानो। शब्द है पुद्गल द्रव्यका परिणमन। तो पुद्गल द्रव्य तो शाश्वत है, किन्तु शब्दरूप परिणमन शाश्वत नहीं है तो शब्द जब पहिले न था और वक्ता व्यापारसे उसका प्रकटीकरण हुआ तो मानना होगा कि शब्दकी उत्पत्ति हुई और इसी तरह जो सत्कार्यवादी यह कहते हैं कि घट भी बनता नहीं है, किन्तु कुम्हार आदिकके व्यापारसे घट आदिककी अभिव्यक्ति होती है, यह कल्पना भी निराकृत हो जाती है।

अभिव्यक्तिवादमें भी प्रागभाव न माननेपर कार्यकी अभिव्यक्तिकी अनादिताका प्रसंग—यहाँ यह प्रसंग चल रहा है कि प्रागभाव न माननेपर यह सब कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा। यद्यपि वे सत्कार्यवाद—सिद्धान्तानुयायी कार्यद्रव्य नहीं मानते, अभिव्यक्ति मानते हैं तो भले ही अपने मतको समझानेके लिए अभिव्यक्ति ही मान लें किन्तु अभिव्यक्तिकी कल्पना करके भी अभिव्यक्तिका रूप प्रागभाव तो मानना ही होगा। शब्द अब प्रकट हुआ है यह तो कहना पड़ेगा कि इससे पहिले शब्द प्रकटपनेका अभाव था। तो यो प्रागभाव तो आ ही गया। यदि अभिव्यक्तिवादमें प्रागभाव न माना जाय तो फिर हमेशा शब्दोंके सुननेका प्रसंग आयगा। हमेशा शब्द सुनाई दे जाना चाहिए, क्योंकि मीमांसकसिद्धान्तमें धर्म और धर्मीमें अभेद माना गया है तो शब्दकी अभिव्यक्ति तो ये दो पदार्थ थोड़े ही हुए कि कोई कहे कि शब्द

की अभिव्यक्ति प्रकट की है शब्द और अभिव्यक्ति दोनों अभिन्न हैं अतएव उनको मानना होगा कि अभिव्यक्तवादमें भी प्रागभाव व्यवस्था बनानेमें समर्थ होगा। देखिये शब्दको सम्बन्धमें मानते हैं ये मीमांसक स्तकायवादी कि सत् तो सद्भूत शब्द के तालु आदिकके द्वारा जो अभिव्यक्ति हुई है, तालु, कंठ, दंत, मूर्द्धा आदिक व्यापारों के द्वारा जो शब्दकी अभिव्यक्ति हुई है वह अभिव्यक्ति पहिले न थी सो की गई है। तो यों कहकर भी अभिव्यक्तिका प्रागभाव मान लिया है। और अब आगे देखिये कि शब्द और शब्दकी अभिव्यक्ति ये दोनों कुछ अलग बात नहीं हैं। तब फिर यों कहना कि तालु आदिकके द्वारा शब्दकी अभिव्यक्ति जो पहिले न थी, प्रकट की गई है, और शब्द प्रकट नहीं किया गया। यह तो केवल अपनी रुचिसे बनाये हुए शब्द को दिखाना मात्र है। क्योंकि मीमांसक सिद्धान्तमें शब्द अभिव्यक्त स्वरूप है। क्योंकि धर्म और धर्मीमें अभेदका एकान्त किया है।

शब्दाभिव्यक्तिको पौरुषेयी कहकर प्रागभावके अपह्नवका मीमांसकों का निष्फल प्रयास – अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि हम लोगोंके द्वारा पहिले असद्भूत शब्द नहीं किया जाता, क्योंकि शब्द तो अपौरुषेय बताया है। वह किसी भी पुरुषके द्वारा नहीं किया जाता। परन्तु शब्दकी अभिव्यक्तिको पौरुषेयी कहा है, अर्थात् अभिव्यक्ति पुरुषके द्वारा प्रकट की जा सकती है, सो वह अभिव्यक्ति पहिले न थी, ऐसी असत् अभिव्यक्तिको पुरुष व्यापारके द्वारा किया जा रहा है, ऐसा माननेमें यह दर्शन तो याने अभिव्यक्ति पहिले न थी तो अपनी अभिव्यक्ति अब प्रकट की गई है, पर शब्द प्रकट नहीं किया गया। शब्द तो था ही पहिले, उसमें पुरुषका व्यापार नहीं हुआ। पुरुष व्यापारसे तो शब्दकी अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकारका सिद्धान्त प्रमाण शक्तिसे रचा गया है। उसमें दूषण नहीं दिया जा सकता। इसके समाधानमें कहते हैं कि देखिये—शब्दकी अभिव्यक्ति शब्दसे अभिन्न है, ऐसा स्वयं मीमांसक सिद्धान्तमें माना गया है। तो जैसे शब्द अपौरुषेय है उसी प्रकार शब्दकी अभिव्यक्ति भी अपौरुषेय होगी। उस अभिव्यक्तिका पौरुषेयपना होनेसे पहिले असत्त्व माननेपर फिर तो उस अभिव्यक्तिसे अभिन्न शब्दसे भी पौरुषेयपना होनेके कारण पहिले असत्त्व मान लीजिए। जब धर्म और धर्मीमें अभेद है तो शब्द है धर्मी अभिव्यक्ति है धर्म। तो जो स्वरूप अभिव्यक्तिमें है वही स्वरूप शब्दमें है। जो स्वरूप शब्दमें है वही स्वभाव अभिव्यक्तिमें है तो शब्दकी तरह अभिव्यक्ति अपौरुषेय बन गया तो भी अभिव्यक्ति न बनेगी। और जैसे कि अभिव्यक्तिसे पुरुष व्यापारसे पहिले पौरुषेय होनेके कारण अभिव्यक्ति से पहिले असत् रहेगा। इन दोनोंमें किसी भी प्रकारकी अविशेषता नहीं है। क्योंकि शब्द और अभिव्यक्ति ये दोनों जुदे-जुदे पदार्थ नहीं हैं।

शब्दाभिव्यक्तिको शब्दसे भिन्न मानकर कार्यत्वनिषेधका विफल प्रयास यदि नैयायिक यह कहे कि शब्दकी अभिव्यक्ति शब्दसे भिन्न ही है तो उत्तरमें पूछते हैं

कि उस अभिव्यक्तिका अर्थ क्या है ? यदि शब्दकी अभिव्यक्तिका अर्थ श्रवणज्ञानकी उत्पत्ति होना कहते हो अर्थात् कर्णेन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें आ जाना इसका नाम शब्दकी अभिव्यक्ति कहते हो तो यही बताओ कि श्रवणज्ञानकी उत्पत्ति शब्दमें पहिले थी अथवा न थी ? यदि कहो कि पहिले थी तो जो बात पहिले थी उसके फिर प्रकट करनेकी बात ही क्या रहती है। और, कहो कि वह शब्दकी अभिव्यक्ति अर्थात् श्रवणज्ञानोत्पत्ति पहिले न थी तो अब शब्दमें नित्यताका विरोध हो गया, क्योंकि देखो ! श्रवणज्ञानोत्पत्ति शब्दमें पहिले न थी। तो जब न थी तब वह शब्द अश्रावण हो गया, कर्णेन्द्रिय द्वारा सुननेमें न आवे ऐसा हो गया। और फिर देखो पहिले शब्द अश्रावण था पश्चात् उस अश्रावण स्वभावका त्याग करके वह शब्द श्रवण स्वभावमें आ गया याने सुननेमें आये, ऐसा स्वभाव उत्पन्न हुआ तो यह बात कथंचित् अनित्य माने बिना हो सकती है क्या। तो शब्दमें अगर श्रवणज्ञानोत्पत्ति पहिले न थी तो शब्द नित्य न रह सका। यों शब्दकी अभिव्यक्तिको शब्दसे भिन्न मानकर भी बात नहीं बनती। अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि श्रवणज्ञानोत्पत्तिके अभावमें भी पहिले शब्दमें श्रावणत्व माना ही है। याने यद्यपि श्रवणज्ञानोत्पत्ति अब हुई इससे पहिले न थी, तो भी अर्थात् श्रवणज्ञानोत्पत्ति न थी तब भी शब्दमें श्रवणपना तो था ही। तो उत्तरमें कहते हैं कि जब पहिले शब्दमें श्रवणपना माना ही है तो अब श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्तिसे मतलब क्या रहा ? पहिले भी शब्द श्रवण था, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें आता था। और अब आ गया तो श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति मानने का प्रयोजन ही क्या रहा ?

श्रवणज्ञानोत्पत्तिमें पुरुषस्वभावकी असिद्धि—यहाँ मीमांसक कहते हैं कि देखिये ! श्रवणज्ञानोत्पत्ति शब्दका धर्म नहीं है, क्योंकि श्रवणज्ञानोत्पत्ति कोई कर्ममें रहनेवाली क्रिया नहीं। इसके मायने यह कि जैसे कोई कहता है कि मैं शब्दको सुनता हूँ तो इस क्रियामें, इस अभिप्रायमें, वाक्यमें शब्द कर्म रहा ना ? शब्दको सुनता हूँ, तो वह सुननेरूप जो क्रिया है वह कर्ममें नहीं है सुनने वाला शब्द नहीं होता है। यह क्रिया तो किसी कर्तामें ही सम्भव होती है। तो बात क्या रही कि श्रवणज्ञानोत्पत्ति पुरुषका स्वभाव है, क्योंकि श्रवणज्ञान बननेमें ज्ञानकी उत्पत्ति होना यह कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया है, इसका करने वाला पुरुष है। पुरुषमें ही उस ज्ञानका, समझका व्यापार हो रहा है याने सुननेका काम श्रोताके आश्रित है शब्दके आश्रित नहीं है। अतः श्रवणज्ञानोत्पत्ति व अभिव्यक्तिसे प्रयोजन है। उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कर्ताकी तरह कर्तामें रहने वाली क्रियाको भी पहिले सत्त्व मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्ता है नित्य और कर्ताकी क्रिया, कर्ताका धर्म है। मीमांसक सिद्धान्तमें धर्म धर्मीका अभेद स्वीकार किया गया है। तो कर्ता आत्माकी तरह कर्तामें रहने वाली क्रिया भी सत् हुई। और जब कर्तृत्व क्रिया पहिलेसे है तब उस व्यापारकी अनर्थकता है। याने जब पहिले ही श्रवणज्ञानोत्पत्ति

है, तब यत्न करनेका क्या प्रयोजन रहा ? इस कारण श्रवणज्ञानोत्पत्तिमे पुरुषस्वभाव मानकर फिर अभिव्यक्तिका प्रयोजन बताना युक्तिसगत न रहा ।

श्रवणज्ञानोत्पत्ति योग्यतारूप शब्दाभिव्यक्तिके मन्तव्यकी मीमासा — मीमासक कहते है कि श्रवणज्ञानोत्पत्तिकी योग्यताका नाम है शब्दकी अभिव्यक्ति । केवल श्रवणज्ञानोत्पत्तिका नाम अभिव्यक्ति नही तो इसके उत्तरमे कहते है कि फिर तो योग्यताके सम्बन्धमे भी वैसी ही चर्चा अब खडी होगी । बताओ कि श्रवण ज्ञानोत्पत्ति योग्यता भी शब्दका तो धर्म है ही तब यह योग्यता रूप शब्द धर्म क्या शब्दसे अभिन्न है या भिन्न है ? शब्दमे श्रवणज्ञानकी उत्पत्ति हो जाय ऐसी योग्यता शब्दसे यदि अभिन्न है तो जैसे पहिलेसे सत् है ऐसे ही यह योग्यता भी पहिलेसे सत् है। फिर पुरुषके प्रयत्नके द्वारा कैसे की जावे ? जो पहिलेसे सत् है वह सत् है । उसके आनेसे क्या मतलब ? उसमे यत्न व्यापारका कुछ प्रयोजन नही । यदि कहो कि वह सत् है उसके किये जानेसे क्या मतलब ? उसमे यत्न व्यापारका कुछ प्रयोजन नही । यदि कहो कि वह श्रवणज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता शब्दसे भिन्न है । क्योकि वह योग्यता श्रोत्रका स्वभाव है । शब्द है आकाशका गुण और शब्द श्रोत्रका स्वभाव अत. यह योग्यता शब्दसे भिन्न है । इसके उत्तरमे कहते हैं कि ऐसा विकल्प करनेपर भी वह योग्यता पहिले असत् नही कही जा सकती, क्योकि यहा अब मान लिया गया श्रोत्र शब्द भिन्नशक्तिको श्रोत्रका स्वभाव और श्रोत्रके मायने क्या है ? जैसे कर्णेन्द्रिय दिखती है, उसमे आकाशके प्रदेश हैं वे ही तो श्रोत्र हैं । तो आकाशके प्रदेशरूप श्रोत्र भी सदा ही सत् है और श्रोत्रका स्वभाव बताया है श्रवणज्ञानोत्पत्तिकी योग्यताको । तो वह योग्यता भी सदा सत् है । तब उस योग्यताकी अभिव्यक्ति करनेका प्रयोजन क्या ?

श्रवणज्ञानोत्पत्तियोग्यताको आत्मधर्मरूप माननेके मन्तव्यकी मीमांसा अब मीमासक कहते हैं कि वह योग्यता आत्माका धर्म है । न शब्दका धर्म है, न श्रोत्रका धर्म है, किन्तु आत्माका धर्म है । तो पूछता है शकाकारसे कि यदि अभिव्यक्तिको आत्माका धर्म मानते हो उस श्रवणज्ञानोत्पत्ति योग्यताको पुरुषका धर्म स्वीकार करनेपर यह बताओ कि वह योग्यता भी शब्दसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? शब्दसे भिन्न है तो इसका निराकरण पहिले ही किया गया है, और, मीमासक सिद्धात मे धर्मको धर्मीसे अभिन्न माना गया है । और, यदि कहा जाय कि वह शब्दसे अभिन्न है और है ही ऐसा सिद्धान्त कि मीमासकोने कहा है तो आत्मा नित्य है तो आत्माका धर्म भी नित्य है । यहा माना है श्रवणज्ञानोत्पत्तिकी योग्यताको आत्माका धर्म । तो वह योग्यता असत् नही रह सकती । और जब सत् है तब उसके यत्नसे प्रयोजन क्या, शब्द भी सत् है अनादिसे और शब्दका धर्म जितना कुछ कहा वह भी सत् है आत्मा भी सत् है श्रोत्र भी सत् है । तब फिर शब्द पहिले सुननेमे नही आता और अब आता, यह अवस्था बन ही नही सकती । अब शकाकार कहता है कि देखिये ! अब

अभिव्यक्तिके हम दो स्वरूप मान लेते हैं एक तो श्रवण ज्ञानोत्पत्ति और दूसरा श्रवणज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता। और ये दोनों प्रकारकी अभिव्यक्तियां शब्दसे भिन्न हैं और अभिन्न हैं। तब तो कोई दोष न दिया जा सकेगा। समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ऐसे दो विकल्प माननेपर दोनों ही पक्षोंमें याने श्रवण ज्ञानोत्पत्तिके पक्षमें और श्रवण ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यताके पक्षमें जो दोष दिया था वह दोष बराबर आ रहा है क्योंकि अथवा दोनों प्रकारकी अभिव्यक्तिमें प्रागभाव नहीं बनता। क्योंकि उसका यदि प्रागभाव मान लेते हो तब तो तुम्हारे मूल मंतव्यका घात हो गया। प्रागभावकी सिद्धिके लिए ही तो यह प्रसंग चल रहा है, सो प्रागभाव तो आप मानते ही नहीं, और यदि प्रागभाव का योग स्वीकार करते हो तब तो सुनिये कि शब्दकी ही तरह श्रोता और प्रमाता भी पहिले असत् हो गए तब इनके भी प्रयत्नसे करनेका प्रसंग आ जायगा। जैसे अभिव्यक्तिका प्रागभाव मान लिया तो शब्दका श्रोता का, प्रमाताका भी पहिले अभाव मान लेना होगा और फिर अभिव्यक्तिकी तरह पहिले असद्भूत इन तीनोंका भी प्रयत्नको करनेका प्रसंग आता है, क्योंकि शब्द श्रोता और श्रोत्र ये नित्य हैं और इनका धर्म है अभिव्यक्ति। तो अभिव्यक्ति भी नित्य हुई। तब अभिव्यक्तिका प्रागभाव नहीं बनता और यदि अभिव्यक्तिको प्रागभाव मान लेते हो तो कर्ता कर्म करण भी पहिले असत् हो गए तो उनको भी करना पड़ेगा। ऐसा कहना कि शब्द, श्रोता और श्रोत्र ये पहिले न होनेपर भी इनकी तो अभिव्यक्ति ही यत्नसे की जाती है, किन्तु इन तीनोंका किया नहीं जाता। तो यह तो अपनी रुचिसे बना लिया एक सिद्धान्त बन गया, यह कोई युक्तिसंगत बात नहीं ठहरती। तो शब्द बना दिये हैं और उनको किया नहीं जाता, किन्तु प्रकट किया जाता, ऐसा मानकर प्रागभाव का अपन्हव कर देनेकी आपत्ति आती है। और, अभिव्यक्ति मानकर भी प्रागभावका लोप नहीं किया जा सकता। और अब तो अभिव्यक्ति भी सिद्ध नहीं होती।

आवरणापगमनात्मक अभिव्यक्तिके मन्तव्यकी मीमांसा—मीमांसक कहते हैं कि आवरणके दूर होनेका नाम अभिव्यक्ति है। उसमें क्या दोष आयगा? तो इसके समाधानमें पूछते हैं कि वह आवरणके दूर होने रूप अभिव्यक्ति क्या पहिले थी? याने शब्दके आवरणका दूर होना इसे मानते हो अभिव्यक्ति तो ये आवरण विगम तालू आदिक साधनके व्यापारसे पहिले थे कि नहीं? न थे यह तो यों न कह सकोगे कि प्रागभाव सिद्ध हो जाता है कि लोकमें साधनके व्यापारसे पहिले आवरण विगम न था सो तो कह नहीं सकते। प्रागभाव सिद्ध होनेके डरसे, और मंतव्य भी खण्डित हो जाता है। कहोगे यह कि आवरण विगम पहिले था तो अब पहिले आवरण विगम था तो जैसे कर्म कारण और कर्ता शब्द श्रोत्र और पुरुष इनका प्रागभाव न होनेसे इनकी भी पहिलेसे सत्ता है और आवरण विगमकी पहिलेसे सत्ता है तब शब्द सुननेके लिए कुछ व्यापार करनेसे क्या प्रयोजन रहा? यदि कहो कि शब्दमें विशेषता आ जानेका नाम अभिव्यक्ति है। याने शब्द अब भूषमाण हो गए तो शब्दमें

भूयमाणपना आ जानेका नाम अभिव्यक्ति है तो इस सम्बन्धमे भी वही समाधान है कि शब्दोमे इस विशेषणाका आ जाना क्या पहिले था या नही ? न था यह तो प्राग-भाव मान लेना पड़ेगा इस डरसे कहेंगे नही। कहोगे कि इस विशेषणका आधान भी पहिले था तो सुनो अब कर्म कर्ता कारणका तो प्रागभाव है नहीं, यान यह अनादिसे पहिलेसे ही है शब्द श्रोत्र और पुरुष जैसा यह अनादिसे है और अब शब्द में श्रू माणपनरूप धर्मका आधान भी पहिलेसे है तब प्रयत्न करनेसे फायदा क्या ?, तो आवरणके विगम होनेका नाम अभिव्यक्ति है, यह विकल्प भी युक्तिसगत न बन सकेगा।

आवरणविगम व विशेषाधानसे अभिव्यक्ति माननेकी असंगतता— मीमासकोने शब्दाभिव्यक्तिको यहाँ दो रूपोके उपस्थित किया है। एक तो आवरण विगम अर्थात् शब्दपर जो आवरण है उसको दूर किया जाना और दूसरा रूप माना है विशेष आधान अर्थात् शब्दमे श्रूयमाणपनेका आधान हो जाना रूपक आ जाना सो है विशेष आधान। सो देखिये - आवरण विगम और विशेषाधान जब शब्द, पुरुष और श्रोत्रको मान लिया जाता है तब इन शङ्काकारोने तो शब्द पुरुष, श्रोत्रको नित्य माना है। जब ये नित्य हैं तो इसका प्रागभाव कैसे सम्भव हो सकता है ? नित्य पदार्थके स्वरूप भी नित्य हैं तो होंगे। उनका प्रागभाव न बनेगा। और, कदाचित आवरण विगम और विशेषाधानका प्रागभाव मान लिया जाता है तब वह प्रयत्नका कार्य बन जायगा ? शब्द भी प्रयत्नका कार्य बन जायगा और शब्द ही क्या, शब्द पुरुष श्रोत्र सभी कार्य बन बैठेंगे। यदि यह कहा जाय कि पुरुषके प्रयत्न द्वारा जो अभिव्यक्ति की जाती है वह पहिले असत् है पहिले असत् रहने वाली अभि-व्यक्ति ही पुरुषके प्रयत्नके द्वारा किया जाता है किन्तु उसका स्वरूप शब्द पुरुष सब ये नही किए जाते तो यह कहना केवल अपनी रुचिके अनुसार, सिद्धान्त गढ़ देना मात्र है। तो शब्दाभिव्यक्ति सिद्ध नही होती, किन्तु तालु आदिक कारणोके व्यापारोसे शब्द के किये जानेकी सिद्धि होती है। और, जैसे शब्दकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें कथन किया गया है उस प्रकारसे सांख्य सिद्धान्तके अनुयायियोके यहा घट पट आदिककी अभिव्यक्ति पहिले असत् हुई अभिव्यक्ति चक्र दण्ड आदिकके द्वारा की जाती है किन्तु घट आदिक नही किए जाते हैं यह भी तो बताया जा सकता है। जैसे मीमासक सिद्धान्तानुयायी यह कहते हैं कि शब्द नही किया जाता है पुरुषके व्यापार द्वारा, किन्तु शब्दकी अभिव्यक्ति जो कि पहिले न थी वह की जाती है। तो या सत्कार्यवाद सांख्य भी यह कह सकते हैं कि दण्ड चक्रादिक कारणोके द्वारा घटा-दिक नही किए जाते। किन्तु घटादिकका अभिव्यक्ति जो कि पहिले न थी वह की जाती है। क्योकि इन दोनो मतव्योमें कोई अन्तर डालने वाला कारण विशेष नही है कि ताल आदिक तो शब्दके व्यञ्जक बन जायें और चक्रादिक घटके व्यञ्जक न बने ऐसा कोई व्यवस्था कर सकने वाला हेतु नहीं है। अथवा चक्रादिक तो घटादिक

के करने वाले हुए और तालु आदिक शब्दके करने वाले नहीं हुए ऐसा विशेष अन्तर देने वाला कोई हेतु नहीं है। तो शब्दकी अभिव्यक्तिकी तरह यह भी मान लेना होगा कि घट पट आदिक भी शब्दकी तरह पहिलेसे सत् हैं, दण्ड चक्रादिकके द्वारा घटादिककी अभिव्यक्ति ही की जाती है। यो मीमांसकोंको कार्यादिक पदार्थोंकी व्यवस्था तोड करके यहाँ भी सत्कार्यवाद मानना होगा किन्तु वास्तविक बात यह है कि जैसे घटपट आदिक पदार्थ कारकोंके व्यापार द्वारा किए जाते हैं उसी प्रकार तालु आदिकके व्यापार द्वारा शब्द भी किए जाते हैं। और, जब ये शब्द किए जाते हैं तो कार्यद्रव्य बन गए। और जब कार्य द्रव्य बनते हैं तो वहाँ प्रागभाव मानना ही होगा। प्रागभाव माने बिना कार्यद्रव्य अनादि बन जायगा और उसकी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती।

घटादिक व शब्दादिक पदार्थोंको कार्य द्रव्य न माननेपर विडम्बना— कार्यद्रव्य न माननेपर तो युक्ति और नीतिमें भी विरुद्ध बात बनती है। देखिये ! व्यञ्जकोंका व्यापार नियमसे व्यंग पदार्थोंको ला दे, प्रकट करदे यह सम्भव नहीं है। व्यञ्जक कहते हैं उस पदार्थको कि जिसके कारण ढकी हुई चीज प्रकट हो जाती है। जैसे घडे पर पर्दा पडा है तो पर्देके हटाने वाले आवरण विगम होना यह व्यञ्जक हो गया। उसने घटको दिखा दिया तो व्यञ्जक पदार्थका जो व्यापार होता है वह नियम से व्यंगसे जो कि प्रकट किए जाने योग्य है उसको प्रकाशित ही करदे यह नियम नहीं है। कपडेको हटा लेना घट पट आदिकको प्रकट कर देता है तो सभी जगह कपडे कपडे हैं। उन कपडोंको हटा देना तो घट पट आदिकको प्रकट नहीं करता तो व्यञ्जकका व्यापार व्यंगको नियमसे प्रकट करदे यह नियम नहीं है। लेकिन यहाँ देखिये ! तालु आदिकका व्यापार नियमसे शब्दको व्यक्त करता है तो नियमसे व्यक्त करनेका कार्य द्रव्यके करणमें होता है, व्यंगके प्रकरणमें नहीं होता। इससे सिद्ध है कि शब्द तालु आदिकका व्यंग नहीं है तो जीभ तालु, ओठ आदिकके व्यापार द्वारा शब्द प्रकट नहीं किया जाता, किन्तु शब्द किया जाता किन्तु शब्द किया जाता है। शब्द परिणति बना करती है जैसे चक्रादिकका व्यंग घटादिक नहीं है कि चक्र चलाया जाय, घुमाया तो वहाँ घडा बन ही जाय यों तो नहीं है। तो जैसे चक्रादिकका घटादिक व्यंग नहीं है, किन्तु सब कारण कलाप मिलें तो घट कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार तालु आदिक भी व्यंग नहीं है किन्तु यथोचित तालु आदिकका संयोग वियोगरूप साधन बने तो शब्दकार्यकी उत्पत्ति होती है। तो यहाँ मीमांसक कहते हैं कि शब्दके व्यंगपनेका अभाव वाला दोष यह घटित नहीं होता। क्योंकि समस्त वर्ण सर्वगत हैं जो यह दृष्टान्त दिया कि आवरण विगमसे व्यञ्जक पदार्थोंके सद्भावको व्यंग कार्य हो ही हो, यह बात नियमित नहीं है। सो यह दोष नहीं दे सकते। क्योंकि वर्ण तो हैं सर्वगत उदाहरणमें जो घटपट आदिककी बात कही वह वहाँ सर्वगत है ? तो क्योंकि सर्वव्यापी होनेके कारण वहाँ यह दोष नहीं आता। उत्तरमें कहते हैं कि यह भी केवल

बात कह देना मात्र है, क्योंकि वर्णोंमें सर्वगतपना है, यह प्रमाणबलसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रमाणबलसे प्रत्यक्षादिकसे विवक्षित न होनेपर भी वर्णोंको सर्वगत मान लिया जाय तो कोई यह भी कह सकेगा कि घटपट आदिक भी सर्वव्यापक हैं और जब कुम्हार दण्ड चक्र चलाता है तो वहा घट प्रकट हो जाता है ऐसा भी कहा जा सकता कि घट पट आदिक चूंकि सर्वगत हैं अतः चक्रादिकका व्यापार करनेसे नियम से घटादिककी उपलब्धि हो जाती है। शब्दकी तरह फिर घट पट आदिक सब पदार्थोंकी अभिव्यक्ति माननी होगी। और यो माननेपर फिर गुण कर्मादिक पदार्थों का लोप हो जायगा।

सत्कार्यवादकी मीमांसा—उक्त वार्ता सुनकर सांख्य सिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि यह बात बहुत भली कही। यह तो इष्ट ही है कि घट पट आदिक कार्य पहिलेसे ही हैं, पदार्थमें मौजूद ही रहते हैं, केवल उनकी अभिव्यक्ति ही की जाती है। तब इसके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि दण्ड चक्रादिक कारणों का व्यापार होनेपर घट पट आदिककी अभिव्यक्ति होती है। हम कारणोंके व्यापारमें भी प्रसन्न रह सकेंगे, केवल कारणके कार्यमें ही प्रश्न नहीं है, यह कारण कर्ममें भी प्रश्न होता है कि चक्रादिक भी कारण अपने व्यापारोंके नियमसे अभिव्यञ्जक बने। जहां जहां चक्रादिक हैं सो वे अपने व्यापारके भी प्रकट करने वाले बनें। वहां भी ये स्थितियां न रहना चाहिए कि कभी चक्र अपने व्यापार रहित है और कभी चक्र अपने व्यापारसे सहित है। जैसे घट पट आदिक पदार्थोंके सम्बन्धमें मानते हैं सत्कार्यवादी कि घट आदिक सदा हैं किन्तु कारणके द्वारा घटादिककी अभिव्यक्ति की जाती है। तो उन कारणोंके सम्बन्धमें भी प्रश्न है कि कारणोंका व्यापार भी सदा प्रकट रहे। व्यापारोंको भी हम सर्वगत मान लें, क्योंकि अब तो केवल 'कह देने मात्रसे' सिद्धान्त बना लिया जा रहा है। और, इस तरह चक्रादिकके व्यापारोंकी अभिव्यक्ति जब सर्वगत है तब सारा घट रहना चाहिए सो अनिष्ट आपत्ति आती है, जब कारणके व्यापार को किया जानेका निराकरण किया गया तो इसमें फिर अनवस्था नहीं ठहरती, अनवस्था नहीं ठहरती, अनवस्था हो जायगी। देखिये! चक्रादिकका व्यापार है घूमना या अपने व्यापारको उत्पन्न करनेमें कारणोंका व्यापारान्तर कल्पित किया जाना चाहिए, क्योंकि अगर अन्य कारण अन्य व्यापार व्यापारोंकी उत्पत्तिके कारण नहीं हैं तो व्यापार सदा रहना चाहिए। तो सदैव कारण रहे, सदैव कारणका व्यापार रहे तब सदैव कार्य भी रहना चाहिए। सो जब यह मानना होगा कि अपने व्यापारको उत्पत्ति करनेमें कारणका व्यापारान्तर होता है तो उस अन्य व्यापारके उपादानमें अन्य व्यापारान्तर होगा। इस तरह अनवस्था दोष आ जायगा। किन्तु, अपने व्यापारकी स्वयं ही अभिव्यक्ति मान ली जाय तो अनवस्था नहीं होती। फिर तो कारक पदार्थकी सन्निधि आदिक मात्रसे ही व्यापारकी अभिव्यक्ति सिद्ध हो जायगी। अन्यथा व्यञ्जक पदार्थ और कारक पदार्थमें कोई भेद न रह सकेगा। तो यों शब्दोंकी अभिव्यक्तिकी

तरह और शब्दोंको सर्वगत् मानने की तरह घट पट आदिकको भी सर्वगत् मानकर फिर चक्रादिकके व्यापार द्वारा उसकी उपलब्धि बना दी जायगी। तब मीमांसकोंके यहाँ जो गुण और कर्म पदार्थकी व्यवस्था माना है वह खण्डित हो जायगी। फिर और भी सुनो कि कारणके व्यापारोंका कारणसे सर्वथा भेद है अथवा अभेद है जो अभिव्यक्ति के करने वाले कारण हैं उनका व्यापार हुआ और वह व्यापार उन कारणसे भिन्न रहे या अभिन्न ? यदि कहो कि भिन्न है व्यापार जुदी चीज है और कारण जुदी चीज है तब व्यापारवानका उपयोग कुछ न रहा। फिर कारण व्यञ्जक कारक ये सब अनुपयोगी हो जायेंगे, क्योंकि अभिव्यक्ति आदिक काम बन जाना तो व्यापार मानसे ही सम्भव हो गया। कारणोंका यह कार्य सम्पादन कर देना ही तो कर्तव्य माना गया है और उसका साधन दे दिया इन व्यापारोंका जिन्हें कि पदार्थसे कारणसे सर्वथा भिन्न कहा गया है। तो जब व्यापार मानने काम बन गया तब व्यापारवानसे याने उन कारक कारणभूत पदार्थोंसे अब क्या सिद्ध किया जाता है ? जिससे कि उन व्यापारवान कारणोंका, व्यञ्जकोंका, पदार्थोंका उपयोग किसी तरहसे मान लिया जाय तो जो कारणका व्यापार कारणोंसे भिन्न है यह नहीं बनता, और यह व्यापार कारणोंसे अभिन्न है यह भी संगत नहीं बैठता, क्योंकि फिर तो अभिव्यक्त हो जाय यह प्रसंग आता है याने जैसे कारण सदा है तो कारणोंसे अभिन्न हुए व्यापार भी सदा हैं। फिर तो सदा कार्य होते रहना चाहिये।

अभिव्यक्तिवाद व सत्कार्यवादमें भी वस्तुव्यवस्था बनाते हुएमें प्रागभावकी मान्यताकी अनिवार्यता,— व्यापारवान कारणोंसे व्यापारको अभिन्न मानते हुए यदि व्यापारोंका प्रागभाव न मा जाय तो इस प्रसंगमें यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि उन कारणोंसे अभिन्न व्यापार तो पहिले है नहीं। और उसे किया जाता है। और फिर व्यापारसे अभिन्न कारण नहीं किया जाता है यह तो अपनी रुचिसे बनाया गया सिद्धान्त है। कारणका व्यापार जब कारणसे अभिन्न मान लोगे तो व्यापारका प्रागभाव है तो कारणोंका भी प्रागभाव है। और, इस तरह जो सर्वथा दोषकी बात कही गई थी वह यथार्थ सत्सर्वथा दोषकी बात कही गई थी वह यथार्थ सत्य है। अब दूसरे पक्षके सम्बन्धमें और भी निरखिये कि यदि कारणोंके व्यापारोंका कारणोंसे एकान्ततः भेद माना जाय तो व्यापारवानका अनुपयोग रह गया। क्योंकि व्यापारमात्र से ही कार्य सम्पादक की कतव्यता ठीक बैठ जाती है। और यदि कारणसे व्यापार का अभेद मान लिया जाय तो इस अभेद एकान्तमें अभिव्यक्ति वाला प्रसंग आ जायगा कि चूँकि कारण भी पहिले है और कारणोंका व्यापार कारणोंसे अभिन्न माना है तो इससे जैसे कारण पहिलेसे सत है उसी प्रकार अभेद जो पहिलेसे ही सत् रह गया। अब कारणोंसे व्यापारोंकी अभिव्यक्ति पहिलेसे ही मान ली जायगी। इस कारण अभिव्यक्तिवादमें आविर्भाव तिरोभावकी व्यवस्था नहीं बनती।

प्रकृतिपरिणामवादकी असंगतता—जिस प्रकार शब्दको अभिव्यक्तिके

प्रकरणमे शब्दकी व्यवस्था बनाना अशक्य है इसी प्रकार प्रकृतिका परिणमन शब्द घट पट आदिकको मान जाय तो वहाँ भी ये सारे ही प्रश्न उपस्थित होते हैं। वे प्रकृतवादी बतलायें कि परिणामी प्रधानके ये जो परिणाम हैं घट पट आदिक सो उस प्रधानसे अभिन्न है या भिन्न है ? यदि कथंचित् भिन्न अभिन्नकी बात कहोगे तो यह तो स्याद्वादका अनुसरण है अपने एकान्तके हठकी ओरसे कहा कि घट पट आदिक प्रधानका परिणाम हैं विकार हैं वे प्रधानसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? यदि कहो कि प्रधानके परिणाम प्रधानसे अभिन्न हैं तो फिर परिणाम बन ही नहीं सकता क्यो कि उस पक्षमे और परिणामको अभिन्न माना तो उन परिणामोंके क्रमसे वृत्ति हो नहीं सकती। ये शब्द घट पट आदिक क्रमसे बनें, पहिले मृतपिण्ड हो फिर घट बने, फिर खपरियाँ बनें इस प्रकारके क्रम वाली वृत्ति पक्षनको विवक्षामे नहीं बनती, क्यो कि वह परिणामी अर्थात् प्रधान तो अक्रम है याने सदा रहता है, और जब शाश्वत है तो प्रधानसे अभिन्न जो परिणमन हैं वे भी शाश्वत होंगे। अब उनमें क्रम कैसे बन सकता है ? यदि कहो कि प्रधानके परिणाम प्रधानसे भिन्न हैं तो घट पट आदिक प्रकृतिसे भिन्न हो गए तो ये घट पट आदिक प्रकृतिके परिणाम हैं यह नाम नहीं बन सकता। क्योंकि जब प्रधान निराला है और घट पट आदिक परिणाम न्यारे हैं तो सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता। जो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि विन्ध्याचलका हिमालय है अथवा हिमालयका विन्ध्याचल है। क्योंकि उनका उपकार ही नहीं है, परस्परमे। नित्य प्रधान परिणामका उपकारक नहीं बन सकता क्योंकि नित्य पदार्थमे क्रमसे अथवा युगपत् उपकारकपना सिद्ध नहीं होता। जो पदार्थ शाश्वत है वह तो सदा है। वह क्रमसे उपकारक न बनेगा और एक साथ सारे परिणामोंका उपकार करे तो इसमे जगत शून्य हो जायगा। तो नित्य प्रधान परिणामोंका उपकारक नहीं बन सकता और यह भी नहीं कह सकते कि परिणामोंमे प्रधान उपकार बन जायगा, क्योंकि यदि प्रधान परिणाम का करने वाला बन गया तो प्रधान अनित्य हो जायगा और साथ ही यह बात भी है कि परिणामोंके द्वारा यदि प्रधानका उपकार माना जाय अथवा कार्यमे सहायक माना जाय तो वही सब प्रश्न और दोष यहाँ बराबर आते हैं और इसमे अनवस्था दोष आता है क्योंकि अब जितने परिणाम हैं उतने ही उसके उपकार हो गए। जो कि प्रधानके द्वारा किए गए अब वे सारे उपकार यदि प्रधानसे भिन्न हैं तब तो यह उपकार यह परिणाम प्रधानमे है यह व्यपदेश ही नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमें सम्बन्ध सिद्ध नहीं है। क्योंकि भिन्न पदार्थ अनुपकारक होते हैं और उपकारवान प्रधानका उन परिणामोंके द्वारा अथवा परिणामकृत उपकारके द्वारा परस्पर उपकार माना जाय, अन्य उपकार किए गए ऐसा माना जाय तो उन उपकारोंके सम्बन्धमें भी यही प्रश्न होगा कि वह उपकारान्तर इस उपकारसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न है ? तो यों अनवस्था दोष आयगा, तब वह परिणाम यदि प्रधानसे अभिन्न

है तब जितने परिणाम हैं उतने ही प्रकारका प्रधान बन जायगा । क्योंकि प्रधानने उन परिणामोंकी उपकारको भिन्न मान लिया और वे परिणाम हैं अनेक तो प्रधान भी अनेक बन जायेंगे अथवा प्रधान और प्रधानके विकार सब अभिन्न मान लिए गए तो वे सब उपकार भी प्रधान जैसे एक रूप ही हो जायेंगे । फिर वे घट पट आदिक अनेक तरहके पदार्थ जो दृष्टिगोचर होते हैं वे न होंगे । इस प्रकार प्रधानके उपकारकी स्थिति नहीं बनती, अतएव अनवस्था दोष आता है और अनवस्था होनेसे प्रायः प्रकृतिका अभाव ही आनेपर पुरुषमें भोक्तृत्वका अभाव होनेसे पुरुषका भी अभाव हो जायगा । याने जब प्रकृति और वे घट पट आदिक पदार्थ ये भोग्य नहीं बन सकते तो भोक्ता कौन रहा ? तो पुरुष भी न रहा क्योंकि सांख्य सिद्धान्तमें पुरुषका लक्षण ही भोक्तृत्व कहा है । प्रधान तो करने वाला है और पुरुष भोगने वाला है । इस कारणसे प्रकृति तत्त्व और पुरुष तत्त्वमें व्यवस्थिति न बननेसे अनवस्था दोष आता है।

पुरुषको भोक्ता व प्रकृतिको कर्ता माननेका आधार—इस प्रकरणमें थोड़ा इस ओर भी दृष्टिपात करिये कि सांख्य सिद्धान्तानुयायियोंने पुरुषको भोक्ता माना है और प्रधानको कर्ता माना है । तो ऐसा माननेमें उनके किस विचारको समर्थन किया ? प्रायः यह तो देखा ही जा रहा है कि जन्म मरण सुख दुःख आदिक अनेक प्रकारके जो कुछ भी परिणमन किए जाते हैं वे सब कर्मोदयसे होते हैं । और कर्मोंका ही नाम प्रकृति भी है । यद्यपि सांख्य सिद्धान्तानुयायियोंने प्रकृतिका कोई व्यापक स्वरूप माना है लेकिन वह प्रकृति कर्म है और कर्ता भोक्ता इसका अनुमान आगमसे बोध होता है और विशिष्ट अवधिज्ञानियोंको इन कर्मोंका साक्षात् ज्ञान भी होता है, लेकिन वे कम सूक्ष्म हैं अतएव अव्यक्त भी कह दिए जायें तो कुछ अयुक्ति नहीं । तो प्रकृति ये कर्म प्रकृतिके उदयसे सुख दुःख रागद्वेषादिक होते हैं अतएव इन सब परिणामोंका कर्ता निमित्त दृष्टिसे प्रकृतिको कहा जाता है, लेकिन प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न हुए रागद्वेष सुख दुःखादिक भावोंको भोगने वाले पुरुष ही हैं, क्योंकि जो चेतन होगा सो ही भोगने वाला है अचेतन भोगने वाला नहीं बनता, ऐसी कुछ सुहावना देख करके एकान्ततः यह कह दिया गया कि पुरुष तो कर्ता होता ही नहीं वह तो मात्र भोक्ता होता है और प्रकृति भोक्ता होती ही नहीं वह केवल कर्ता होती है यद्यपि यह बात एक मोटे रूपसे कुछ ठीक विदित होती है साथ रहा धर्मोंको किन्तु वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे निरखनेपर यह विदित होगा कि प्रत्येक पदार्थ अपने परिणामका कर्ता है जिसमें कि परिणति होती है उस पर्यायका वह कर्ता है और परिणमन होता है वहां उसका अनुभवन है । तो प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायका कर्ता है और अपनी पर्यायका भोक्ता है । यह बात अचेतन पदार्थोंमें कुछ कठिनतासे समझमें आवनी किन्तु चेतन पदार्थमें विशेष स्पष्टतया समझमें आती है । जैसे माने ही प्रकृतिके निमित्तसे राग द्वेष सुख दुःख होते हैं लेकिन उस रूप परिणमने वाला कौन है ? पुरुष चेतन आत्मा

तो उपादान दृष्टिसे उन रागद्वेष सुखदु:खादिक भावोंका करने वाला प्रधान ही है और उनको भोगने वाला तो चेतन है ही। यह तो वादी प्रतिवादी दोनोंको सम्मत है। तो यो सोच करके पुरुषको भोक्ता और प्रकृतिको कर्ता सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंने माना है।

प्रागभावके माने बिना अभिव्यक्तिवाद व सत्कार्यवादमें भी वस्तु व्यवस्थाकी अशक्यता—यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि घट पट आदिकको पहिलेसे ही सत् माना जाय और उनकी अभिव्यक्ति होती है और वे प्रधानके परिणाम हैं यह सब मानना युक्तिसंगत नहीं हो सका है और इस तरह सांख्य सिद्धान्तके अनुसरणके द्वारा भी प्रधानात्मक समस्त घट पट आदिक पदार्थोंका अभिव्यंग्यपना मानना युक्त नहीं है। जैसे कि मीमांसक सिद्धान्तमें शब्दको आकाशका गुण मानकर उसे सुननेमें योग्य बनानेके लिए अभिव्यक्तिवादकी कल्पना की है और वह कल्पना संगत न बन सकी। इस प्रकार केवल एक प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वोंका ही तत्त्व मानकर जो प्रकृतिके विकार महान होकर शब्द रूपादिक मानते हैं और उन को आविर्भाव तिरोभाव करसे मानते हैं, तो शब्दकी तरह उसकी भी अभिव्यक्ति प्रमाणसिद्ध नहीं होती है। क्योंकि सर्वदा जब प्रागभावका लोप कर दिया तो कार्य की अभिव्यक्ति भी अनादि बन बैठेगी। जैसे कि चार्वाक लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, व वायु कार्यद्रव्य मानते हैं और प्रागभाव नहीं मानते तो जैसे उनके सिद्धान्तमें यह दूषण आता है कि फिर तो ये पृथ्वी आदिक समस्त कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे। इस प्रकार सांख्य और मीमांसक जो कि अभिव्यक्तवाद मानते हैं कि चीज सब पहिले से ही है। कारणोंके द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति की जाती है। तो उनकी यह अभिव्यक्ति भी प्रागभावके न माननेपर अनादि बन बैठेगी। अतः कार्यद्रव्यवादी हो अथवा अभिव्यक्तिवादी जो प्रागभावको न मानेंगे उनके यहाँ परिणामोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

घटपटादिके कार्यद्रव्यत्वकी सिद्धि—इस प्रसंगमें सांख्य कहते हैं कि कार्य द्रव्य तो असिद्ध ही है। कार्य द्रव्य प्रमाणसे सिद्ध नहीं तब ग्रन्थकार उस परिणामको अनादि जबरदस्ती कैसे समर्थन करता है। जब कार्यद्रव्य है ही नहीं तब हमारे प्रधानके उपकार कैसे अनादि बन सकेंगे? जो कार्यद्रव्य मानें उनके यहाँ ही यह दूषण दिया जा सकता है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि प्रमाणके बलसे जब द्रव्यमें कार्यपना समर्थित कर दिया गया, तब उन्हें कार्यद्रव्य मानकर या कार्यद्रव्यकी तरह तरह उन्हें समझकर यह दूषण देनेमें कोई बाधा नहीं है। तब सांख्य पूछते हैं कि उन द्रव्योंमें कार्यपना कैसे लाया गया है? जो प्रागभाव नहीं मानते ऐसे सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंके प्रति पृथ्वी आदिकमें कार्यपना नहीं लाया जा सकेगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि सुनो! घट पट आदिक कार्य हैं इसकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है। उसका प्रयोग इस प्रकार है कि घटपट आदिक कार्य हैं क्योंकि ये अपेक्षितपर व्यापार हैं याने

घट पट आदिक अपने स्वरूप लाभ करनेके लिए पर पदार्थके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे कि कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिकके व्यापार न हो तो घटका अस्तित्व नहीं होता। जुलाहा, तन्तु वेमी आदिकका व्यापार न हो तो पटकी सिद्धि नहीं होती। जो कार्य नहीं होता वह अपेक्षित पर व्यापार नहीं बनता जैसे कि आकाश। आकाश कार्य नहीं है तो आकाशमें किसी भी परकी जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन कार्य तो अपेक्षितपर व्यापार है घट पट आदिककी निष्पत्तिमें कुम्हार आदिकके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं, यह साधन असिद्ध नहीं है क्योंकि वे कभी होते कभी नहीं होते। इससे यह सिद्ध है कि ये दूसरेके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं, इस कारण ये सब पदार्थ कार्य हैं और प्रागभाव न माननेपर ये सब कार्य अनादि बन जायेंगे, यह दोष बराबर व्यवस्थित है।

घटादिकोंके कार्यत्व साध्यमें प्रयुक्त अपेक्षित परव्यापारत्व हेतुकी निर्दोषताका कथन—घटादिक पदार्थ व्यंग्य नहीं हैं किन्तु कार्य हैं यह बात इस अनुमानसे सिद्ध की जा रही है। अनुमान बनाया गया है कि घट आदिक कार्य हैं क्योंकि वे परके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं तो इस अनुमानमें जो साधन दिया है कि घट आदिक पदार्थ परपदार्थके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं यह साधन असिद्ध नहीं है क्योंकि घट आदिक पर व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं यह बात कादाचित्क होनेसे सिद्ध होती है। यदि घट आदिक पदार्थ परके व्यापारकी अपेक्षा न रखते होते तो कादाचित्क न होते। आकाशकी तरह ध्रुव शाश्वत सर्वदा पाये जाने वाले होते। चूँकि घट आदिक कादाचित्क हैं अतः सिद्ध है कि ये परके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं इससे सिद्ध है कि घटादिक पदार्थ कार्य हैं। यहाँ शंकाकार कहता है कि घटादिक तो परके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखते, किन्तु घटादिकका आविर्भाव परके व्यापारकी अपेक्षा रखते हैं। और आविर्भाव ही कादाचित्क है याने घटादिक पदार्थोंका प्रकट हो जाना यह आविर्भाव कादाचित्क है और परके व्यापारकी अपेक्षा रखता है, पर घटादिक पदार्थ परके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखते और न कादाचित्क हैं। शंका समाधानमें यह पूछा जा रहा है कि इस आविर्भावका अर्थ क्या है? जो आविर्भाव परके व्यापारकी अपेक्षा रखता है और जिसके आविर्भाव किए गए हैं वह पदार्थ परके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता किन्तु अनादि अनन्त सत् है। तो ऐसे आविर्भावका अर्थ क्या है? क्या यह अर्थ है कि पहिले न पाये जाने वाले पदार्थोंका व्यञ्जकोंके व्यापारसे उपलब्धि हो जाना जैसे कि घड़ा पहिले न था, किन्तु चक्र दण्डादिकके व्यापारसे घड़ेकी उपलब्धि हो गयी। तो क्या यह अर्थ है कि पहिले न पाये जाने वालेका व्यञ्जकोंके व्यापारसे उपलम्भ हो जाना यदि यह अर्थ है तो इस प्रसंगमें यह कितने आश्चर्यकी बात है कि आविर्भावको तो पहिले असत् मान लिया और व्यञ्जक कारणोंके द्वारा किया गया यह मान लिया। पर घटादिक पहले असत् हैं और कारणोंके द्वारा किए जाते हैं यह नहीं माना जा रहा, सो यह सब

कथन अपनी रुचिसे कर देना मात्र है। यदि उस आविर्भावका भी यही ढंग मान लेते हो कि वे सब पहिले तिरोहित थे थे व भी आविर्भाव, पर उस आविर्भावका ही कारणोंके द्वारा अन्य आविर्भाव किए जाते हैं तब तो जो दूसरा आविर्भाव माने हैं वे भी पहिले तिरोहित थे और उसको भी अन्य कारणोंके द्वारा आविर्भूत करना चाहिए फिर उस तृतीय आविर्भूतको आविर्भूत चौथा मानना होगा, यो अनवस्था हो जावेगा फिर घटादिकका आविर्भाव कभी भी न हो सकेगा। और पहिले तो घटादिकके आविर्भावकी परम्परा ही तो सिद्ध हो ले।

कारणसे आविर्भावको आत्म लाभ माननेका समाधान—यहाँ शंकाकार कहते हैं कि आविर्भावका अर्थ है उपलम्भ होना, प्राप्त हो जाना, सन्निधिमें आ जाना ऐसे उपलम्भभूत आविर्भावका उपलम्भरूप-अन्य आविर्भावकी अपेक्षा नहीं होती। तब अनवस्था दोष आनेका अवसर न रहेगा। तो समाधानमें कहते हैं कि फिर तो आविर्भावका कारणसे आत्मलाभ मान लेना चाहिए। इतनी बात तो माननी ही पड़ेगी कि देखो—आविर्भाव पहिले न था और यह आविर्भाव स्वयं अन्य आविर्भावकी अपेक्षा करके हो गया। चलो यों ही हो गया सही। लेकिन यह तो निर्णय हो गया कि कारणसे आविर्भावका आत्मलाभ हुआ है और यह आविर्भाव पहिले न था तब इन शब्दोंसे यही सिद्ध हुआ कि आविर्भाव कार्य है व्यंग्य नहीं है और इसी तरह घट पट आदिक पदार्थ भी कार्य ही हैं व्यंग्य नहीं है क्योंकि आत्मलाभके सम्बन्धमें पर व्यापारकी अपेक्षा रखनेकी अविशेषता दोनों जगह है। जैसे कि आविर्भाव परव्यापारकी अपेक्षा रखकर ही हुआ, कारणसे हुआ, ऐसे ही घट पट आदिक पदार्थ भी परव्यापारकी अपेक्षा रखकर अपना आत्मलाभ पा सकें। तो यों परव्यापारकी अपेक्षा आविर्भावमें भी है, घट पट आदिक पदार्थोंमें है इसलिए ये सब कार्य कहियेगा, ऐसा नहीं है कि घट पट आदिक पदार्थोंका आत्मलाभ ही नहीं होता। जिनका आत्मलाभ नहीं होता उनकी उपलब्धि कभी भी की नहीं जा सकती। बिना स्वतन्त्र बने, बिना स्वरूपकी प्राप्ति हुए उपलब्ध कैसे कुछ हो जायगा? यदि बिना आत्मलाभ हुए ही उपलब्ध होने लगे कुछ; तो खरविषाण उपलब्ध होने लग जायें। उनके आत्मलाभ की तो अब आवश्यकता नहीं रहे तो इस प्रकार घट पट आदिक पदार्थोंको सांख्य सिद्धान्तमें प्रधानका परिणामरूप भी मान लो भी कार्यद्रव्य समर्थित ही होगा। प्रधानका परिणाम यह बात अलग विचारणीय है। इस समय तो यह कहा जा रहा कि प्रधानके परिणामरूपसे भी माने गए घटादिक पदार्थ कार्यद्रव्य ही सिद्ध होते हैं और उन घटादिक कार्योंका प्रागभाव न माननेपर घटादिक पदार्थ अनादि हो बैठेंगे और जब सभी पदार्थ अनादि सिद्ध हो गए तो कारणोंके व्यापारका अब कुछ प्रयोजन न रहा। लेकिन ऐसा है कहाँ? दुनियामें व्यवस्था कारणोंके व्यापारके माध्यमसे की जा रही है अतएव यह दूषण बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रागभावके न माननेपर कार्य, अनादि हो जायगा आविर्भाव माने तब, प्रधानका परिणाम माने तब कार्यद्रव्यकी

श्रेणीसे बाहर नहीं होते ये सब।

अभिव्यक्तिवादमें तिरोभाव नामान्तर देकर प्रागभावका ही समर्थन जो लोग कार्यद्रव्य शब्द रट करके नहीं कहना चाहते, तिरोभाव शब्द ही जिनको रटा है अथवा तिरोभाव मानते हैं तो भले ही वे तिरोभाव शब्दका मानें, लेकिन तिरोभावका भी तो वही अर्थ हुआ जो प्रागभावका अर्थ है। पहिले वस्तुका तिरोभाव था अर्थात् वस्तुका अभाव था तो प्रागभाव तो सिद्ध होता ही है। प्रागभावका ही तिरोभाव ऐसा एक नया नाम रख लेनेपर हम कोई दोष नहीं देते। रख लो नाम। नामका कुछ प्रयोजन नहीं, किन्तु भाव यथार्थ आना चाहिए। जो अवस्था है, व्यक्तरूप है, परिणमन है, जो आविर्भाव हुआ है वह पहिले न था, यही प्रागभावका मतलब है तो तिरोभावका प्रागभाव नामान्तर बन गया। घटका तिरोभाव है याने घटका प्रागभाव है। जैसे कि उत्पादका दूसरा नाम आविर्भाव रख लिया अब घटका आविर्भाव हो गया याने उत्पाद हो गया तो जैसे उत्पादका नामान्तर आविर्भाव है इस प्रकार तिरोभावका नामान्तर प्रागभाव है। तो नाम रख लेने मात्रसे आपत्ति नहीं है। प्रागभाव सबका मानना ही पड़ेगा। जो जो पदार्थ व्यक्त होते हैं, प्रकट होते हैं, निष्पन्न होते हैं उनका उस रूपमें पहिले अभाव था, इसमें कोई बाधा नहीं हो सकती। और, यदि कोई बाधा देता है, प्रागभाव नहीं मानता है तो उसके सिद्धान्त में कार्यद्रव्य अनादि बन बैठेगा। तो इस तरह मीमांसकोंके यहां और कपिल सिद्धान्त में भी ये दोनों दूषण आते हैं। जैसे मीमांसकोंने शब्दको शाश्वत माना है और तालू आदिकके व्यापारसे शब्दका आविर्भाव कहा है लेकिन यह तो मानना ही पड़ा कि वह शब्द सुननेमें आया? इसके रूपसे पहिले था नहीं। तो शब्दका प्रागभाव न मानने पर वह अनादि बन बैठेगा। यों ही घट, पट, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इन सब पदार्थोंका प्रागभाव न माननेपर ये भी अनादि बन बैठेंगे। और जब यह प्रसंग आ गया कि सब कुछ अनादि सिद्ध है ऐसा जगतमें कुछ नहीं है जो पहिले न था अब हुआ है सर्वथा सर्व कुछ अनादि सिद्ध है तब फिर कार्योंको उसके उत्पन्न करनेके लिए व्यापार करना अनर्थक हो जायगा। कुम्हार मिट्टी लाये और दंड चक्र चलायें, इतना परिश्रम करे, इतना जो कुछ कारणोंका योग किया जाता है, इस व्यापारकी अपेक्षा रखी जाती है वह यह सिद्ध करता है कि घट आदिक कार्य हैं, अन्यथा समस्त व्यापार अनर्थक हो जायेंगे।

प्रागभाव न माननेपर ताल्वादिव्यापारसे पहिले शब्दके अश्रवणत्व की असंभवता—अब और भी सुनो—यदि प्रागभाव नहीं मानते हैं अर्थात् पदार्थकी वर्तमान-दशासे पहिले उसका अभाव नहीं मानते हैं, तो अब विनाश नहीं माना तो यह बतलाओ कि शब्दमें ही अश्रवण किसके द्वारा किया गया? याने शब्द तो सुनाई नहीं दे रहे हैं, कोई बोले—तालू आदिकका व्यापार करे तब ना वचन सुनाईमें देते

हैं जो उससे पहिले ये शब्द जो सुनाई नही दे रहे, उनका जो अश्रवण बन रहा सो यह अश्रवण किसने किया ? यदि कहो कि अपने आवरणने किया याने शब्दका जो आवरण है उस आवरण स्वरूपने शब्दको अश्रुत बना दिया तो उत्तरमे कहते कि यह बात सारहीन है। क्योकि आवरण स्वरूपने यदि शब्दको अश्रवण बना दिया तो यह बतलावो कि शब्द स्वरूपका कुछ खण्डन करके बनाया है या शब्दका बिना कुछ खण्डन किए उसमें कुछ हेर फेर किए बिना ही उसको अश्रवण बनाया है ? यदि कहो कि शब्द स्वरूपका खण्डन किए बिना ही अश्रवण बनाया है तो यह बात कौन मान सकेगा कि उसका किसी भी रूपमें खण्डन निराकरण न हो और उसका आवरण कहलाये, यह हो नही सकता। तो तब दूसरा बात माननी होगी कि उसका आवरण करने वाली जो वायु विशेष है वह आवरण है और शब्दस्वरूपको खण्डित करता हुआ है। तो यो आवरण माननेपर शब्दमें स्वभावका भेद पड जायगा। याने शब्द पहिले अश्रवण स्वरूपसे थे अब श्रवण स्वरूपसे हुए तो शब्द दो प्रकारके है, अश्रवणत्व विशिष्ट और श्रवण धर्मविशिष्ट। और, वहाँ दो स्वभाव ये आ गए आवृत्त स्वभाव और अनावृत्त स्वभाव। सो आवृत्त स्वभाव और अनावृत्त स्वभाव इन दोनो का लक्षण बिल्कुल भिन्न भिन्न है। इसमें अभेद नही बन सकता कि ये दोनोके दोनो धर्मी स्वभाव एक वस्तुमे, शब्दमे आ जायें। और, कभी यह कह बैठे कि शब्दमे दो स्वभाव तो हैं—आवृत भी हैं, अनावृत भी हैं लेकिन उन दोनोका अभेद है तो उन दोनो विलक्षण स्वभावोका अभेद मान लेनेपर शब्दकी या तो श्रुति ही रहे या अश्रुति हो रहे याने शब्द सुननेमे आते हैं यह मानते हो तो यही यही मानियेगा और शब्द सुननेमे नही आते ऐसा मानते हो तब भी यही यही मानियेगा क्योकि शब्दके दो विलक्षण स्वभावोमे अभेद स्वीकार किया जा रहा ? तो जब आवृत स्वभाव और अनावृत स्वभावमें भेद न रहा तब पुरुष व्यापारमे पहिले शब्दकी अश्रुति है याने शब्द सुननेमे नहीं आता है और पुरुष व्यापारके अनन्तर श्रुति हो जाता है यह विभाग अब नही बन सकता। जब शब्दमे विलक्षण स्वभावोका अभेद मान लिया, एकात्मकपना मान लिया तो यह विभाग नही बन सकता।

दृश्य स्वभावके खण्डन बिना आवृततोकी अप्रसिद्धि—अब यहाँ कहते हैं शंकाकार कि देखिये ! जैसे अन्धकार घटादिक पदार्थोका आवरण करता है लेकिन घटादिकके स्वरूपका खण्डन न करता हुआ अन्धकार घटादि पदार्थोका आवरण करता है इसी प्रकार शब्दका भी आवरण होता है और शब्दको खण्डित न करते हुए हो जाता है। इसके समाधानमे कहते हैं कि यह कहना मिथ्या है, जैसे वायुके द्वारा शब्द का खण्डन हो जाता है इसी प्रकार कारणोके द्वारा घटादिक पदार्थोंके स्वभावका भी खण्डन हो जाता है। जरा दृष्टिको सम्हाल कर देखो ! सर्वथा कुछ बात नही कही जा रही। देखो ! अन्धकारमें वे घटादिक पदार्थ अब दृश्य तो नही हो रहे। तो घटादिक पदार्थोंमे पहिले जो दृश्यस्वभाव पडा हुआ था उस दृश्य स्वभावका खण्डन हो गया

तब ही अन्धकारका आवरण माना गया है। सभी पदार्थ परिणामी हुआ करते हैं। तो यद्यपि घट पूराका पूरा रखा हुआ है और अन्धकार आ जानेसे घट अदृश्य हो गया है तो अब कथंचित् घटके स्वभावका खण्डन हो गया। तो घट जिस दृश्य स्वभावको लिए हुए था उस दृश्य स्वभावका निराकरण हो गया। अगर दृश्य स्वभावका निराकरण न हो तब घट दिख जाना चाहिए पर दिखता नहीं है। तो इससे सिद्ध है कि अन्धकारके विस्तारोंमें घटादिक पदार्थोंके दृश्य स्वभावका खण्डन हुआ है और तब ही अन्धकार आवरण कहलाता है। सभी पदार्थ अनेक रूपोंसे परिणामी हुआ ही करते हैं तो घट अनेक प्रकारोंसे परिणत हुआ करते हैं। तो यहाँ यह सिद्ध हुआ कि आवरण होनेपर मानना ही होगा कि आवृत पदार्थके किसी रूपका खण्डन हो गया है। देखिये! उस ही पदार्थमें आवरणपना माना जाता है जो दृश्य स्वभावका खण्डन कर देता है। अन्धकारमें जो घटादिक पदार्थ नहीं दिख रहे तो वहाँ अन्धकारके द्वारा भी घट पट आदिक पदार्थोंके किसी स्वभावका खण्डन हुआ है। यदि यह मानोगे कि अन्धकारके द्वारा भी घटादिक पदार्थोंका खण्डन नहीं होता उसके दृश्य स्वभावका निराकरण नहीं होता तब फिर अन्धकारसे पहिले जिस तरह घटादिककी उपलब्धि होती थी उस प्रकार अब उपलब्धि क्यों नहीं होती? क्योंकि अब तो यह मान लिया कि अन्धकारके द्वारा घट आदिक पदार्थोंके उपलब्धपनेका खण्डन नहीं होता। इससे सिद्ध है कि चूँकि घट आदिक पदार्थ अन्धकारमें उपलब्ध नहीं होते सो अन्धकारके द्वारा घटादिक पदार्थोंका दृश्य स्वभावरूपसे खण्डन हुआ है।

कार्यकारणभाव न माननेपर शब्दमें श्रुतपनेकी असिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहते हैं कि शब्दके सम्बन्धमें बात यह है कि पुरुषके व्यापारसे पहिले और पुरुषके व्यापारके पश्चात् यद्यपि शब्द अखण्ड स्वभाव रूप ही है। लेकिन उसकी जो श्रुति नहीं होती अर्थात् सुननेमें शब्द जो नहीं आता उसका कारण यह है कि शब्द सुननेमें आवें इसके लिए सहकारी कारणकी अपेक्षा रहती है। सहकारी कारण हैं तालू आदिक। उनका व्यापार बने तब सुननेमें आये। शब्द तो अखण्डित स्वभाव ही है। अर्थात् उसमें आवरणस्वभाव पड़ा है और वह बराबर शाश्वत है। जब सहकारी कारणकी विकलता होती है, तालू आदिकके व्यापार नहीं हो रहे हैं उस समय शब्द अपने ज्ञानको उत्पन्न करनेमें नहीं आ रहा अर्थात् शब्दकी श्रुति नहीं बन रही है, इस शंकापर समाधानमें पूछते हैं तो यह बतलावो कि वह शब्द अपने विषयका ज्ञान करनेमें समर्थ या असमर्थ है। याने शब्द स्वविषयक ज्ञान करनेमें समर्थ है या असमर्थ? यदि कहो कि स्वविषयक ज्ञान करनेमें समर्थ है शब्द तो जो समर्थ है स्वविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें फिर तालु आदिक अन्य कारणोंकी अपेक्षा न होगी। यदि कहो कि शब्द अपने विषयक ज्ञान करनेमें असमर्थ है तो यह बतलावो कि उस समय सहकारी इन्द्रिय और मन जो कि व्यापार कर रहे हैं तो वे सहकारी इन्द्रिय और मन क्या इस शब्दकी असमर्थताका खण्डन करते हैं या नहीं करते हैं? यदि कहो कि तालु आदिक अथवा

इन्द्रिय मन आदिक ये स्व विषयक ज्ञान करसेमें असमर्थ शब्दके असामर्थ्यका खण्डन करते हैं तब तो शब्दके स्वभावकी हानि हो गई क्योंकि असामर्थ्य और शब्द ये चूंकि धर्म धर्मी हैं अत असामर्थ्यका खण्डन हुआ तो शब्दका ही खण्डन समझिये । और, यदि कहो कि वह सहकारी कारण ही वह क्या रहा जो अकिञ्चित्कर है ? जो दोषका, असामर्थ्यका निराकरण नहीं करता वह सहकारी कारण ही क्या रहा ? यदि शब्दके असामर्थ्यका याने स्व विषयक सम्वेदन करानेमें जो असमर्थ है उसका यदि खण्डन नहीं होता तो सहकारी कारण ही क्या रहा ? और खण्डित होता है तो स्वभाव हानि होती है । क्योंकि स्वभाव और स्वभाववानमें अभेद है । यदि कहोगे कि स्वभाव और स्वभाववानमें भेद है तब फिर यह असामर्थ्य शब्दकी है यह व्यपदेश ही नही बन सकता, क्योंकि बताओ कि शब्द और असामर्थ्यमे परस्परमें उपकारभाव है या नही । यदि कहो कि शब्द और असामर्थ्यमें उपकारभाव नही है, परस्पर अनुपकारक है तो जब अनुपकारक रहे तब फिर किसका कौन ? सम्बन्ध ही न बन सकेगा । यदि कहो कि स्वविषयक ज्ञानकी असामर्थ्यने शब्दका उपकार किया तो वह उपकार शब्दसे अभिन्न है या भिन्न ? यदि कहो कि अभिन्न है तो उपकार क्या किया ? शब्द ही किया । तब शब्द नित्य न रहा यदि कहो शब्दसे उपकार भिन्न है तो फिर उसका सम्बन्ध नही बन सकता क्योंकि उपकार ही न रहा । यदि कहो कि अन्य उपकार मान लिया जायगा तो वही प्रश्न फिर आता । सो अनवस्था दोष होता है । जिस तरह कि शब्दको प्रधानका परिणमन माननेपर जो जो दोष आते थे वे दोष सब यहाँ भी हैं ।

शब्दको नित्य और व्यापी माननेपर उसके श्रवण किये जानेकी अशक्यता —और, भी सुनो यह बताओ कि वे समस्त वर्ण नित्य सर्वगत हैं या उस से विपरीत हैं ? इन दो पक्षोंमे यह दूसरा पक्ष तो आपने स्वयं माना ही नहीं है । अब रहा नित्य व्यापी । तो वर्ण जब व्यापी हैं और नित्य है तब फिर उनका क्रमसे सुनना नही बन सकता, क्योंकि जो नित्य है और व्यापी है उसमे देश और कालका क्रम नही बन सकता । जब व्यापी है वर्ण इस लोकमे सब जगह पहिलेसे ही भरा हुआ है तो भरे हुएमें अब देशका क्रम क्या ? यहाँ शब्द न था, यहाँ आ गया, यह क्रम कैसे हो सकता ? यदि नित्य मानता है तो शाश्वत ही है शब्द । अब इस समयमे न था और इस समय हो गया यह क्रम कैसे बन सकता है ? शंकाकार कहते हैं कि शब्दकी अभिव्यक्तिके प्रतिनियमसे उनका क्रमसे सुनना बन जायगा । जैसे गो बोला तो पहिले गकार कहा, फिर उसके बाद ओकार कहा, तो यह नियम अभिव्यक्तिका पड़ा हुआ है, इससे क्रमसे सुनना बन जायगा । तो उत्तरमें कहते हैं कि इस पक्षमे भी अव्यवस्था है । देखिये ! जिसका समान समय है अर्थात् जितने भी वर्ण हैं वे सब श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा सुननेमे आते हैं । तो सारे ही वर्णोंका करण तो समान ही रहा । ऐसे उन नित्य सर्वगत वर्णोंकी, अभिव्यक्तिका भी नियम नही बन सकता, क्योंकि जब

नित्य और व्यापी स्वयं है तब तो सब जगह सब समय शब्दोंका एक साथ सुनना बनेगा। तब वह संकीर्ण हो जायगा। कुछ भी एक बात न रहेगी। देखिये! वर्णों का सुननेमें जो करण है, साधन है वह समान है। वह है श्रोत्र। जैसे कि नील पीतादिक रूप, विशेषोंका कारण है समान। उनके देखनेमें कारण पड़ता है चक्षु। ऐसे ही समस्त वर्णोंका सुननेमें करण है श्रोत्र। तब उन वर्णोंका यदि एक भी वर्ण की अभिव्यक्तिमें किसी तालु आदिकका व्यापार हुआ तब उस समय समान देश और समान कालमें रहने वालेकी अभिव्यक्तिका ही नियम कैसे रहेगा? नीलादिक पदार्थोंकी तरह। जैसे कि चित्र विचित्र नाना रूपोंके ग्रहण करनेके समय मनुष्य नाना वर्णोंको एक साथ ग्रहण कर लेते हैं उस ही प्रकार इन शब्दोंका भी एक साथ ग्रहण हो बैठेगा। किसी भी समय एक जगह किसी भी अवसरमें समस्त वर्णोंकी अभिव्यक्ति हो जायगी, क्योंकि वे सब स्वरूपसे तो व्यक्त मान ही लिए गए। कैसे? शब्दका स्वरूप है व्यापी और नित्य। नित्य और व्यापी शब्दोंमें किसी भी शब्दका अगर प्रकटीकरण होता है तो उस ही समय सब देश सर्व कालके वर्णोंका प्रकटीकरण हो जायगा। यदि कहो कि उन वर्णोंकी अभिव्यक्ति खण्डश: होती है, भागोंमें होती है। वर्णका कोई भाग व्यक्त हो गया और कोई भाग व्यक्त न हुआ तो इससे एक साथ सुननेमें आनेका दोष न आयगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो वर्णोंमें व्यक्त और अव्यक्तका भेद हो गया। अब शब्द एक स्वरूप न रहे और यों प्रत्येक वर्णमें भी अनेकपनेकी आपत्ति आयगी। वर्णस्वरूप वह एकस्वरूप है लेकिन व्यक्त और अव्यक्तके रूपसे वह अनेक बन गया तब स्वभाव एक न रहा। यदि कहो कि सर्वात्मक रूपसे ही शब्दकी अभिव्यक्ति होती है यानी वर्णोंकी खण्ड-खण्डरूपमें अभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु सब रूपसे है तब तो समस्त देश, समस्त कालमें रहने वाले प्राणियोंके प्रति वे सब वर्ण अभिव्यक्त हो गए फिर सब ही जगह सब ही सब जीवोंका संकीर्ण श्रुति क्यों न हो जायगी? यानी एक कच-कच मात्र ही रह जायगा, कोई बात सुननेमें न आ सकेगी।

उत्पत्तिवादमें शब्दके श्राव्य होनेके अभावका प्रसंग— यहां शंकाकार कहता है कि एक साथ सुननेमें आ जाय, क्रमसे सुनना न बने यह दोष तो उत्पत्तिपक्ष में भी दिया जा सकता है। वहां भी यह कहा जा सकेगा कि जिसका समान उपादान कारण है और देश काल समान है और सहकारी कारण भी समान है तो इन वर्णों की उत्पत्ति माननेपर उस देश कालमें रहने वाले समस्त पुरुषोंको जिनको कि यह कार्य कारण भी सब मिले हुए हैं क्यों न संकुल श्रुति बन जायें? यानी कल कलमात्र ही सुनते रहें, क्या बोले गए अलग-अलग वचन ये कुछ भी सुननेमें न आवें यह बात उत्पत्तिपक्षमें भी क्यों न बनेगी? अथवा क्रमसे सुननेका विरोध क्यों न आयगा। इस शंकापर समाधानमें कहते हैं कि उत्पत्तिके प्रसंगमें पद्धति यह है कि वक्ता, ताना का जो विज्ञान है, जो कि शब्दके कारण और कार्य हैं उनके क्रमवृत्तिकी अपेक्षा रख

स्वभावको ग्रहण करता हुआ भी यदि नित्य ही माना जाय तब फिर जगतमे कुछ अनित्य कहलायेगा ही नही। तो ये सब शब्द तालू, ओठ कठ, दत आदिक साधनोके व्यापारोसे उत्पन्न होते हैं इनकी ध्वनि बनती है। इतनेपर भी यह कहा जाय कि वह नित्य है। जब प्रत्य मे यह भान हो रहा है कि देखो ! वर्णोंके बोलनेसे पहिले वर्ण अश्रवण स्वभावमे थे अब श्रावण स्वभावमें आ गए, और अब श्रावणस्वभावका छोड़कर बोलनेके बाद अब अश्रवण स्वभावमे आ गए तो सुननेमें न आये, यह तो हुआ शब्दोसे विपरीत स्वभाव शकाकारके सिद्धान्तके अनुसार और सुननेमें आया यह हुआ शब्दका अनुकूल स्वभाव। जो बात शब्दमे मानी गई है वही बात प्रकट भी हो गयी तो यह कहलाया ठीक स्वभाव। उस स्वभावको छोड़कर अश्रावण स्वभावको शब्दने ग्रहण कर लिया और फिर भी कहा जाय कि शब्द नित्य है तब फिर जगतमे अनित्य रहा क्या ? जिसको वे अनित्य कहेंगे वहा यह आपत्ति अपनाई जायगी। तो यो शब्दो में नित्यपना नही है।

भिन्न देश स्वभावरूपसे उपलब्ध होनेसे वर्णोंमे नानात्वकी प्रसिद्धि— शब्द नित्यत्वनिराकरणके कथनसे इसका भी निराकरण हो जाता है जैसा कि कहा है कि तीनो लोकमे अकार आदिक वर्ण एक ही हैं। अकार आदिक वर्णोंके एकत्वका निराकरण इस कारण हो जाता है कि बिल्कुल प्रत्यक्ष विदित होता है कि एक साथ भिन्न-भिन्न देशोमे और भिन्न-भिन्न स्वभावको लिए हुए शब्द उपलब्ध होते हैं। कोई शब्द ऊँचे स्वरसे बोला हुआ है, कोई शब्द नीचे स्वरसे बोला हुआ है, आदिक रूपसे उनमे जब यह स्वभावभेद स्वरूपसे, देश भेदरूपसे उपलब्ध हो रहा है घट पट आदिक की तरह, तब उन वर्णोंको एक मान लेना कैसे विश्वासके योग्य हो सकता है ? शकाकार कहते हैं कि तुम्हारा जो हेतु है कि चूँकि शब्द एक साथ भिन्न देश और भिन्न स्वभावमें पाया जा रहा है, यह हेतु सूर्यके साथ व्यभिचारी हो जाता है। अर्थात् देखिये ! सूर्य एक साथ भिन्न देश और भिन्न स्वभावमें पाया जा रहा है लेकिन सूर्य तो अनेक नही हैं, एक ही है। और, एक साथ भिन्न देशमें पाया जानेपर भी भिन्न भिन्न स्वभावरूपसे सूर्यमे उपलब्धि नही होती। इससे यह हेतु बिल्कुल सही है कि अकार आदिक वर्ण एक नही हैं क्योकि एक साथ भिन्न देश और भिन्न स्वभावरूपसे वर्णकी उपलब्धि हो रही है। शकाकार कहता है कि निकट और दूर देशमे रहने वाले ज्ञाताजनोके साथ इस हेतुका व्यभिचार हो जायगा, क्योकि स्पष्ट और अस्पष्ट भिन्न स्वभावरूपसे ये लोग उस वस्तुको जान रहे हैं तो देखो ! यह एक पुरुष पास खड़ा है वृक्षके, एक पुरुष बहुत दूर है वृक्षके तो पास वालेको वृक्षका ज्ञान स्पष्ट हो रहा है और दूर वालेको ज्ञान स्पष्ट नही हो रहा है। तो देखो ! भिन्न देश और भिन्न स्वभाव रूपसे पाये जा रहे हैं प्रतिभास लेकिन वृक्ष तो वह एक ही है। तो एक साथ भिन्न देश, भिन्न स्वभावरूपसे पाये जानेसे वर्णादिकको नित्य कहा जाय यह अनुमान घटित नही होता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह शका करना युक्तिसगत नही है क्योकि वह

भी उस अंगुलिक्षेपमें नित्यता तो नहीं है। तो क्षणिक भी है अङ्गुलिक्षेप आदिक तो भी उनमें प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। अतः प्रत्यभिज्ञान नामक हेतु विरुद्ध हो गया तब इस ही पद्धतिसे बुद्धियोंके साथ भी यह हेतु व्यभिचारी है वह कि इस प्रत्यभिज्ञान नामक हेतुका बुद्धि और क्रियामें व्यभिचार होता है। जैसे कि क्रियामें प्रत्यभिज्ञान लगता है लेकिन नित्यत्व नहीं है इसी प्रकार इन बुद्धियोंमें भी प्रत्यभिज्ञान हेतु घटित होता है लेकिन नित्यत्व नहीं है। अतः प्रत्यभिज्ञान नामक हेतु बताकर वर्णोंको नित्य सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है।

वर्णोंमें स्वतः ही नानात्व—अब शंकाकार कहते हैं कि बुद्धि और कर्मको भी नित्य मान लिया जाय तब यह दोष न रहेगा। बुद्धि और कर्म भी नित्य हैं ऐसा हमारे सिद्धान्तमें कहा भी है। बुद्धि और कर्मको नित्य मान लेनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है। तो बुद्धि और कर्म जब नित्य हो गए और प्रत्यभिज्ञान न रहा अब विरुद्ध नामका हेत्वाभास तो न रहा और फिर वर्ण नित्य सिद्ध हो ही जायेंगे। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह वही क्रिया है ऐसा उस क्रियाका जो एकत्व है, नित्यपना है उसमें फिर अब अनेक या अनित्यपना कैसे हो जायगा? तो इसी प्रकार बुद्धिमें एकत्व होनेपर भी फिर कुछ भी अनेक न रहेगा। सब वर्णोंमें एकत्व हो जायगा। वहाँ यह कह सकते हैं कि देखो अभिव्यञ्जकके भेदसे इन वर्णोंमें नानापन है। वस्तुतः नहीं है। जैसे जलचन्द्र। आंगनमें १०, २० बर्तन जलके भरे रखे हैं, अब उन सभी बर्तनोंमें जलका प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब क्या लोकोक्तियोंमें वह चन्द्र ही है। कोई यह नहीं कह पाता कि यह चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब है, किन्तु यह कह ही देते हैं कि यह चन्द्र है। तो जैसे जलमें जो चन्द्र है सो चन्द्र अनेक नहीं हैं। पर जलपात्रके भेदसे वे चन्द्र नाना रूप हो गया। इसी तरह वर्णोंके सम्बन्धमें भी कह दिया जायगा कि सारे वर्ण एक ही हैं। उनमें अलग-अलग उच्चारण आदिक ये कुछ अवस्थायें नहीं हैं। यदि कहो कि शब्दोंके एकत्वमें तो प्रत्यक्षसे विरोध है तो यही बात क्रियाके एकत्वमें भी मानो। कर्मके एकत्वमें फिर अविरोध कैसे हो जायगा? यहाँ एक बात यह समझ लेनेकी है कि याज्ञिक जन जो भावना अर्थ मानते हैं वाक्यार्थ उनके सिद्धान्तमें वे सब क्रियायें एक हैं। किन्तु पुरुष भावना ही उन सब क्रियावोंका अर्थ है। तो जो याज्ञिकजन यह मानते हैं कि क्रियाका तो एकत्व है और वर्णोंमें एकत्व नहीं याने वर्णोंका एकत्व कथन करनेका प्रत्यक्ष विरुद्ध कहते हैं। और क्रिया आदिकके एकत्वके कहनेमें प्रत्यक्ष विरोध नहीं कहें ऐसा याज्ञिक जनोंमें यह विभाग कैसे बन सकेगा? तो प्रत्यक्ष विरोध होनेसे जो वर्णैकत्व नहीं मानते हैं उनको अब अग्निहार आदिक क्रियावोंका भी एकत्व न कहना चाहिए, जिससे कि शब्दके नित्यत्वके सिद्ध करनेमें क्यों प्रत्यभिज्ञान विरुद्ध नहीं हो। उक्त कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि यह प्रत्यभिज्ञानरूप हेतु जब कि व्यभिचारी है तो ये अकारादि रूप वर्ण तालु आदिकके व्यापारसे उत्पन्न हुए आवरण स्वभावको छोड़कर विपरीत

पर भी यदि वर्णको एक ही मानते हो तब फिर दुनियामें किसी भी जगह अनेकताकी सिद्धि नहीं हो सकती। घट पट अनेक दिखते हैं फिर भी, कह देंगे कि अनेक हैं, बाधा इसमें कुछ आ नहीं रही, फिर भी ये भ्रान्त हैं। वस्तुत एक ही पदार्थ है।

प्रत्यभिज्ञानसे वर्णोंके एकत्वको सिद्ध करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—शंकाकार कहता है कि यह वह ही अकार है इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होनेसे अकार आदिक वर्णोंमें एकत्व सिद्ध होता है याने वे अकार आदिक कोई भी वर्ण एक ही हैं। इसके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो अगहार आदिक क्रियाविशेषोंमें भी एकत्व हो जायगा। जैसे कि कोई नर्तक पुरुष जैसा रोज नृत्य करता आया है, उसी तरह आज भी वह अपने अंगोंको फैलाकर फेंककर नृत्य कर रहा है तो वहां भी प्रत्यभिज्ञान होता है कि देखो! यह वही नृत्य है जो कल था। तो वहांपर भी एकत्व आ जाना चाहिए। और वहां ही क्या, इस तरह समस्त पदार्थ विशेषोंमें एकत्व हो जाना चाहिए। घट पट आदिक कोई भी पदार्थ अब भिन्न-भिन्न अनेक न रहेंगे, क्योंकि किसी प्रकारसे किसी भी पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान किया ही जा सकता है वर्णोंकी तरह। जैसे कि आकार आदिक समस्त वर्णोंमें और भूत वर्तमान भविष्यमें सब ही वर्णोंमें प्रत्यभिज्ञान द्वारा कि यह वही वर्ण है, एकत्व मान लिया है तो सभी पदार्थोंमें एक सत्त्व हेतु द्वारा यह भी सत् है, यह भी सत् हैं, इस प्रकारका विचार होनेसे सभी पदार्थोंमें एकत्व बन जायगा, लेकिन यह तो प्रकट विरुद्ध है इसी तरह अकार आदिक वर्णोंमें देशभेद और कालभेदसे उनमें भेद पाया जाता है और उनको वर्णोंमें सदृशता का उदाहरण देकर एकत्व नहीं माना जा सकता। यहां शंकाकार कहते हैं कि देखो, शब्दमें अनेकत्वकी सिद्धि इस कारणसे नहीं है कि एक साथ प्रतिनियत देशमें मंद और तार श्रुतियोंके अभिव्यंजक होनेका कारण है याने कोई शब्द बड़े ऊंचे स्वरसे प्रकट होते हैं कोई शब्द छोटे स्वरसे प्रकट होते हैं और वे होते हैं एक साथ। तो इस दृष्टिसे शब्दमें अनेकताकी सिद्धि नहीं है याने वर्णपनेसे अन्य जो भिन्न देशस्वभाव है उस विशेषको ग्रहण करने वाला बुद्धि है अतः शब्दमें अनेकता नहीं है। तो उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह तो सब जगह वही बात लगाई जा सकती है। जितने भी अगहार आदिक है उन सबमें भी देशादिक विशेष बुद्धिका अभिव्यंजक करने वाले हैं याने अगहार आदिक तो एक नित्य हैं और हाथ पैर आदिक उसके अभिव्यंजक हैं, ऐसा कल्पना करके यहां भी एक सत्त्वका निषेध किया जा सकता है। तो जो बात एक प्रत्यक्षमें सुगमतया विदित होती है उसका निराकरण करनेके लिए क्लिष्ट कल्पनायें करना इसका छिपाव निष्प्रयोजन है।

वर्णोंकी अनेकता और वर्णोंकी वर्तमानतासे पहिले व पश्चात् वर्णोंका अभाव—वर्ण अनेक ही सिद्ध होते हैं। जब वर्ण अनेक हैं तो इन पुद्गलोंकी भाषामयी उत्पत्ति होनेके उपायोंका सन्निधान बनता है, उनका साधन जब जुट जाता है

वृक्ष भिन्न-भिन्न देश रूपसे उपलब्ध नहीं हो रहा। वह तो जहाँ है वहाँ ही दिख रहा है पर दूरमे रहने वाले पुरुषको उसका अस्पष्ट ज्ञान है और पासमें रहने वाले पुरुषको वृक्षका स्पष्ट ज्ञान है। यह साधनके अन्तरसे अन्तर हुआ है।

वर्णोका नानात्व सिद्ध करनेके लिये कहे गये भिन्न स्वभाव देशोपलव्वता हेतुकी अव्यभिचारिता—अब शंकाकार कहते हैं कि वर्णोको अनेक सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया है कि एक साथ भिन्न देश और भिन्न स्वभाव उपलब्ध होनेसे ये अकार आदिक वर्ण अनेक हैं तो इस हेतुका चन्द्रके साथ व्यभिचार होता है अर्थात् नेत्रोंमें कोई आवरण विशेष होनेसे या नेत्रोंके कोनेसे अंगुलियोंको कुछ दबा दिया जानेसे देखो—भिन्न भिन्न देश स्वभाव रूपसे उपलब्ध हो रहे हैं वे दो चन्द्रमा, तो वे दो चन्द्र जो कि आँखके कोनेको दबानेसे बहुत दूर दूर दिख रहे हैं, पर चन्द्र तो वहाँ एक है और दूर दूर दिखनेका कुछ अर्थ ही नहीं है। तो उस चन्द्रमाके ज्ञानके साथ हेतु दूषित हो गया। भिन्न देश, भिन्न स्वभावसे उपलब्ध तो हो रहे हैं वे दो चन्द्र लेकिन दो नहीं हैं एक हैं। तो इस प्रकार एक साथ भिन्न देश, स्वभावरूपसे वर्ण उपलब्ध तो हो रहे हैं मगर वे सब वर्ण एक ही हैं। तो उत्तरमे कहते हैं कि भ्रान्तकी उपलब्धिसे अभ्रान्तकी उपलब्धिमें व्यभिचार नहीं दिया जा सकता। यदि कोई भ्रम वाले उदाहरणसे निर्भ्रान्तकी उपलब्धिमें दोष देने लगे तो सभी प्रकारके हेतुओंमें निर्दोषताका सम्बन्ध नहीं रह सकता। प्रत्येक हेतुमें कोई व्यभिचार आ ही सकता है। शब्दको भी एक साथ भिन्न देश स्वभावरूपसे जो उपलब्धिमे लिया जा रहा है वह भ्रान्तिज्ञान नहीं है। क्योंकि सर्वदा ऐसा समझनेमें बाधा नहीं आ रही। भ्रान्त ज्ञान तो वह होता है कि किसी एक दो का यदि भ्रम होनेपर अनेक लोग उसे नहीं जान रहे। दो चन्द्रमाका दिखना किसी खास रोग वालेको तो बनता है लेकिन अनेक पुरुषोंको तो सदा चन्द्र एक ही दिखता है। और, जो चीज सदा सबको अनेक दीखे वह तो अनेक ही है चन्द्र एक है जो वहाँसे दिखता है और सभी जनोंको एक दिखता है। अब किसीके नेत्रमें रोग हो और उसे दो चन्द्र दिखने लगें हो उसमें उत्तरकालमे बाधा आती है। वह भी खुद समझता है कि मुझे ऐसा रोग हुआ है कि एक चन्द्रकी जगह दो चन्द्र दिखते हैं। तो लो बाधा आ गई ना! मगर वर्ण एक साथ भिन्न देशमें भिन्न स्वभावसे पाये जा रहे हैं ऐसे ज्ञानमें किसी भी प्रकारका व्यभिचार नहीं आता। यदि भ्रान्तकी उपलब्धिसे अभ्रान्तकी उपलब्धिमें दोष दिया जाने लगे फिर तो सारे हेतु व्यभिचारी बन जायेंगे। किसी भी हेतुको निर्दोष न कहा जा सकेगा। सर्वदा बाधकोंका अभाव रहे और उसमें भ्रान्तपना रहे, यह संदेह न करना। कोई ऐसा सोचने लगे कि किसी जाननेमें सदाकाल बाधाका अभाव रहा आये और फिर भी भ्रान्त रहे तो यह बात नहीं है। एक साथ प्रतिनियत देशमें भेद और तीव्र जो श्रुति होती है याने उच्चस्वरसे और हल्के स्वरसे जो शब्दोंका श्रवण होता है सो अनेक ही सिद्ध हुए ना! कोई वर्ण धीरे बोला गया, कोई उच्चस्वरमें। इतने

उद्भूतरूप है किन्तु रूप उसमे अव्यक्त है। तो अव्यक्त है रूप जिसमे इस प्रकारका यह गंध परमाणु, पुद्गल स्कंध स्वभाव वाला है अतएव चक्षुके द्वारा उस गंध परमाणुमे रूपकी उपलब्धि होनेकी योग्यता नही है। सो गंधका चक्षुके द्वारा दिखना नही बनता। उत्तरमे कहते है कि फिर इन्हीं कारणोमे शब्द भी आँखो न दिखे, इसमें कौन सी बाधा है शब्दमें रूपकी अव्यक्ति है और इस ही कारणसे आँख द्वारा उपलब्धि की योग्यता शब्दमे नही है सो शब्द भी आँखोसे नही दिखता। यह दोष देकर कि शब्द आँखोंसे नही दिखता सो पुद्गल नहीं है, यह कहना अयुक्त है।

गंध परमाणुवत् शब्द परमाणुओमे भी सीमाधिकविस्तार विक्षेप होने के प्रसगका अभाव—शकाकार कहते हैं कि शब्द परमाणु जब तालू आदिकमे उत्पन्न हुए वचनसे प्रेरित हो जाते हैं तो उनका बहुत बड़ा विस्तार हो जाना चाहिए, जैसे शब्दकी जितनी दूर तक फैलनेकी मर्यादा है उस मर्यादाका उल्लघन करके भी शब्दोको आगे फैल जाना चाहिये। इसके समाधानमें कहते हैं कि इसी तरह तो फिर गंध परमाणुओके भी जो कि पवन से प्रेरित हुए हैं उनके फैलनेकी मर्यादासे आगे भी फैल जाना चाहिए। जिस तरह शब्दमें यह दोष देते हो कि तालु आदिक वचनोमे जब इन शब्दोको प्रेरित किया जाता है याने जब कभी धीरेसे बोलना होता है तो तालू आदिकका प्रयत्न मदतासे करना पड़ता है। और जब किसी शब्दको बहुत दूर तक सुनना है तो तालु आदिकका उपयोग बहुत तीव्रतासे किया जाता है। देखो—तालू आदिकसे उत्पन्न हुए वचनोसे शब्द परमाणु प्रेरित हुए ना, तो यो प्रेरित होते हुए शब्द परमाणुओका विस्तार अत्यन्त अधिक बढ जाना चाहिए। याने शब्दमे जितनी दूर तक फैलनेकी मर्यादा है उससे और आगे बढ़ जाना चाहिए। सो यही बात गंधके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है। जैसे जब हवा चलती है तो उस हवासे प्रेरित होकर गंध दूर तक फैलती ही है तो इस प्रेरणामें वह गंध अपनी मर्यादासे बाहर भी फैल जाना चाहिए। सो जैसे पवनसे प्रेरित होते हुए गंधमे जहा तक फैलने की मर्यादा है उससे बाहर वह गंध नही फैलती, इसी प्रकार तालू आदिक वचनोमे प्रेरित होनेपर भी शब्द परमाणुओमे जहाँ तक फैलनेकी मर्यादा है, उससे बाहर ये नही फैलते। यदि शकाकार इस क्षेत्रके समाधानमे यह कहेगे कि गंध द्रव्यके स्कंध-रूपसे परिणत होनेके कारण जैसे कस्तूरी आदिक ये एक पिण्डरूप है ना, सो स्कंध-रूप होनेके कारण हवासे प्रेरित होनेपर भी इसका मर्यादासे अधिक विस्तार नही होता। जैसे कि शरीर। शरीर पिण्डरूप है पुद्गल स्कंधरूप है। तो इसका फैलाव विस्तार, कहाँ तक होता है! ऐसे ही गंध वायु आदिसे प्रेरित हो जाय तो भी यह मर्यादासे बाहर नही फैल सकता। कभी हवा से शरीर कुछ हिलने लगता है तो वह हजारों योजन तक तो न हिलेगा। न जाने शरीरादिक पुद्गल स्कंध रूपसे परिणत होनेके कारण हवासे प्रेरित होनेपर भी वह विस्तृत नही बन पाता, ऐसे ही गंध द्रव्य स्कंधरूपमें परिणत होनेसे यह हवा द्वारा प्रेरित होकर भी मर्यादासे आगे

तब ये सब यद्यपि श्रावण स्वभाव हैं याने सुननेमे आ सके ऐसा शब्दोंमे स्वभाव पड़ा हुआ है, लेकिन जिस समय ये सुननेमें आ रहे हैं उसके पहिले व उसके पश्चात् दोनो कालोमे शब्द है कहीं। वे तो प्रयत्नके बाद उत्पन्न होते हैं घट पट आदिककी तरह। जैसे घट पट आदिक पुद्गल पदार्थ जिस समय बनाये गए और जब तक वे रहते हैं तब तक तो वे हैं पर उससे पहिले याने उत्पन्न होनेसे पहिले नहीं हैं और घटके प्रध्वंस के बाद भी वह विवक्षित घट नही है। वह तो कुम्हार जुलाहा आदिकके व्यापारसे उत्पन्न हुआ है। तब समझना चाहिए कि शब्द भी न पहिले था न पश्चात् है और वह अपौरुषेय नही है, किन्तु पुरुष प्रयत्नके द्वारा उत्पन्न किया गया है। सो ऐसे शब्दका भी जैसे प्रागभावका निषेध करना ठीक नही है इसी प्रकार शब्दके प्रध्वंसका भी निषेध करना सही नही है।

गन्धपरमाणुवत् शब्दपरमाणुओमे चाक्षुषताके प्रसंगका अभाव– अब यहाँ शंकाकार कहते हैं कि देखिये ! शब्दको यदि पुद्गलका पर्याय मान लिया जाता है तब चक्षुके द्वारा शब्दकी उपलब्धि होनेका प्रसंग आ जायगा, क्योंकि कहा भी है कि जो स्पर्श, रस, गंध वर्ण वाला हो वह पुद्गल कहलाता है, याने जो पुद्गल होता है वह स्पर्श, रस, गंध वर्ण वाला है। शब्दको मान लिया पुद्गल तो उसमे वर्ण भी सिद्ध हो गया। जब वर्ण है शब्दमे तो आँखके द्वारा वह दिख जाना चाहिए और दिखता है नहीं। सिद्धान्तसे विरुद्ध आ रहा तो कैसे माना जाय कि शब्द पुद्गलका पर्याय है शब्द तो शब्द आँखोंसे दिख जाना चाहिए, इस हेतुका गंध परमाणुओंके साथ व्यभिचार आता है। गंध परमाणु तो शंकाकार नैयायिक आदिक भी एक पिण्डरूप मानते हैं। गंध परमाणु जब एक भौतिक चीज मानते हैं तो उसकी भी चक्षुके द्वारा उपलब्धि हो जाना चाहिए, क्योंकि पुद्गल पर्याय है। सो जैसे गंध परमाणु एक पिण्ड-रूप भौतिक होनेपर भी चक्षुके द्वारा नही जाना जा रहा है तो इसी तरह शब्द भी चक्षुसे न जाना जायगा। जैसे उत्तर गंध परमाणुके सम्बन्धसे जो पुद्गल परिणमन है वह पुद्गल पर्यायपना अदृश्य होनेसे गंध परमाणु दर्शनमें नहीं आता तो वही उत्तर शब्द पुद्गलमे भी लगाना चाहिए कि शब्द पुद्गल भी इतने सूक्ष्म हैं उनकी पुद्गल पर्यायता इस किस्मकी है कि वह अदृश्य है। अतएव शब्द पुद्गल भी चक्षु द्वारा दिखने में नहीं आता। अब शंकाकार कहते हैं कि देखिये ! शब्दको चक्षुके द्वारा दिख हो जाना चाहिए क्योंकि शब्द तो पुद्गल स्कंधका स्वभाव है, जैसे कि घट, घट पुद्गल स्कंध है ना ! वह कोई बिखरे हुऐ परमाणु जैसा तो नही है, तो जब पुद्गल स्कंध है शब्द तो फिर वह आँखो दिख जाना चाहिए। इसके समाधानमें कहते हैं कि इस ही हेतुसे, इस ही पद्धतिसे गंध भी चक्षु द्वारा दिख जाना चाहिए, क्योंकि गंध भी तो पुद्गल स्कंधका स्वभाव है। यदि कहो कि गंधमें अप्रकट रूपकी विधिके पुद्गल स्कंध स्वभावपना है, याने गंधमें रूप भी समस्त अधिकरणरूपसे रह रहा है जैसे कि पृथ्वी है वह गंध वाली है और पृथ्वीमें गंध, रूप, रस पाये जा रहे, है लेकिन उसमें गंध तो

यों ही फिर गंध एक पुरुषके प्राणमें प्रवेश हो जानेसे फिर अन्य जो पासमें जानकार लोग स्थित हैं उन्हें फिर गंधका ज्ञान न होना चाहिए। यदि कहो कि गंध परमाणु तो एक सदृश परिणाम वाला है। इस कारण इन गंध परमाणुओंका चारों ओरसे फैलाव होता है। वे गंध परमाणु चूंकि सभी गंध रूप हैं तो गंधरूपकी समानता होनेसे वे परमाणु फैल जाते हैं और तब अनेक पुरुषोंके घ्राणोंमें उन गंधोंका ज्ञान हो जाता है। इस कारण गंध परमाणुओंमें दोष नहीं दे सकते। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि फिर तो शब्द परमाणु भी जितने अनेक हैं वे सब समान परिणाम रखने वाले हैं। सभी शब्दरूप हैं अतएव शब्द परमाणुओंका भी नाना दिशाओंके रूपसे फैलना हो जाता है। इस कारण यहाँ भी वह दोष न होगा।

गंधपरमाणुवत् शब्दपरमाणुओंके भी आगमनकी सिद्धि होनेसे पौद्गलिकत्वका समर्थन—अब शंकाकार कहता है कि शब्दका आगमन होना ऐसी कल्पना बन जायगी। यद्यपि शब्द अदृष्ट हैं और आगमनकी बात कुछ नहीं है। शब्द स्वदेशमें सब जगह व्यापक है और जहाँ उनका व्यञ्जक कारण मिलता है वहाँ वे शब्द व्यक्त हो जाते हैं। लेकिन अब जो जब शब्दोंको पौद्गलिक मान लिया तो इनका आगमन भी मानना पड़ेगा। यों शब्दके आगमन आदिक कल्पनायें करनेका प्रसंग आ जायगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि यों ही फिर गंध परमाणुओंके भी आगमनकी कल्पना करनी पड़ेगी। यदि यह कहो कि गंध परमाणुओंका तो आगमन निश्चित् हो है, उसमें कोई कल्पना करनेकी बात क्या है? यदि गंध परमाणु न आते होते तो जानकारी विशेष बन हो नहीं सकती थी। तो गंधविषयक जो जानकारी बन रही है उससे यह सिद्ध है कि गंध परमाणुओंका आगमन है। यों अदृष्ट होनेपर भी गंध परमाणुओंके आगमनकी उचित परिकल्पना युक्त ही है। इस आक्षेपके समाधानमें कहते हैं कि यों ही तो शब्द पुद्गलका भी जानकारी विशेष अन्यथा न हो सकती थी इस कारणसे जाना जाता है कि शब्द परमाणु भी आते हैं। जैसे जहाँ जिस समय जितने जानकार पुरुषोंको शब्द पुद्गलकी उपलब्धि हुई है स्रोत्र इन्द्रिय द्वारा शब्दका श्रवण कर जानकारी करते हैं इस प्रकार वहाँ उस जगह इसके सब जीवोंको उपलब्धि बराबर होरही ना, तो उससे यह सिद्ध होता है कि ये शब्द आते हैं और उनके आगमनकी कल्पना करना कोई व्यर्थकी कल्पना नहीं किन्तु उचित कल्पना है। इस तरह शब्दोंके सम्बन्धमें जो शंकायें की गई हैं उस शब्दको पुद्गल स्वभाव माननेपर ये आपत्तियाँ आती हैं, तो वे सारी आपत्तियाँ गंध परमाणुओंके सम्बन्धमें भी शब्दकी तरह बनाई जा सकती है, और इस तरह शब्दको पुद्गल स्वभाव माननेपर जो उपालम्भ दिया गया कि शब्दको दिखाई दे जाना चाहिए। यदि यह पुद्गल स्वभावी है तो शब्दोंका विस्तार बढ़ना चाहिए, अपनी सीमासे अधिक क्षेत्रमें फैल जाना चाहिए, शब्दको बिखर जाना चाहिए या शब्दोंका प्रतिघात होना चाहिए और शब्दोंको कानमें भर जाना चाहिये। और,

फैलता नहीं है। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि ठीक है लेकिन इस ही तरह शब्द परमाणुवोंमें भी घटित कर लेना चाहिये। वे भी शब्द स्कंधरूपसे परिणत हैं अतएव तालु आदिक वचनोंसे प्रेरित होनेपर भी अपनी मर्यादासे आगे उनका विस्तार न बन सकेगा। और इस ही कारण उनका फैलना भी नहीं बन सकता, गंध परमाणुओंकी तरह। जैसे कि गंध परमाणु स्कंध परिणत हैं तो उनका चारों ओर फैलना भी मर्यादसे बाहर नहीं बनता। तो ऐसे ही शब्द भी स्कंध परिणत हैं इस कारण उनका भी चारों ओर फैलना मर्यादासे बाहर नहीं बनता। ये शब्द-परमाणु स्कंध परिणत हैं क्योंकि इनमें बंध विशेष पाया जाता है। तो स्कंध परिणत होनेके कारण शब्दोंमें विस्तार व विक्षेपके दोष नहीं दिए जा सकते।

गंधपरमाणुवत् शब्दपरमाणुवोंका प्रतिघात होनेसे पौद्गलिकताकी सिद्धि—कोई यह कहे कि जब ये शब्द स्कंध परिणत हैं तो इनका मूर्त द्रव्योंके द्वारा प्रतिघात हो जाना चाहिए, सो भी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि स्कंध परिणत गंध परमाणुवोंमें भी प्रतिघात हो जाना चाहिए। यदि कहो कि गंध परमाणुओंका तो भींटादिकके द्वारा प्रतिघात होता हुआ देखा ही जा रहा है तो शब्द परमाणुवोंका भी भींटादिकके द्वारा प्रतिघात होता हुआ देखा जाता है, सो गंध परमाणुओंकी तरह शब्द परमाणुओंमें भी पुद्गलकी पर्यायता सिद्ध होती ही है।

गंध परमाणुओंसे नासिकापूरणके अप्रसंगवत् शब्दपरमाणुओंसे कर्णपूरणका अप्रसंग—शंकाकार कहता है कि मूर्तमान शब्द परमाणुओंके द्वारा जो कि स्कंधरूपमें परिणम गए हैं उन शब्द परमाणुओंके द्वारा श्रोताके कान भर जाने चाहिएँ। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह तो गंध परमाणुओंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है, क्योंकि गंध परमाणु भी स्कंध परिणाम हैं। तो स्कंधरूप परिणमे हुए गंध परमाणुओंके द्वारा घ्राण भर जाना चाहिये। तो जैसे गंध परमाणुओंका गंध विषय लेकर भी घ्राण कहीं उन परमाणुवोंसे भर नहीं जाता इसी तरह शब्दरूप परिणत हुये उन स्कंधोंके द्वारा श्रोताके कान भर नहीं जाते। श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा यह आत्मा उन पुद्गल स्कंधोंका ज्ञान कर लेता है और ऐसे ही घ्राणेन्द्रियके द्वारा यह आत्मा उन गंध परमाणुओंके गंधका ज्ञान कर लेता है। इन्द्रियां तो रूप रस आदिकके ग्रहण करनेके साधन हैं।

गंधपरमाणुओंका एकमात्र घ्राणप्रवेशानुपलम्भकी तरह शब्दपरमाणुओंका भी एकमात्र श्रोत्र प्रवेशानुपलम्भ—शंकाकार कहते हैं कि जब शब्द एक श्रोताके कानमें प्रवेश कर रहा है तब एक श्रोत्रमें शब्दके प्रवेश हो जानेपर फिर उस ही के आस पास बैठे हुए अन्य श्रोताओंको शब्द सुनाई न देना चाहिए, क्योंकि शब्दोंका प्रवेश तो एक पुरुषके कानमें हो गया है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि

का कोई विरोध नही हैं। इसका कारण यह है कि निश्छिद्र भीटादिकमे गमनागमन करना यह सूक्ष्म स्वभाव होनेसे सम्भव हो जाता है। जैसे स्नेह स्पर्श आदिक भी तो छिद्ररहित भीटसे बाहर पहुँच जाते हैं। जैसे कि किसी तांबेके कलशके भीतर तैल और जल भरा हुआ है। मिट्टीके कलशके भीतर तैल या जल भरा हुआ है तो उस तैल और जलके बिन्दुओंका बाहर भी निर्गमन देखा गया है, क्योंकि वह कलश बाहरसे चिकना मालूम होता है। और उस कलशको बाहरसे छूकर ठंडापनका भी ज्ञान किया जाता। इससे सिद्ध है कि वह स्नेह और सीतस्पर्श यद्यपि भीतर ही वह वस्तु है लेकिन उसके बाहर निर्गमन हो गया है। ऊपरसे घडेको छूकर जो यह जान लिया जाता कि यह बडी ठंडी चीज है, या किसी अन्य बर्तनमे भी कोई गर्म या ठंडा जल पडा हो तो लोग बर्तनको बाहरसे ही छूकर परख लेते हैं कि इसमे यह ठंडा जल है यह गरम जल है। तो उसका शीतस्पर्श है। जब बाहर निर्गत हो गए तब ही तो यह जाना गया। कोई घडा बिल्कुल बंद है, उसमें शीतल जल रखा है और ऊपरसे बिल्कुल बंद किए हुए है लेकिन बाहरके स्पर्शसे अनुमान हो जाता है कि इसके भीतर ठंडा जल भरा हुआ है। तो किञ्चित् घटादिकमे जैसे बाहरकी चीज अन्दर प्रवेश करती है भीतरकी चीज बाहर निर्गत हो जाती है तो ऐसे ही ये शब्द परमाणु भी सूक्ष्मस्वभाव के हैं अतः निश्छिद्र भवनादिकके बाहर चले जाते हैं और बाहरसे भीतर आ जाते हैं, इतनेपर भी जो भीटादिकमे दरार नही पडती कोई भेदन नही होता, इससे सिद्ध है कि ये इतने सूक्ष्म हैं कि निश्छिद्र भवनादिकमे प्रवेश कर जाते हैं और उनका भेदन नही करते। तब जो अनुमानमे हेतु दिया है शंकाकारने कि शब्द पुद्गलस्वभाव नही है, क्योंकि उनका निश्छिद्र निर्गमन आदिक देखा गया है। सो इस हेतुमे स्नेहादिक और स्पर्शादिकके साथ व्यभिचार आता है, इस कारण यह हेतु समीचीन नही है। जिससे कि यह हेतु शब्दके पुद्गल स्वभावका निराकरण कर सके। जो कुछ भी परिणमन होता है वह पुद्गल स्वभाव है। यह निर्णय बिल्कुल युक्त है इसमे किसी भी प्रकारका विरोध नही आता।

शब्दोंकी वर्तमानताका समय — अब और कुछ विशेषतः शब्दोंकी निर्णीति करना चाहिये जैसे जब शब्दमे पुद्गल स्वभावका कोई विरोध नही है और प्रश्न उठे यह कि ऐसे पुद्गल शब्द फिर ठहरते कितने समय तक हैं सो सुनो। तालु आदिक यत्नसे उत्पन्न हुए वर्णादिक स्वरूप और ये शब्द वर्गणायें इनमे जो अर्थ सुननेका स्वभाव आया है अर्थात् कर्णमे प्रवेश करनेपर ये शब्द सुने जा सकते हैं। इस प्रकार का इनमे जो स्वभाव आया है वह स्वभाव तालु आदिक प्रयत्नोसे पहिले तथा और ताल्वादिक प्रयत्नके समाप्त होनेके बाद कुछ समय जितनी भी मर्यादा है उस ध्वनि समाप्त होनेके बाद उन पुद्गलोमें वह श्रावणस्वभाव नही रहता है। इससे उतने समय तक ही ध्वनि प्राप्त होती है जितने समय तक ये सुननेमे आते हैं। सुने जानेका इसमें स्वभाव बना हुआ है। यही बात शब्दके सम्बन्धमें सबको मानना चाहिए।

एक पुरुषके स्रोत्रमें शब्दो । प्रवेश हो गया तो अन्य स्रोत्रमें प्रवेश न होनेसे अन्य पुरुषो का सुनाई न दिया जाना चाहिए । ये जितने भी उपालम्भ शब्दके सम्बन्धमें शकाकार दे सकते हैं वे सभी उपालम्भ गन्ध परम गुणोंके विषयमें भी सम्भव हैं। अतएव यह उपालम्भ युक्तिसगत नहीं है।

शब्दोको अपौद्गलिक सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त अस्पर्शत्व हेतुकी असिद्धि —अब मीमांसक शका करते है कि शब्द छूनेमे नही आते हैं पुद्गलकी तरह सो इन शब्दोका ज्ञान बन नहीं पायगा, तो ये पुद्गल कैसे कहलायेंगे ? अनुमान प्रयोगसे भी यह बात सिद्ध होती है कि शब्द पुद्गल स्वभाव नही है, क्योंकि इनका स्पर्श नही पाया जाता, सुख आदिककी तरह। जैसे सुख परिणाम स्पर्श रहित है, सुखका क्या स्पर्श ? क्या सुख कोमल है, कठोर है चिकना है, ठडा है। ये कोई बातें सम्भव तो नही हैं। तो सुख स्पर्श रहित है, अत. सुख पुद्गल स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार शब्द भी स्पर्श रहित है, अत पुद्गल स्वभाव नही है। इस प्रकार बाधक अनुमानका स्वभाव पाया जाता है अत. शब्दको पुद्गलस्वभावता सगत नहीं बैठती। इसके समाधानमे कहते हैं कि इस सम्बन्धमें जो हेतु बताया गया है वह हेतु असिद्ध है. शब्द स्पर्श रहित है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कर्णपुटके भीतर, इस कर्णकुटी के अन्दर कट-कट रूपसे अनुभवमें आए हुए शब्दकी बराबर प्रसिद्धि है। यदि कोई शब्दको बहुत तेजीसे बोलता है, जैसे इजनके पास खडे हुए पुरुष इजनकी सीटी सुन कर कानोंको दबा लेते हैं क्योंकि उन शब्दोका स्पर्श इस कर्णमें विदित होता है और प्राय: करके ये शब्द प्रतिघातके कारण बनते हैं और ये शब्द भीटादिकसे छिड जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्दमें स्पर्श पाया जाता है। तो शब्दके सम्बन्धमे स्पर्शपनेकी कल्पना करना निरर्थक है।

शब्दको अपौद्गलिक सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त निश्छिद्र प्रवेशत्व हेतुकी व्यभिचारिता —अब शकाकार कहते हैं कि द्वितीय अनुमानसे सुनो कि शब्द पौद्गलिक नहीं है वह अनुमान प्रयोग यो है कि शब्द पुद्गल स्वभाव नही है, क्योंकि छिद्ररहित मकानके भीतर भी शब्द चले जाते हैं। मकानके भीतर बाहरसे शब्दका प्रवेश हो जाता है और शब्दको रोकने वाला, उसका व्यवधान करने वाला कुछ नहीं दिखता। देखिये ! जो पुद्गल स्वभाव होता है उसका इस तरहसे दर्शन नहीं होता कि छिद्ररहित मकानके भीतर घुस जाय। जैसे लोष्ठ पत्थर है वह किसी मकानके भीतर प्रवेश नही कर पाता न बाहरसे मकानमें भीटमेसे लोष्ठका आना बन सकता है। लेकिन शब्दमें तो इतनी बात देखी जा रही है कि छिद्ररहित मकानकी भीटमें प्रवेश कर जाय। इससे सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गलस्वभावी नही है। उक्त शका के उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी कल्पना करना शब्दमें पुद्गल स्वभावपनेका निषेध करना अयुक्त है। पुद्गल स्वभाव होनेपर भी छिद्ररहित मकानसे बाहर जा सकता है। इस

प्रागभाव व प्रध्वंसाभावका अपलाप करनेपर सकलशून्यताके प्रसंग आनेका स्पष्टीकरण—प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव न माननेपर इष्ट मतव्यकी निःस्वभावताका प्रसंग प्राप्त है इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभावको न मानना इन दोनों अभावोंका निराकरण करना यह तो कूटस्थपनेसे व्याप्त है। जिसका प्रागभाव नहीं अर्थात् पहिले अभाव नहीं तो अर्थ यही हुआ कि पहिले अनादिसे ही उसका सद्भाव है जिसका प्रध्वंसाभाव नहीं, तो अर्थ यह हुआ कि उप का अनन्त काल तक सद्भाव है। तो प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका निराकरण कूटस्थपनेसे व्याप्त है और जो कूटस्थ है उसकी कूटस्थता क्रम और यौगपद्यके अभावसे व्याप्त है। याने जो अपरिणामी है, जिसमें रंचमात्र भी परिणमन सम्भव नहीं है उसमे क्रम और यौगपद्य कहांसे ठहर सकेंगे क्योंकि कूटस्थमे क्रम और यौगपद्य दोनों का विरोध है तथा क्रम और यौगपद्यके अभावसे समस्त अर्थ क्रियावोंका विरोध है। जैसे यहां शब्दको कूटस्थ माना जा रहा तो शब्दाकार ज्ञान बन जाय यह भी बात सम्भव नहीं है क्योंकि यदि शब्दाकार ज्ञान बनता है तो उससे यह सिद्ध हो जाता है कि पहिले वह शब्दाकार ज्ञान था नहीं शब्द सुननेमें आ रहे नहीं थे अब शब्दमे शब्दाकार ज्ञान होनेका रूप आ गया तो कूटस्थता कहां रही ? पहिले उनमें दूसरा स्वभाव था अब दूसरा आ गया। तो कूटस्थपनेकी व्याप्ति स्वाकारज्ञानादिक अर्थक्रियाकी व्यावृत्तिसे व्याप्त हैं याने उसमें किसी भी प्रकारकी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। और जहां स्वाकारज्ञानादिक अर्थक्रिया होती ही नहीं है तो उस अर्थक्रियाके अभावकी व्याप्ति निःस्वभावपनेसे है। जहां कोई परिणमन नहीं है वहां कोई स्वभाव नहीं है। तो इस तरह जब सब प्रकारकी अर्थक्रिया जहां सम्भव नहीं, अनर्थककारी कल्पित तत्त्व है वह तो समस्त वचनोंमें और विकल्प विचारोंमे निष्क्रान्त है। अर्थात् न वह किसी वचनका विषयभूत है और न किसी विकल्पका विषयभूत हो सकता है। तब उसका अभाव ही है। यों प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न माननेपर कार्यद्रव्य अनादि अनन्त हो जावेंगे यह दूषण तो दिया ही था लेकिन इस सम्बन्धमे विचार करनेपर सकलशून्यपना हो जायगा, यह भी बात आपत्ति की आ गी है।

वर्णोंकी आनुपूर्वीकी अपौरुषेयता व प्रागभाव प्रध्वंसाभावरहितता मन्तव्यकी मीमांसा—अब यहां मीमांसक कहते हैं कि हम लोग वर्णोंको आनुपूर्वी को अपौरुषेय मानते हैं। वर्णोंमें जो क्रम लगा हुआ है वह अपौरुषेय है और उस आनुपूर्वीका ही हम प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव भी मानते इस कारण ये सब उपालम्भ देना सही नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन भी असंगत है क्योंकि वर्णोंको छोड़कर अन्य कोई आनुपूर्वी तो नहीं होती। वर्णोंके ही विन्यासका ढंग आनुपूर्वी कहलाता है। तो जब वर्णोंका नित्य स्वरूप प्रागभाव प्रध्वंसाभाव रहित स्वरूप सिद्ध नहीं होता है तब फिर उनके सम्बन्धमे आनुपूर्वीकी कल्पना करना असम्भव है। और, किसी तरह आनुपूर्वीकी कल्पना कर भी ली जाय तो उसके आन-

यदि शब्दको समस्त कालमे व्यापी माना जाय तो जैसे मध्य समयमें ये शब्द सुननेमें आ रहे हैं यानें ताल्वादिक प्रयत्नके पश्चात् और ध्वनि समाप्तिके पहिले तक इस मध्य कालमें जैसे शब्द सुननेमें आते हैं उस प्रकार पहिले और पीछे भी इन शब्दोमे श्रावण स्वभावताका प्रसग होगा। क्योंकि तालू आदिकसे उत्पन्न हुआ वर्णादिक स्वरूप रूप ही तो पदवाक्य होता है। तब वह पद वाक्य पश्चात् भी और पहिले भी सुननेमें आ जाना चाहिए। पर ऐसा तो किसीको अनुभव होता नही इससे सिद्ध है कि शब्दोका श्रावण स्वभाव श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा सुना जाता। ऐसी परिणति उस विशिष्ट वर्तमान कालमें ही होती है उससे पहिले और उसके बाद नही होती है। हां जिन वर्गणाओंका शब्दरूप परिणमन होता है वे शब्दवर्गणायें पुद्गलके रूपमें पहिले भी हैं और पीछे भी रहेगी, किन्तु उन वर्गणाओंमें शब्दरूप परिणतिका बनना यह एक किसी निश्चित समयमे ही होता है। हां कि उत्कृष्ट सामग्री पूरी मौजूद है तालू आदिकका व्यापार भी बन रहा है। ऐसे समयमें ही उन शब्दोंमें श्रावण स्वभाव पाया जा रहा है। और इससे यह मानना चाहिए कि ये शब्द कार्य बने। जब उनका कार्य हो रहा है तब ही उनकी स्थिति है उसके पहिले और उसके पश्चात् शब्दकी स्थिति नहीं है। केवल उसके उपादानभूत पौद्गलिक परिणमन वहां पाया जाता है। यो उत्पादव्यय-ध्रौव्य युक्त है इसलिये ये सत् हैं, इनमें आविर्भाव और तिरोभावकी व्यवस्था नही है।

प्रागभाव व प्रध्वंसाभावका अपन्हव करनेपर नि:स्वभावता व शून्यता का प्रसग—शब्दको शाश्वत आकाशगुण मानने वाले मीमासकोंके सिद्धान्तमें शब्द का प्रागभाव और प्रध्वसाभाव नहीं माना है। सो प्रागभावका निराकरण करनेपर व प्रध्वंसाभावका निराकरण करनेपर कूटस्थपना आता है अर्थात् शब्द शाश्वत अपरिणामी रहता है और जो कूटस्थपना है वह क्रमसे और एक साथ कैसे ही किसी अर्थ क्रियाके साथ नहीं जुट सकता। जैसे शब्द यहां कूटस्थ अपरिणामी बना तो अब शब्दमें न तो क्रमसे शब्दाकार ज्ञान होना ऐसी अर्थ क्रिया बन सकती और न एक साथ शब्दाकार ज्ञान होना ऐसी अर्थ क्रिया बन सकती है जो वस्तु अपरिणामी नित्य है उसमे परिणमन ही सम्भव नहीं। क्रमसे परिणमन तो यो सम्भव नहीं कि फिर तो वह अपरिणामी न रहेगा। कूटस्थ नित्यमें क्रम कैसे बन सकता है? एक साथ अर्थ-क्रिया यों न बनेगी कि अर्थक्रिया बननेके नामपर परिणमन तो मानना ही पडेगा और एक साथ अर्थक्रिया होती है तो अगले समयमें फिर कुछ काम ही न रहा। भूत भविष्य सब कुछ एक साथ हो गया। फिर विश्व शून्य हो जायगा आदिक अनेक दोष आते हैं। जिससे यह सिद्ध होता है कि जो कूटस्थ होता उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती तो जब शब्द शाश्वत अपरिणामी है तो इसमें इतनी भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती कि शब्दाकार ज्ञान भी बन जाय और, जब शब्दाकार ज्ञान होनेकी भी अर्थ क्रिया नहीं बनती तब शब्द नि:स्वभाव हो गया।

समस्त पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे अथवा जिसका जो मन्तव्य तत्त्व है वह न ठहर पायेगा। इष्ट अनिष्ट सब एक हो जायेंगे। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव न माननेपर याने एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें समवाय तादात्म्य माननेपर फिर इष्ट किसी भी नामसे व्यपदिष्ट न हो सकेगा। इस कारिकामें तब इस शब्दके द्वारा सर्व प्रवादियोंका इष्ट तत्त्व ग्रहण किया गया है। याने वह तत्त्व सर्वात्मक एक हो जायगा। याने जिसका जो कुछ इष्ट मन्तव्य है वह इष्ट अनिष्ट स्वरूपसे भी हो गया क्योंकि अन्यापोह तो माना नहीं। जैसे क्षणिकवादी मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक हैं और उनके लिए अनिष्ट है नित्यपना, तो जब अन्यापोह न रहा तो इसके मायने यह रहा कि क्षणिक और नित्य सब कुछ एक हो गया फिर इष्ट मन्तव्य कहाँ रहा? ऐसी ही सबकी बात समझना चाहिए। तो यों अन्यापोहके न माननेपर इष्ट तत्त्व सर्वात्मक बन जाता है। फिर इष्ट ही नहीं रहता। इसी तरह अन्यापोह न माननेपर अर्थात् स्वसमवायी पदार्थका अन्य समवायियोंमें समवाय माननेपर जैसे कि चेतन अपने चेतनमें समवाय है और उसका मान लिया जाय समवाय अचेतन प्रधान आदिकमें समवाय, क्योंकि अत्यन्ताभाव न माननेपर यही तो मानना होगा, तो यों अन्यत्र समवाय माननेपर सभीका इष्ट तत्त्व किसी भी प्रकारसे व्यपदिष्ट नहीं हो सकता। अपने इष्ट स्वरूपसे व्यपदेश करनेपर याने अपने इष्ट स्वरूपसे नाम लेनेपर अनिष्ट स्वरूपसे भी व्यपदेश बन जायगा क्योंकि अत्यन्ताभाव तो माना नहीं जा रहा अथवा अनिष्ट स्वरूपसे व्यपदेश न करनेपर इष्टस्वरूपसे भी व्यपदेश न बनेगा क्योंकि स्वरूपसे जो इष्ट है अथवा अनिष्ट है उसके तीनों कालोंमें भी व्यावृत्ति नहीं मानी गई है। अतः अत्यन्ताभाव न माननेपर कोई व्यपदेश व्यवहाररूप ही नहीं बन सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है।

अन्यापोहका याने इतरेतराभावका लक्षण—अब अन्यापोहकी बात विस्तारसे सुनिये! अन्यापोह कहते किसे हैं? अन्य स्वभावमें स्वभावकी व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह है, जैसे कि घट और पट। घटमें स्वभाव दूसरे प्रकारका है पटमें स्वभाव दूसरे प्रकारका है। तो घट स्वभावसे पट स्वभावकी व्यावृत्ति है यही अन्यापोह कहलाता है। अन्यापोहके लक्षणमें यही कहना चाहिए कि स्वभावान्तरमें स्वभावकी व्यावृत्ति होना सो अन्यापोह है। तो स्वभावमें व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह नहीं है। स्वभावान्तर कहना होगा अन्यापोहके लक्षणमें और स्वभावान्तर शब्द कहनेसे यह बात अपने आप बन जायगी कि अपने स्वभावमें व्यावृत्त होनेका नाम अन्यापोह नहीं। यदि कोई पदार्थ अपने स्वभावमें ही व्यावृत्त हो जाता है तो उसमें तो स्वका ही अभाव हो गया। अन्यापोह न रहा, वह भी स्वापोह हो गया। खुद ही कुछ न रहा। इस कारण स्वभावान्तरसे स्वभावकी व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह है, यह बात समीचीन है।

पूर्वोक्की कल्पना भी विचार करनेपर कोई तात्त्विक सिद्ध नहीं होती। इस बातको बहुत विस्तारसे आगेकी कारिकामें कहेंगे, जहाँपर आगमका प्रकरण चलेगा वहाँपर इस बातका निराकरण विस्तारसे किया जायगा। इस प्रसगमें तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जब शब्दमें नित्यता नहीं ठहरती, यह बात विस्तार पूर्वक बतायी है, तो इस प्रकरणसे यह जान लेना चाहिए कि प्रागभाव प्रध्वसाभावका सब जगह लोप करनेपर ये समस्त दोष आते हैं। कार्य द्रव्य अनादि बनेगा, अनन्त बनेगा और कुछ रहेगा ही नहीं। सर्व शून्य हो जायगा, इन सब दूषणोंका प्रसग निवारित नहीं किया जा सकता। प्रागभाव, और प्रध्वसाभावके माननेपर ही यह दूषण टाला जा सकता है।

प्रागभाव व प्रध्वसाभावका अपन्हव माननेपर बाधा बताकर अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभावका अपलाप करनेपर होनेवाली बाधाके कथनका उपक्रम—यहाँ प्रसग यह चल रहा है कि समन्तभद्राचार्यने यह निर्णय दिया कि सर्वज्ञ आप्त प्रभु अरहत ही हैं निर्दोष होनेसे, और वे निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध हैं। इस बातको अन्वयव्यतिरेक पूर्वक कहा याने व्यतिरेक पद्धतिसे यह भी कहा कि जो आपके शासन अमृतसे बाह्य हैं, सर्वथा एकान्तवादी हैं उनका कथन प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे बाधित है अतः अन्य कोई आप्त नहीं। इसके विस्तारसे पूछा गया कि एकान्तवादियोंका शासन कैसे प्रमाण विरुद्ध है? जो सामान्य रूपसे एकान्तवादियोंकी विरुद्धता बताकर यहाँ भावैकान्त माननेपर किस तरहसे विरोध आता है यह बात कही जा रही है और यहाँ तक यह बताया कि भावैकान्त माननेपर याने अभाव न माननेपर वस्तु सर्वात्मक अनादि अनन्त और निःस्वरूप बन जाता है याने अभाव चार होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव, उनमें प्रागभाव न माननेपर कार्य अनादि बनेगा, प्रध्वसाभाव न माननेपर कार्य अनन्त हो जायगा, अन्योन्याभाव न माननेपर पदार्थ सर्वात्मक हो जायगा और अत्यन्ताभाव न माननेपर पदार्थ निःस्वभाव हो जायगा। इनमेंसे इस प्रकृत कारिकामें यह बताया गया कि प्रागभाव और प्रध्वसाभाव न माननेपर कार्य अनादि अनन्त किस प्रकारसे होगा और इसके साथ ही अनेक विडम्बनायें कैसे हो जाती हैं? इसका वर्णन करके अब आचार्य इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव न माननेवाले एकान्तवादियोंके प्रति दूषण बतानेकी इच्छासे अब आचार्य समन्तभद्र ११ वीं कारिका कह रहे हैं।

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥

अन्यापोह न माननेपर वस्तुके सर्वात्मकताका प्रसग और अत्यन्ताभाव न माननेपर व्यपदेशके भी सर्वथा अभावका प्रसग—अन्यापोहका अपलाप करनेपर

जिसका अभाव होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो वह प्रागभाव कहलाता है। ऐसे नियमका ग्रहण करनेपर अब यह आक्षेप न बनेगा क्योंकि किन्हीं किन्हीं जीवोंको अंधकारमें भी रूपज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे कोई पुरुष एक विशिष्ट अञ्जन नेत्रमें लगा ले तो उसे भी अंधकारमें रूपज्ञान हो जायगा। रात्रिको देख सकने वाले तिर्यञ्चोंको अंधकारमें भी रूपज्ञान हो जाता है। तब नियम तो न रहा अतः रूपज्ञान का प्रागभाव अंधकार नहीं हो सकता। जिस प्रकार अंधकारके अभावमें नियमसे ज्ञान नहीं हुआ करता अतः वह रूपज्ञानका प्रागभाव नहीं है, इस ही तरह अंधकाररूप ज्ञानका ध्वंस भी नहीं है। कोई यहां यह सन्देह करले कि जिसके सद्भावमें कार्यका नाश हो वह प्रध्वंस कहलाता है। तो अब अंधकारके सद्भावमें रूपज्ञानका नाश हो गया। अंधेरा हो जानेसे अब रूपज्ञान न बना तो रूपज्ञानका प्रध्वंस अंधकार कहलायेगा। सो भी बात नहीं क्योंकि यहां भी 'नियमतः" इस शब्द दृष्टि देना है। प्रध्वंसके लक्षणमें भी यह बताया है कि जिसके सद्भाव होनेपर कार्यका नियमसे विनाश हो उसे प्रध्वंस अथवा प्रध्वंसाभाव कहते हैं। लेकिन इस आक्षेप वाले दृष्टान्त में यह नियम नहीं पाया जाता कि अंधकारका सद्भाव होनेपर रूप ज्ञानका नियमसे विनाश हो। रात्रिमें देख सकने वाले पशुओंको अंधकारका सद्भाव होनेपर भी रूपज्ञान बनता रहता है। अतः रूपज्ञानका प्रध्वंसाभाव अंधकारको नहीं कहा जा सकता। जो जब प्रागभाव और प्रध्वंसाभावके लक्षण जुदे हैं और उनमें इतरेतराभावके प्रसंगकी बात नहीं आती, तब अन्यापोहका जो लक्षण कहा गया है कि स्वभावकी व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह है, यह लक्षण बिल्कुल युक्त है। और अन्यापोहके इस लक्षणमें कोई बाधा नहीं आती।

अन्यापोहलक्षणकी अत्यन्ताभावमें व्याप्ति न होनेसे अतिव्याप्तिदोषरहितता—अन्यापोहके लक्षणका अत्यन्ताभावमें भी अभाव है। अत्यन्ताभाव तो तीनों कालकी अपेक्षा रखने वाला है। तो तीनों कालकी अपेक्षा रखकर जो अभाव जाना जाता है ऐसे अत्यन्ताभावमें अन्यापोहके लक्षणका अभाव है। अतः अतिव्याप्ति नहीं बनती। अन्यापोहका लक्षण अत्यन्ताभावमें नहीं जाता क्योंकि घटपटका जो इतरेतराभाव है वह तीनों कालकी अपेक्षा रखने वाला नहीं है। अर्थात् शाश्वत तीनों काल घट पटका परस्पर अभाव हो सो बात नहीं है। कभी पट घटरूप भी परिणम सकता है। कभी घट पटरूप भी परिणम सकता है। इस प्रकारके परिणमन होनेका जब कारण साधन समस्त मिल जायगा तो उस तरहका परिणमन होनेका विरोध नहीं है। जैसे कपड़ा जीर्ण शीर्ण हो गया, फट गया, मिट्टीमें मिल गया। अब धीरे-धीरे वे पट परमाणु मिट्टी बन जाते हैं और बहुत समय बादमें मिट्टीका घड़ा बनाया जा सकता है। तो देखो— जो पुद्गल परमाणु एक पट स्कंधरूपमें थे कालान्तरमें वे मिट्टीरूपमें आ गये और उनका घट परिणाम बन गया। तो इतरेतराभाव जिनमें पाया जाता है उनमें तीनों काल अभाव नहीं है। कोई एक दूसरे रूप, पर्यायरूप

प्रागभाव प्रध्वंसाभावमें अन्यापोहपने याने इतरेतराभावपनेके प्रसंग का अभाव—यहाँ कोई शंका करते हैं कि फिर तो प्रागभाव और प्रध्वंसाभावमें अन्यापोहका प्रसंग आ जायगा। देखो ! प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ये दोनों अलग हैं ना, इनमें एक दूसरा तो नहीं मिलता। प्रागभावमें प्रध्वंसाभाव नहीं, प्रध्वंसाभावमें प्रागभाव नहीं। तो इनमें अन्यापोहपनेका प्रसंग आ जायगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं आता, क्योंकि कार्यद्रव्यके पूर्व और उत्तर कालके परिणामोंमें स्वभावान्तरपना होनेपर भी कार्यद्रव्यकी पूर्वोत्तर परिणामों से व्यावृत्तिकी विशिष्टता है जो विशिष्टता इतरेतराभावमें सम्भव नहीं है और इस व्यावृत्तिकी विशिष्टता होने से यह प्रसंग नहीं आता कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभावमें अन्यापोह है। वे स्वयं ही व्यवस्थित हैं। कार्यद्रव्यका पूर्व और उत्तर परिणामोंमें व्यावृत्ति विशेष है। वह किस तरह है इसका स्पष्टीकरण करते हैं—जिसके अभावमें नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो उसको प्रागभाव कहते हैं और जिसके सद्भावमें नियमसे कार्यकी विपत्ति हो अर्थात् विनाश हो उसको प्रध्वंस कहते हैं। परन्तु इतरेतराभावके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति हो और इतरेतराभावके सद्भावमें कार्यका विनाश हो यह बात नहीं देखी जाती है। अब इसका एक उदाहरण लेकर समझिये इतरेतराभाव है जैसे पानीका स्वरूप नहीं, इतरेतराभाव है लेकिन कहीं जलका अभाव होनेपर भी अग्निकी उत्पत्ति देखी जाती। जैसे कि प्रागभावमें बात थी कि मृत्पिण्डके अभावमें घटकी नियमसे उत्पत्ति देखी गई थी सो यहाँ इतरेतराभावमें ऐसा नहीं है कि जलका अभाव होनेपर अग्नि की उत्पत्ति हो ही जावे। सो जलका अभाव होनेपर भी अग्निकी अनुत्पत्ति होनेसे और कहीं कहीं जलके सद्भाव होनेपर भी अग्निका विनाश न होनेसे यह बात सिद्ध होती है कि इतरेतराभावमें वह व्यावृत्ति विशेष नहीं है कि इतरेतराभावके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति हो और इतरेतराभावके सद्भावमें कार्यका विनाश हो, इस कारण कार्यद्रव्यका पूर्वोत्तर परिणामके साथ यानि प्रागभाव और प्रध्वंसाभावके साथ एक विशिष्ट व्यावृत्ति है और इसी कारण यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभावमें अन्यापोहपनेका प्रसंग आ जायगा।

अन्धकारमें रूपज्ञानकी प्रागभावरूपता या प्रध्वंसाभावरूपता बननेके आक्षेपका अनवसर—यहाँ शंकाकार कहते हैं कि कहींपर अंधकारका अभाव होनेपर रूपज्ञान भी तो उत्पन्न होता है। जैसे हम आप सब मनुष्योंका देखा जा रहा है कि अंधकार मिटा और पदार्थोंके रूपका ज्ञान हो गया। तो अंधकारका अभाव होनेपर रूपज्ञानकी उत्पत्ति हो गई अतएव रूपज्ञानका प्रागभाव अंधकारको मान लेना चाहिए क्योंकि यहाँ यह बात कही जा रही है कि जिसके अभाव होनेपर कार्यकी उत्पत्ति हो वह प्रागभाव कहलाता है। तो अंधकारके नाश होनेपर रूपज्ञान बन गया। फिर रूप ज्ञान प्रागभाव अंधकार क्यों न कहलायेगा ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह सन्देह बिना जाने हुआ है। प्रागभावके लक्षणमें नियमतः शब्द भी पड़ा हुआ है याने

ज्ञानतत्त्व और ग्राह्याकारमे कथचिद् व्यावृत्तिकी सिद्धि व सर्वथा व्यावृत्तिकी असिद्धि—यदि कहो कि ग्राह्याकार नीलादिक पदार्थ अत्यन्त जुदे हैं और सम्वित् ज्ञानमात्र जुदा है याने ज्ञानमे ग्राह्याकार नही है। वे पृथक पृथक चीजें हैं। यदि ऐसा माना जायगा तब फिर सम्बन्ध नहीं बन सकेगा कि हम ज्ञानने तो यह जाना, इस ज्ञानका यह ज्ञेय है, इस प्रकारका सम्बन्ध न बन सकेगा। क्योंकि यदि सम्वित्ति व ग्राह्याकारको कथचित् व्यावृत्त न मानकर सर्वथा व्यावृत्त मान लिया गया तो कि ये एक दूसरेसे बिल्कुल हटे हुए दो भाव हैं—ज्ञानभाव बिल्कुल जुदा है और नील पीतादिक ग्राह्याकार बिल्कुल जुदा चीज है। ऐसा सर्वथा भेद माननेपर अब सम्वित्में याने ज्ञानमात्र स्वरूपमें और ग्राह्याकारमें कोई सम्बन्ध तो न रहा। सर्वथा व्यावृत्तोंमे उपकार्य उपकारक भाव नही रहता क्योंकि वे सर्वथा ही जुदे हैं। तो जब उपकार्य उपकारकभाव न रहा तो कोई सम्बन्ध बन ही नही सकता। उपकार्य उपकारक भावका सम्बन्ध पाये बिना समवाय आदिक सम्बन्ध बन ही नही सकते। इस विज्ञानमात्र तत्त्वके मानने वालोंको भी यह मानना होगा कि उस विज्ञानमे नील पीत आदिक ग्राह्याकार हैं। और, वह नील पीतादिक ग्राह्याकारका स्वरूप और है। सम्वित्का स्वरूप और है, लेकिन है वह एक आधारमे अतएव ज्ञानमात्रसे नीलादिक ग्राह्याकार कथचित् व्यावृत्त है। लो यहाँ तो इतरेतराभावका रूप आया और द्वैतकी सिद्धि भी हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञानमात्र स्वरूपमें और नीलादिक ग्राह्याकारमे परस्पर अतीव अभेद है, व्यावृत्ति नहीं है तब तो किसी एक की स्वभाव हानि हो गयी। जब ज्ञान मात्र और ग्राह्याकार ये सर्वथा एक मान लिए गए तो यहाँ कौन रहा? यदि ज्ञानमात्र रहा तो ज्ञेयाकार रहा तो ज्ञेयाकार स्वभाव नष्ट हो गया और यदि ग्राह्याकार रहा तो ज्ञानमात्र स्वभाव नष्ट हो गया। सो उस ज्ञानमात्रमे ग्राह्याकार एक हो जाय या कहिये ग्राह्याकारमें यदि ज्ञानका अनुप्रवेश हो जाय, एक मिल जाय तब तो ग्राह्याकार ही रहा। अब सम्विदाकार न रहा। ज्ञानस्वरूप कुछ न रहा, और, जब ज्ञानाकार न रहा तो ग्राह्याकारका भी अभाव हो गया। क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा तो ग्राह्याकारका योग हो कैसे बनेगा? ग्राह्याकार कहते हैं उसे जो कि ग्रहणमें आ सके। अब किसके ग्रहणमे आये। सम्वित् तब तो रहा ही नहीं। सो उस ग्राह्याकारमे यदि ज्ञानका प्रवेश मान लेते तो कुछ नही रहता, अथवा ज्ञानमात्र तत्त्वमे ग्राह्याकारका प्रवेश मान लेते हैं कि ग्राह्याकार समा गया तब ज्ञान ही रहा, ग्राह्याकार कुछ न रहा। और जब ग्राह्याकार कुछ न रहा तो ग्राह्याकारसे शून्य ज्ञानमात्र तत्त्व कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि विषयाकारसे रहित सम्वेदनमात्र कुछ भी तत्त्व नही है। अतः ज्ञानमात्र और ग्राह्याकार ये दो बातें माननी होंगी और इनमें कथचित् परस्पर व्यावृत्ति भी। सो क्षणिकवादी भी इतरेतराभावका अपलाप नहीं कर सकते हैं।

विज्ञानको ग्राह्यग्राहकाकारसे शून्य मानने वाले अन्यापोहापलापियोंके यहाँ

परिणम सकता है। पुद्गलके ऐके परिणमनोमे अनियम देखा गया है। जैसे चन्द्रकान्तमणि वाली पृथ्वीसे जलकी उत्पत्ति देखी गई है जलोसे मुक्ताफल आदिकरूप पृथ्वीकी उत्पत्ति देखी गई है। सूर्यकान्त नामक पृथ्वीसे अग्निकी उत्पत्ति देखी गई है। अब इस प्रकार परस्पर परिणाम हो जाया करता है तो पुद्गलके परिणामों मे अत्यन्ताभाव नही कहा जा सकता। तो जैसे अन्यापोहके लक्षणकी अव्याप्ति नहीं बनती इसी प्रकार अन्यापोहके लक्षणमे अव्याप्ति दोष भी नही आता। हाँ जैसे अत्यन्ताभाव चेतन और अचेतन पदार्थमे है। जीव और पुद्गलमे जीव और जीवातिरिक्त अन्य समस्त द्रव्योमे तीनो काल कभी परस्पर तादात्म्य परिणाम नही हो सकता कि कोई जीव अजीव बन जाय, कोई अजीव जीव बन जाय। तो द्रव्य और द्रव्योमे अत्यन्ताभाव माना गया है तीनो कालमे भी कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप नही परिणम सकता। यह असाधारणस्वरूप है। यह तत्त्व अन्य तत्त्वरूपसे विरोध रखता है। अतएव अन्यापोहका लक्षण जो बताया गया है कि स्वभावान्तरसे स्वभाव की व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह है, वह पूर्णतया युक्तिसंगत है।

विज्ञानमात्रतत्त्ववादियोके यहा भी अन्यापोहके मन्तव्यकी अनिवार्यता— अब यहा क्षणिकवादी प्रश्न करते हैं कि देखिये ! इतरेतराभावका अपन्हव करनेपर इतरेतराभावको न माननेपर चार्वाकके यहा पृथ्वी तत्त्व समस्त जल अग्नि आदिक रूप बन जायगा सो बन जाय, सही बात है। और, सांख्यके यहाँ कोई एक पदार्थ महत् अहंकार आदिक अनेक परिणामोरूप हो जायगा, सब कुछ अव्यवस्था हो जायगी सो वह भी हो लेकिन जो केवल विज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हैं ऐसे क्षणिकवादियोंके यहाँ क्या किस रूप बनेगा ? जब केवल एक ज्ञान ही तत्त्व है, दूसरा कुछ है ही नहीं तो उन विज्ञानाद्वैतके सिद्धान्तमें अब क्या किस अन्यरूप होगा ? अत अन्यापोहके न माननेपर भी विज्ञानाद्वैतवादियोका कुछ भी बिगाड नहीं होता। उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले विज्ञानाद्वैतवादी भी विवेकशील नही जचते। देखिये –जो केवल विज्ञानाद्वैत मान रहे हैं, विज्ञानमात्र तत्त्व कहते हैं, उनको भी अन्यापोह मानना पडेगा। अनेकान्तकी सिद्धि स्वीकार करनी होगी, क्योंकि उनका जो ज्ञानमात्र तत्त्व है उस ज्ञानमात्र तत्त्व स्वरूप को नीलादिक ग्राह्याकारोसे कथंचित् व्यावृत्ति तो माननी ही होगी। याने ज्ञानमें नीलपीत आदिक आकार आये है तभी तो ज्ञानकी मुद्रा बननी। ज्ञान मायने जानना। और जानना क्या चीज बनेगी ? जब उसमें कुछ समझ ही न गया हो तो ज्ञानमें नीलादिक आकार आते हैं, वे कहलाते है ग्राह्याकार। जो ग्राह्यमे आया हुआ है स्वरूप सो ग्राह्याकार कहलाता है। तो ग्राह्याकारोंसे वह ज्ञान तत्त्व विलक्षण है या नहीं ? उन ग्राह्याकारोंसे व्यावृत्ति है ऐसा मानना होगा और ऐसा माननेपर इतरेतराभाव आ ही गया। और अनेकान्त की भी सिद्धि होगई। द्वैत तो आगया वहाँ, ज्ञान तत्त्व और ग्राह्याकार ये दो बातें तो आ गई।

भाव मानना ही पडा। क्योंकि प्रतिभास भेदके अभावमें भी यदि नीलादिकमें भेदकी व्यवस्था बने गी तब तो कोई भी चीज अभिन्न और एक नही ठहर सकती। कोई पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं इसकी व्यवस्था प्रतिभास भेदसे ही सम्भव है। और यदि प्रतिभास भेद न होनेपर भी यदि नील पीत आदिक पदार्थोंको भिन्न-भिन्न स्वीकार कर लेते हो तब फिर कोई चीज एक और अभिन्न ठहर ही नही सकती निरंश स्वलक्षणको एक माना है। निरंशका अर्थ है — जिसके अन्दर कुछ अंश नही हो सकते। और, स्वलक्षणका अर्थ है कि उस पदार्थका एक स्वरूप, उस ज्ञानका ही एकमात्र स्वरूप। तो ऐसे निरंश स्वलक्षण ज्ञानमें भी अनेकपना आ बैठेगा, क्योंकि प्रतिभासभेदके न होनेपर भी भेद माननेकी हठ की जा रही है। इस कारण नीलादिक विषयोमें स्वरूपभेदको जो चाहते हो, जो यह स्वीकार करते हो कि नीला आदि पदार्थ ये भिन्न-भिन्न हैं तो उनको उनका प्रतिभासभेद भी मानना पडेगा। एक चित्रज्ञान हो रहा है लेकिन उसमे जो अनेक प्रतिभास हैं वे मानने ही होंगे जैसे कि अनेक ज्ञानोंमें प्रतिभासभेद हैं ना, तो उस भिन्नताके कारण उन्हें माना जा रहा है और जब चित्रज्ञानमे प्रतिभास भेद और पीतादिक विषयोंकी विभिन्नता स्वीकार कर ली तब अन्यापोहका जो लक्षण किया जा रहा है कि स्वभावान्तरसे स्वभावकी व्यावृत्ति होना सो इतरेतराभाव है, यह पूर्णतया युक्तिसंगत बनता है। ज्ञानमे आये हुए पदार्थोंका जब परस्परमे भेद सिद्ध हो गया तो चित्रज्ञानका अपने प्रतिभाससे नीलाकार पीताकार आदिक ज्ञानाकारोसे विभिन्नता सिद्ध हो गई और विषयकी चित्रपटादिकको अपने आकारोंसे नीलादिकसे विभिन्नता सिद्ध हो गई। तो यो अन्यापोह मानना ही होगा। तब वस्तुका स्वरूप कायम रह सकता है।

चित्रज्ञानकी नीलाद्याकारोंसे व्यावृत्तिकी साधना— यहा शंकाकार प्रश्न करते हैं कि किस प्रमाणसे चित्रज्ञानकी ज्ञानमे प्रतिभासित हुए नीलाकार आदिक अनेक आकारोसे भिन्नता सिद्ध होगी? सो इस प्रश्नके उत्तरमे सुनिये। चित्रज्ञान अपने प्रतिभासित ज्ञानाकारोसे भिन्न है क्योंकि चित्रज्ञान है अनेक स्वभावरूप और ये ग्राह्याकार नीलादिक आकार जितने हैं वे सब प्रत्येक हैं एक एक स्वभावरूप घटरूप आदिकको तरह। जैसे—घटमें रूप, रस, गंध स्पर्श ये सब हैं अर्थात् रूप रसादिकको छोडकर घट कुछ न मिलेगा। सो घट गुणी है और उसमे रूप, रसादिक अनेक गुण हैं। अब लक्षणोंपर विचार किया जाय तो रूपादिक गुणोंसे घटका स्वरूप भिन्न है अतएव घट और रूपादिक इनकी परस्परमे कथंचित् व्यावृत्ति है, तभी तो रूप घट न कहलायेगा। घट है, वह सर्वात्मक है, रूपादिक हैं वे एक एक धर्मस्वरूप हैं। तो जैसे घट और रूप एकानेक स्वभाववाले होनेसे घटकी रूपादिकसे व्यावृत्ति है इसी तरह चित्रज्ञान अनेक स्वभावरूप है और उसमें प्रतिभासित हुए नील आदिक प्रत्येक एक एक है। उन प्रत्येक अनेकोसे इस अनेक स्वभावात्मक ज्ञानकी व्यावृत्ति हो जाती है। देखिये! नीलादिक प्रतिभास हो अथवा नीलादिक आकार हो अनेक स्वभाव नही हो-

भी अगत्या स्वभाव व्यावृत्तिको आपतितता यहाँ क्षणिकवादी प्रश्न करते हैं कि बुद्धिको छोडकर अन्य कोई चीज ग्राह्य होती ही नहीं है। वही स्वयं एकमात्र है, वहाँ ग्राह्य ग्राहकका भेद नहीं है। उसमें अन्य कोई चीज बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं होती। अतः जब उस ज्ञानाद्वैतमें ग्राह्य ग्राहकपना नहीं है तब वही एकमात्र बुद्धि ही तत्त्व है, अन्य कुछ है ही नहीं, तब ज्ञानाद्वैतके सम्बन्धमें इतरेतराभावकी सिद्धि करना युक्त नहीं हो सकता है। इसके समाधानमें कहते हैं कि मान लो एक सम्वित्तिमात्र ही है और इस सम्वित्तिके स्वलक्षणमें ही प्रत्यक्ष वृत्ति है याने ज्ञानका जो स्वयं स्वलक्षण है इस होमें वह रह रहा है, इतनेपर भी वह तो मानना पडेगा कि सम्वेदनमें सम्वेद्याकारसे विविक्त करने वाले स्वभावान्तरकी उपलब्धि नहीं है। तो इस तरह स्वभावान्तरसे स्वभावव्यावृत्ति तो सिद्ध होती ही है। याने सम्वेदनको केवल सम्वेदनमात्र माननेपर इतना तो मानना पडे। कि सम्वेदनसे भिन्न अन्य स्वभाव इसमें नहीं है। तो स्वभावव्यावृत्तिके सिद्धान्तसे कहाँ हट सके? तब क्षणिकवादी भी स्वभावान्तरसे स्वभावव्यावृत्तिरूप अन्यापोहका उल्लंघन नहीं कर सकते और फिर देखिये चित्र ज्ञानवादियोंके यहाँ अर्थात् जो ज्ञानको एक चित्राद्वैत मात्र मानते हैं उनके यहाँ चित्रज्ञानमें जहाँ कि अनेक विषयोंका युगपत् प्रतिभास होता है उसमें जो नील पीत आदिक अनेक आकार झलक रहे हैं, ग्राह्य हो रहे हैं तब उनकी परस्पर व्यावृत्ति भी माननी ही पडेगी। अभी विज्ञानाद्वैतवादियोंके सम्बन्धमें कहा था। अब यहाँ चित्रज्ञानवादियोंके सम्बन्धमें कहा जा रहा है। दार्शनिकोंका सिद्धान्त चित्रज्ञानमात्र है उनके उस ज्ञानकी चित्रता तो तभी कहलायेगी जब ज्ञानमें नील पीत आदिक अनेक आकार प्रतिभात माने जायें। सो जब उसमें अनेक आकार माने गए तो यह तो मानना होगा कि उन अनेक आकारोंमें एक आकार अन्य आकारसे व्यावृत्त है, नहीं वे अनेक आकार ही न कहलायेंगे। फिर चित्रज्ञान भी न कहलायेगा। जैसे कोई एक ही आकार प्रतिभासित हो ज्ञानमें तो उसका नाम चित्रज्ञान तो नहीं हो सकता। यदि चित्रज्ञानमें प्रतिभासित होने वाले अनेक आकारोंको परस्पर व्यावृत्त न माना जाय तो चित्रज्ञानका स्वरूप न बनेगा। और परस्पर व्यावृत्त मान लिया तो यही तो इतरेतराभावका रूप है। सो देखो—चित्रज्ञानवादियोंको भी इतरेतराभाव मानना ही पडा।

अन्यापोहके अपन्हवमें बाह्य नीलाद्याकारोंका भी अभाव होनेसे चित्रज्ञानकी असिद्धि— देखिये! अन्यापोहके अभावमें यह भी दूषण है कि चित्रज्ञानमें जिनका आलम्बन है ऐसे नीलादिक पदार्थ भी अभेदस्वभाव बन जायेंगे और फिर जैसे कोई एक नील है तो वह नील स्वभावरूप ही है। अन्यरूप तो नहीं। यों उस चित्रज्ञानमें यदि उन आकारोंको व्यावृत्ति नहीं मानते तो चित्रज्ञान नहीं बनता, और बाह्यमें भी तो पदार्थ हैं कुछ, जो कि ज्ञानमें आये उन पदार्थोंमें भी यदि परस्पर अभाव नहीं मानते तो न ज्ञान बनेगा, न विषय रहेगा तब चित्रज्ञानवादियोंको भी इतरेतरा-

ज्ञापक सामग्री अन्य ही है और आसन्न देशमें रहने वाले पुरुषकी देश सामग्रीका सम्बन्ध अन्य ही है तो यों आसन्न व दूरमें रहने वाले पुरुषको वस्तुमें जो नाना प्रकारके दर्शन हो रहे हैं, कह बैठेंगे कि इस वजहसे उस एक पदार्थमें भी स्वभावभेद हो जायेंगे, कि ये पदार्थ विशद हैं और अविशद हैं आदि। क्योंकि उस प्रतिभासमें कोई विशेषता नहीं है। करण सामग्रीके भेदकी तरह दूरादिक देशकी सामग्रीका भेद भी विषय स्वभावके भेदके बिना नहीं हो सकता।

इतरेतराभावके मन्तव्यकी उपयोगिता—तात्पर्य सबका यह है कि वस्तुमें ज्ञानमें, सभीमें एकानेक स्वभावता पाई जा रही है। ज्ञाता साधन और सामग्रीके भेदसे उपचारतः उनमें भेद बताना और वस्तुमें भेद बताना और वस्तुमें एक धर्मकी हठ बनाना यह युक्त नहीं हो सकता। अनेकान्तके बिना, समस्त धर्मके बिना किसी पदार्थका अस्तित्व नहीं रह सकता। ज्ञान है वह एक है तो अनेकान्तात्मकताको लेकर ही एक है। कोई द्रव्य है, घट पट आदिक है तो वह अनेकात्मकताको लेकर ही एक है। केवल याने एकानेकात्मकतासे रहित कुछ नहीं हो सकता। जैसे बताइये कि रूप रस, गंध, स्पर्शके बिना घट क्या चीज है और घट एक द्रव्यके बिना रूप, रस, गंध स्पर्शादिक क्या चीज है? एक माने बिना अनेकताका बोध न होगा। अनेक माने बिना एकात्मकताका बोध न होगा। जब वस्तु एकानेक स्वभावरूप है तब उसमें इतरेतराभावका निराकरण नहीं किया जा सकता।

प्रतिभासभेदसे स्वभाव भेदकी सिद्धिका प्रतिपादन—प्रतिभासभेद होने पर भी यदि विषय भेद स्वभावभेद आदिक न माने जावें तब, याने जुदे-जुदे पदार्थ प्रतिभासित होनेपर भी यदि भिन्न-भिन्नता नहीं मानी जाती तो प्रत्यक्ष विदित होने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भी एकता आ जायगी इस कारण यह मानना पड़ेगा कि चाहे अन्तस्तत्त्व हो चाहे बहिस्तत्त्व हो, प्रतिभास भेद होनेपर वहाँ स्वभावभेद है। कारणके बिना यदि भेद मान लिया जाय तब फिर किसी भी जगह एकत्वको व्यव-स्था नहीं बनायी जा सकती। अन्यथा प्रतिभास भेद होनेपर भी चित्रपट आदिकमें या चित्रज्ञानमें एकरूपता माननेपर यह तो दोष आता ही है कि रूपादिकमें भी अभेद हो जायगा, एक घड़ेमें रूप, रस गंध आदिक प्रतिभासोंका भेद है सो भेद बननेपर भी वे सब एक हो जायेंगे, यह तो दोष आता ही था। लेकिन अब एक नवीन दोष यह भी आता है कि आत्मादिक किसी पदार्थमें क्रमसे होने वाले विषय सम्बन्धी पदार्थोंका सम्बन्ध भी स्वभावको भेद न सकेगा। अर्थात् आत्मामें अनेक प्रकारके पदार्थोंके जाननेका स्वभाव है, सुख दुःख आदिक उत्पन्न करनेका स्वभाव है। सो किसी भी प्रकारसे इस स्वभावका भेद न बन सकेगा। चाहे कितने ही सम्बन्ध और कारणकी बात बनायी जाय। और फिर इस तरह जो क्रमसे उत्पन्न होने वाले जो कार्य हैं जैसे सुख आदिक वे कार्य भी आत्माके स्वभावमें भेद न सिद्ध कर सकेंगे।

जाते हैं और न यह कह सकते हैं कि नीलादिज्ञान चित्रपटादिका प्रतिभास एकस्वभावात्मक है। चित्रज्ञान अनेकस्वभावात्मक है और उसमें जितने ग्राह्याकार हैं वे तद्गुण धर्म हैं। इस प्रकार सम्वेदन अनेकस्वभावात्मक है और व ह्य द्रव्य भी नाना हैं, वे भी एक न बन जायेंगे ? सो यह एकानेकस्वभावपना हेतु असिद्ध नहीं है, एकानेकस्वभावपना ज्ञान और ज्ञानगत ग्राह्याकार इसमें पाया जाता है एकानेकस्वभावपना बाह्य पदार्थोंमें भी एक धर्मी पिण्ड और तद्गत अनेक गुण उनमे पाये जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो कोई द्रव्य ही मात्र रहेगा, कोई रूपादिक न रहेंगे। यदि सर्वथा घटसे रूप, रसादिक अभिन्न हो जायें तो रूप है सो ही घट है, रस है सो ही घट है। किसी एक धर्ममे वह घट बन जाय तो कुछ एक कह लीजिए अथवा कहलो कि वहाँ द्रव्य नहीं है रूपादिक ही मात्र कुछ है। तो ऐसे अनेकस्वभाव घटादिक द्रव्य हैं और रूपादिक अनेकस्वभाव नहीं हैं याने रूप केवल रूपात्मक है, रस केवल रसात्मक है, लेकिन घट अनेकात्मक है। तो जैसे एकानेकस्वभावरूप होनेपर घटसे रूपादिककी कथचित् व्यावृत्ति मानी गई है ऐसे ही चित्रज्ञानकी भी बात है।

चित्रज्ञानसे ग्राह्याकारोकी कथचित् व्यावृत्ति न मानने पर अनिष्टापत्ति—यदि चित्रज्ञानसे नीलादिक आकारोकी व्यावृत्ति न हो, चित्रज्ञान अनेक स्वभावात्मक एक पिण्ड है और नीलादिक एक एक स्वभावरूप अनेक हैं अथवा उन नीलादिकमे प्रतिनियत नील एकरूप है व चित्रज्ञान नानाकारमय है। ऐसी बात यदि न मानी जायगी तो वहाँ कहना होगा कि या तो चित्रज्ञान ही रह गया। नीलादिक प्रतिभास कुछ न रहे। वहाँ यह कहा जा सकता है कि स्वभावकी एकता होनेपर भी द्रव्यमें और चित्रज्ञानमें जो प्रतिभासकी विलक्षणता है यह कारण और सामग्रीके भेदसे हो रही है, वस्तुतः नही। जैसे कि कोई पुरुष दूर खडा है, कोई पुरुष किसी एक पदार्थके निकट खडा है तो उन दो पुरुषोको किसी एक पदार्थके विषयमे जो भिन्न रूपसे प्रतिभास हो रहा है, जो वस्तुके निकट है उसको उसका स्पष्ट प्रतिभास है, जो उस पदार्थसे दूर है उसको उसका अस्पष्ट प्रतिभास है। जो उस पदार्थसे दूर है उसको तद्विषयक अस्पष्ट प्रतिभास है। तो यह प्रतिभास भेद कह दिया कि कारण सामग्रीके भेदसे है। ऐसे ही किसी भी पदार्थमे स्वभावकी एकता होनेपर भी कह देंगे कि इसमें प्रतिभासभेद जो हो रहा है, जैसे कि चित्रपट आदिक द्रव्य जैसे पटमे नाना चित्रता है, नानारूपता है, ऐसे ही चित्रपट आदिक द्रव्य एक स्वभाव होकर भी चक्षु आदिक कारण साधन सामग्रीके भेदसे वे रूपादिक विलक्षण आकारको धारण कर रहे। चित्रपट एक ही है पर इन्द्रिय और दूर पास आदिकके भेदसे भेद है। यो कह सकेंगे, यो ही कह बैठेंगे कि अन्तःकरणकी वासना है साधन है, उसके भेदसे नाना नील, पीतादिक प्रतिभासरूप है। और, ऐसा न माननेपर प्रत्येक पुरुषके प्रति विषय स्वभावका भेद बन बैठेगा क्योंकि सामग्रीके सम्बन्धका भेद बना रखा है, ना, जैसे किसी एक अर्थके प्रतिभासके सम्बन्धमें दूरमे रहने वाले पुरुषको ज्ञान

क्योंकि क्रमसे होने वाले सुख आदिक कार्योका भेद जो कार्यभेद कारणभेदको सिद्ध कर सकता था ऐसे सुखादिक कार्य भेदोका किसी एक पदार्थमें सुखादिक पदार्थमें समान कारण सामग्रीके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाला जो प्रतिभासभेद है उसके साथ व्यभिचार हो जाता है, याने प्रतिभास भेद पाया जा रहा है। लेकिन विषय एक है। तो ऐसे ही सुखादिक कार्यभेद पाये जायें और आधारभूत स्वभाव एक हो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कार्यभेदसे कारणभेद होता है और प्रतिभास भेदसे स्वभावभेद होता है यह बात सिद्ध की जा चुकी। इस कारण यह मानना चाहिए कि जितने भी सहकारी कारण हैं उतने ही उसमे स्वभावभेद हैं और वे प्रत्येक परस्परमें स्वरूप अपने अपने रखनेके कारण व्यावृत्त हैं। सो इस प्रकारकी व्यावृत्ति एक साथ अथवा क्रमसे होने वाले परिणामोंके भेदसे विदित हो जाती है। जैसे कि एक दीपक में बहुतसे स्वभाव भेद हैं। जैसे वह तैलको सुखा दे, बातीको जला दे, काजलको छोड़ दे, अधकारका नाश करे, पदार्थोंका प्रकाश करे, ऐसे अनेक स्वभावभेद वहाँ पर स्पष्ट व्यावृत्त हैं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो तैल शोषणका सामर्थ्य है वह बत्ती का दाहकी सामर्थ्यसे भिन्न है अन्यथा इतनी क्रिया सम्भव न हो सकेगी। तो देखिये-वहाँ यद्यपि एक साथ इतनी क्रियायें हो रही हैं। क्रमशः स्वभावभेद होता है इसे भी देखिये – जैसे कि घट बनाया गया तो जब घट कच्चा अवस्थामें था, तबका रूप और जब पक रहा है तबका रूप, और जब पक चुका तबका रूप, ये सारे स्वभावभेद वहा सिद्ध होते हैं ना, तो ये स्वभाव-सब यह सिद्ध करते हैं कि यह अन्यापोह है।

सिद्ध पदार्थमे परतन्त्रता व सम्बन्धके अभावका शंकाकार द्वारा कथन

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि पदार्थोंमें सम्बन्ध तो सर्वथा असम्भव है फिर उन परतन्त्रता आ ही नहीं सकती क्योंकि परतन्त्रताका ही नाम सम्बन्ध है अथवा सम्बन्ध का नाम ही परतन्त्रता है। जो पदार्थ स्वयं अपनी सत्तासे सिद्ध है उस पदार्थमें पर सत्ताकी बात ही क्या? इस कारण समस्त पदार्थोंमें तत्त्वतः सम्बन्ध नहीं है। फिर किसी भी पदार्थमें सम्बन्धियोंके भेद स्वभावभेद करनेके कारण नहीं बन सकते। कितने भी सहकारी कारण जुदे-जुदे मिल जायें लेकिन जिस एक पदार्थमें उन सहकारी कारणोंको निमित्त पाकर कार्य बनेगा वह द्रव्य तो स्वतः सिद्ध है ना, तो स्वयं सिद्ध पदार्थ है उसमें स्वभावभेद करनेमे समर्थ सहकारी कारणोंका साथ नहीं हो सकता। सहकारी कारण तो भिन्न चीज हैं वे आयें अनेक तरहके इससे इस कारणभूत द्रव्यमें स्वभावभेद कैसे बन जायगा? तो जो पदार्थ स्वयं हैं उन सिद्ध पदार्थोंमें एक दूसरेसे सम्बन्ध क्या? और सहकारी कारणोंके जुट जानेसे भी यद्यपि कार्यभेद नाना प्रतीत होते हैं फिर भी उस मूल पदार्थमें स्वभावभेद किया जा सकता।

सवेदन व सवेद्याकारकी प्रत्यासत्तिसे भी सम्बन्धकी सिद्धि—देखिये ! सर्वत्र कहीं द्रव्य प्रत्यासत्ति कही क्षेत्र प्रत्यासत्ति कही काल प्रत्यासत्ति और कही भाव प्रत्यासत्तिरूप सम्बन्ध बराबर देखा जा रहा है। प्रत्येक पदार्थका किसी न किसीके साथ-साक्षात् अथवा परम्परया सम्बन्ध कोई न कोई होता ही है। इस सम्बन्धमें और बहुत क्या कहें—एक इस सम्वेदन विज्ञान मात्रको भी देखिये ! जो इस विज्ञानका किसी वेद्यादि आकारसे प्रत्यासत्ति है ही। यदि किसी सम्वेदनसे वेद्याकारकी प्रत्यासत्ति न हो जैसे कि विज्ञानाद्वैतवादी कभी-कभी कहते हैं कि इसमे ग्राह्याकार भी नहीं है तो यदि विज्ञानका वेद्यादिक आकारके साथ प्रत्यासत्ति सम्बन्ध न माना जाय तो वेद्यका और वेदनका ही अभाव हो जायगा। वेद्याकारके जानन बिना वेदन क्या वस्तु रही ? और वेदन बिना वेद्याकार क्या रहा ? जब वेदन और वेद्यमें किसी प्रकारकी प्रत्यासत्ति नही मानते तो दोनों निःस्वभाव हो गए। इस तरह जब वेद्य और वेदनकी प्रत्यासत्ति मान ली जाती है तो चारो ही प्रकारका सम्बन्ध सिद्ध हो गया। द्रव्य प्रत्यासत्ति, क्षेत्र प्रत्यासत्ति कालप्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति, चारो ही सिद्ध हो जाते हैं। वेदन और वेद्याकारमे जब ये चारो प्रत्यासत्ति सिद्ध हो गए तब परस्पर परतंत्रता सिद्ध हो जाती है। यहाँ परतन्त्रताका अर्थ है वस्तुके आश्रय रहना। जैसे कि आत्मामे ज्ञान गुण है निश्चयतः ज्ञान ही आत्मा है। उसमें परतन्त्रताकी बात नही है, किन्तु दार्शनिक पद्धतिसे जब वस्तुस्वरूपकी चर्चा होती है तो चूंकि व्यवहारनयसे यह कहना ही पडेगा कि आत्मामें ज्ञान है। तो इस समय इस दृष्टिमें ज्ञान आत्मतंत्र हो गया। ये कोई भिन्न-भिन्न देशवान पदार्थ नहीं है, जिनकी परतन्त्रता जैसी कल्पना की जाय लेकिन परतन्त्रताका अर्थ यह है कि निराश्रय नहीं है। तो ज्ञानाकार वेदन जब सिद्ध है तो उस सिद्ध सम्वेदनाकारको ग्राह्याकारादिको ज्ञानके परतन्त्र मानना होगा। यदि सवेद्यको सवेदनाश्रित नही मानते तो जो ग्राह्याकार हैं वे ज्ञानके आश्रय नहीं हैं, ऐसा माननेपर फिर ज्ञानके अभावमे भी ग्राह्याकारोंका सद्भाव होना पडेगा। जब ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोकी प्रतिपत्ति नहीं मानते और दोनोंको निराश्रय मानते हैं तब तो ज्ञेयाकार, ग्राह्याकार बिना ज्ञानके ही बन जायें यह प्रसग आ जाता है। अथवा ज्ञानका यदि ज्ञेयाकारके साथ सम्बन्ध नही मानते ज्ञेयाकारके परतन्त्र नहीं मानते ज्ञान को तो ज्ञान निराकार कहलायेगा। ऐसा ज्ञान जिसमे कोई ज्ञेयाकार नही, कोई ग्राह्याकार नही, विषय ही नही कुछ उस ज्ञानका स्वरूप ही क्या ? यहाँ परतन्त्रता का अर्थ आधाराधार्य गुण गुणी विषय विषयी आदि सम्बन्धोंसे है।

ज्ञानमे वेद्याकाराभावका पारतन्त्र्य (सम्बन्ध) न माननेपर निराकार ज्ञानकी असिद्धि—कदाचित् ज्ञानको निराकार भी मान लिया जाय तो इतना माननेपर भी सम्बन्धकी मान्यतासे हट नहीं सकते। यह भी मान लिया जाय कि ज्ञान निराकार है। उसमें ग्राह्याकार नही है तो निराकार ज्ञानके माननेपर भी यह तो मानना ही पडेगा कि ज्ञानमे वेद्याकारके अभावका सम्बन्ध है। याने उस ज्ञानमें वेद्या-

को देख सकते हैं तो वहाँ यह सम्बन्ध मानना होगा चक्षु और रूपमें कि इतने क्षेत्रकी निकटता हो, सम्बन्ध हो तब चक्षु जानता है। यदि ऐसा क्षेत्र प्रत्यासत्तिको न माना जाय तब जैसे ५० मील दूर पर ठहरे हुए पदार्थोंको चक्षु नहीं देख सकता क्योंकि क्षेत्र प्रत्यासत्ति सम्बन्ध तो मान नहीं रहे, उसकी तरह योग्य देशमें रहने वाले रूपका भी ज्ञान चक्षु न कर सकेंगे। अब चक्षु कहीं भी रूपज्ञान कर न सका, तो किसी भी मनुष्यको चक्षुका सत्त्व है यह भी सिद्ध न हो सकेगा। मनुष्यको उसका चक्षु है यह ज्ञान इसीसे तो बनता है कि उसने रूपका ज्ञान कर लिया अतएव उसका चक्षु है। रूपका ज्ञान अब न रहा तो चक्षुकी भी सत्ता न रही। और जब चक्षु न रहे चाक्षुष प्रत्यक्ष न रहा तो रूपका भी सत्त्व न रहा। तो अब देखिये ! कि क्षेत्र प्रत्यासत्ति न मानने पर चक्षु और रूप दोनोंकी निःस्वभावता हो गयी दोनोंका असत्त्व हो गया। तब क्षेत्र प्रत्यासत्ति नामका भी कोई सम्बन्ध है, यह मानना होगा।

कालप्रत्यासत्ति व भावप्रत्यासत्तिरूप सम्बन्धकी सिद्धि— अब काल प्रत्यासत्तिकी बात सुनो ! कारण परिणाम और कार्य परिणाममें कालप्रत्यासत्ति हुआ करती है जैसे घड़ा और खपरियाँ। घड़ा पर्यायके बाद ही खपरिया पर्याय बनती है, यह तो लोग समझते ही हैं। इसमें काल प्रत्यासत्तिकी बात पड़ी हुई है, क्योंकि घट पर्यायका अब कारण है और खपरिया पर्याय कार्य है। और, इन दोनों परिणामोंमें काल प्रत्यासत्ति मानी न जाय तो जैसे अनिष्ट कालमें कार्यकारणभाव नहीं बनता इसी प्रकार इष्ट कालमें भी कार्य कारणभाव न बनेगा, क्योंकि अब काल प्रत्यासत्ति तो माना नहीं है तब दोनों ही पर्यायोंका अभाव हो जायगा। कोई नाम या स्वभाव न रहेगा। तब देखिये कि पदार्थोंमें परस्पर काल प्रत्यासत्ति भी न माननी होगी। अब भावप्रत्यासत्तिकी बात देखिये ! जब पर्वतमें अग्नि है यह सिद्ध करने चलते हैं तो वहाँ हेतु दिया जाता है धूम होनेसे। तो उस सम्बन्धमें जब व्याप्ति बनाई जा रही है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता। तो यो व्याप्तिके व्यवहारकालमें रहने वाले धूमादिक लिंगकी और अग्नि आदिक लिंगकी साध्यभावकी भावत प्रत्यासत्ति है कि नहीं ? जब व्याप्ति बना रहे हैं कि जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है तो उस व्याप्तिपनेकी दृष्टिसे उन साध्य साधनोंमें भावप्रत्यासत्ति है अन्यथा व्याप्ति ही न बन सकेगी। लेकिन अब किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न मानने वाले दार्शनिकोंके यहाँ भाव प्रत्यासत्ति तो कुछ रहा नहीं, तब किसी भी अग्नि आदिक साध्यमें अनुमान बन ही न सकेगा। तो भाव प्रत्यासत्ति न माननेपर अब अनुमान न बना, तब अनुमान और अनुमेय दोनोंको असत्त्व हो जायगा। तो देखिये ! यहाँ अनुमान और अनुमेय दोनों ही निःस्वभाव हो गए, अतः यह हठ न चल सकेगी कि जब वस्तु स्वतः सिद्ध है तो स्वतः सिद्ध वस्तुमें संबंध और परतन्त्रता कुछ हो ही नहीं सकती, फिर स्वभावभेद वस्तुमें कहाँसे सिद्ध किया जायगा ?

सवृत्तिसे सम्बन्ध माननेपर परमार्थतः अकारण द्रव्यमें नित्यत्वकी प्रसक्ति—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि वास्तवमें किसीका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं है। केवल कल्पनासे ही सम्बन्ध माना जाता है। और, चूंकि सम्बन्ध व्यवहारके लिए उपयोगी है अतः व्यवहारकी बननी कल्पना ही वहाँ सम्बन्धका कारण बनती है। इसके समाधानमें कहते हैं कि क्या हुआ, कल्पनासे भी यदि परतन्त्र मानोगे तो वह दोष तो नहीं हट सकता, क्योंकि सम्बन्ध तो कल्पनासे ही माना। अथवा कार्य कारण भाव है इस प्रकारका सम्बन्ध कल्पनासे हो कहा, परमार्थसे तो सम्बन्ध न रहा। और कल्पना है मिथ्यारूप। तो कल्पनासे सम्बन्ध रहा, इसका अर्थ है कि झूठा यदि कहलवाते हो तो सम्बन्ध है वस्तुतः कार्य कारणका सम्बन्ध नहीं। तब परमार्थसे तो यही निर्णय रहा कि बिना कारणके कार्य हो गया है। तो जो बिना कारणके हो वह नित्य ही है। इसमे किसी प्रकारकी बाधा नहीं दी जा सकती। यदि परमार्थसे कारणका कार्यात्मक स्वरूपसे परतन्त्र मान लेते हैं तो सम्बन्धकी तात्त्विकता सिद्ध हो ही गई। इस प्रकार यह कथन कि अन्योन्याभाव और इतरेतराभाव ये कहीं भी घटित नहीं होते सो उनका निराकरण करना समीचीन नहीं है क्योंकि सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे सतानान्तरमे भाव स्वभावके भेद परस्परमें व्यावृत्त तो है ही ना, तब वहाँ तो अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव घटित हो जायगा। इन अभावोंका निराकरण करनेपर वस्तुके स्वरूपकी सिद्धि नहीं की जा सकती।

पदार्थोंके प्रतिक्षण अनन्त पर्यायोंरूप परिणमनेका वर्णन—देखिये। प्रतिक्षण अनन्त पर्यायवान प्रत्येक पदार्थ जितने भी प्रदेशी सत हैं वे सब प्रतिक्षण अनन्त पर्यायोंरूप परिणमते हैं और भूत भविष्य कालकी अपेक्षा अनन्त पर्यायोंरूप परिणमते रहे और अनन्त पर्यायोंरूप परिणमते रहेंगे। प्रत्येक पदार्थ अनेक शक्त्यात्मक होते हैं, शक्ति स्वभाव, गुण, किन्ही भी शब्दोंसे कहो प्रत्येक पदार्थोंमे अनन्त शक्तियाँ होती हैं और जितनी शक्तियाँ हैं उतने ही परिणमन हैं उतने परिणमन प्रति समय हुआ ही करते हैं। तब ये पदार्थ सब एक स्वभाव न रहे और न क्षणमात्रकी स्थिति वाले रहे। इसका अन्वय दिखाया जा रहा है, ये पर्यायें प्रतिक्षणमे जो परिणमती रहती हैं वे किसकी होती हैं उनमें अन्वयभूत सत् बराबर रहता ही है निरन्तर अन्वयका सद्भाव है, अविच्छेद है अन्वयका, तो उन अनन्त पर्यायोंमे रहने वाले सद्भूत पदार्थोंका यदि क्रमसे भी विच्छेद कोई माने तो भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती। जो स्वयं असत् है, क्रियाके सम्बन्धमें प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे कारण द्रव्यसे तत्त्वतः कार्यमें उपयोग सम्भव नहीं है। और जब असत् पदार्थसे कुछ भी कार्य नहीं बन सका तब फिर किसके द्वारा किसका आत्मलाभ हो? याने कोई कारण नहीं बन सका और न कोई पदार्थ कार्य बन सकता है। हाँ कथचित् अविच्छेद मान लिया जाय कारणभूत पदार्थका विनाश नहीं होता, ऐसा कथंचित् अविच्छेद मान लिया जाय तो कार्यका होना सुघट हो जायगा। जैसे मृत्पिण्डसे घड़ा पर्याय बनती है तो जिस का।

कारके अभावका सम्बन्ध है। यों तो उस ज्ञानमें वेद्याकारका अभाव है। ज्ञान निराकार माना। ज्ञानका अर्थ यह है कि ज्ञानमें ग्राह्याकार नहीं है तो क्या है? ग्राह्याकारका अभाव है। तो ठीक ज्ञानमें ग्राह्याकारके अभावका तो सम्बन्ध मानना पड़ा। यदि ज्ञानमें ग्राह्याकारके अभावका सम्बन्ध न माना जाय तो अर्थ क्या हुआ कि ज्ञानमें ग्राह्याकार स्वरूप है। सो ये दोनों बातें विरुद्ध हैं या तो यह मान लिया जाय कि ज्ञान ग्राह्याकारके परतन्त्र है या फिर यह मानें कि ज्ञान ग्राह्याकारके अभावके परतन्त्र है और दोनोंको परतन्त्रताका अभाव तो विरुद्ध ही है। तब किसी न किसी प्रकारकी प्रत्यासत्ति माने बिना तो स्वरूप कोई सिद्ध कर ही न सकेगा।

सर्वथा अभावको भावपरतन्त्र न माननेपर अभावनामक स्वतन्त्र पदार्थकी सिद्धि—और, भी देखिये—सर्वथा सम्बन्धाभावका यदि किसी भावके परतन्त्र है यह न माना जाय तो सर्वथा अभाव स्वतन्त्र बन गया, याने निराश्रय बन गया। देखिये जब कभी अभावका प्रतिपादन किया जाता है तो किसी वस्तुके आश्रय से ही किया जाता है। जैसे घटका अभाव आदिके रूपसे अभाव भी भावके परतन्त्र है अथवा कहो भावका विशेषण कहकर अभावका प्रयोग होता है तो लो स्वयं अभाव भी भावके परतन्त्र हो गया। यदि अभावको भावके परतन्त्र नहीं मानते तो अभाव स्वयं स्वतन्त्र हो गया, निराश्रय हो गया। तो जो निराश्रय है। स्वतन्त्र है उसमें अभावरूपता कैसे रहेगी? वह तो सत्तात्मक रूप स्पष्ट बन गया। फिर सम्बन्धाभावकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती है। इस तरह चाहे पदार्थको सिद्ध मानने वाले हो, चाहे कार्य द्रव्यको असिद्ध मानने वाले हो, सभी प्रकारके दार्शनिकोंको किसी न किसीके साथ प्रत्येक पदार्थका पारतन्त्र्य मानना होगा। तब यहाँ देखिये कि सिद्ध अथवा असिद्ध किसी भी कार्यद्रव्यका पारतन्त्र्य प्राप्त करके गुण गुणी आदिक से कहते हैं कि क्या परतन्त्रता है। सो देखो—ये दार्शनिक स्वयं परतन्त्र ही रहे हैं। अर्थात् ज्ञानके आधीन हो रहे हैं। जैसे किसी भी सिद्ध पदार्थका किसीके साथ कोई सम्बन्ध न माना जाय तो उस वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार किसी भी कार्यात्मक असिद्ध पदार्थमें कारणकी परतन्त्रता है ऐसा मानना ही पड़ेगा। अन्यथा कारणके अभावमें जहाँ चाहे जिस चाहे कार्यकी उत्पत्ति हो पड़ेगी। यदि यहाँ शंकाकार यह कहेंगे कि हम तो कार्य कारण भाव ही नहीं मानते, फिर कार्यात्मक किसी पदार्थमें कारणकी परतन्त्रता आती है यह बात कैसे बने? इसके समाधानमें कहते हैं कि किसीसे किसीकी उत्पत्ति न माननेपर फिर तो शाश्वत सत् हो जायगा। क्षणिकवादी यदि कार्यको कारणसे नहीं मानते, कारण कार्यभाव नहीं मानते, क्षणिकता का विघात हो जायगा इस भयसे क्षणिकसिद्धान्तानुयायियोंने कारण कार्य भाव नहीं माना और इस नीतिके अनुसार यदि कारणसे कार्यकी उत्पत्ति न मानेंगे तो अर्थ यह होगा कि प्रत्येक पदार्थ सदा सत् है। और, कारणके बिना जो सत् हो वह नित्य होता है।

जायगा ? जैसे खरविषाण कोई पदार्थ ही नहीं है तब उसमे नश्वरताकी बात कहासे आयगी कि वह नष्ट होता है ? और, इस ही कारण यह भी कहा जा सकता है कि स्थिर रहते हुए ही उत्पन्न होता है। कोई पदार्थ सत्व, द्रव्यत्व, चेतनत्व आदिककी अपेक्षासे स्थिर रह रहा हो वही तो उत्पन्न हो सकता है। कोई पदार्थ यदि सर्वथा ही रहने वाला न हो तो उसका कभी भी उत्पाद नहीं बन सकता खरविषाणकी तरह। जैसे खरविषाण कुछ चीज ही नहीं है स्थिर रहनेकी चीज नहीं है तो उसका उत्पाद नहीं बन सकता। इस कारण प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ त्रिलक्षण है उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनो ही धर्म एक साथ एक ही कालमे निरन्तर पदार्थमें रहते हैं। इस को तत्त्वार्थ महाशास्त्रमें भी यही कहा है कि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" समस्त सत् उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त होते हैं।

स्थिति आदिके अभिन्न व भिन्न होनेके दोनो विकल्पोमे वस्तुके त्रिलक्षणत्वके अभावकी आशका अब यहा क्षणिकवादी शका करते हैं कि देखिये ! यहाँ तीन धर्म बताये हैं—स्थिति, उत्पत्ति और विनाश। सो ये धर्म जिस पदार्थमे भी माने गये, जैसे जीवमें घटाइये- जीवकी स्थिति, जीवको उत्तर पर्यायका उत्पाद, जीवकी पूर्व पर्यायका विनाश, तो ये तीनो जो माने गए हैं धर्म, तो यह बतलावो कि जीव वस्तुसे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि ये स्थिति आदिक जीवसे अभिन्न हैं तब तो स्थिति मात्र ही रहे या उत्पत्ति व व्यय मात्र ही रहे। अब उत्पत्ति और विनाश भी स्थितिका ही नाम पडेगा अथवा विनाशका ही नाम स्थिति और उत्पत्ति होगी या उत्पत्तिका ही नाम विनाश व स्थिति होगी जब ये तीनो धर्म जीवसे या किसी भी पदार्थसे अभिन्न मान लिए गए तब ये तीनो न ठहरेंगे। तो ये स्थिति आदिक परस्परमें अभिन्न हैं तब एक रहो, दोका अभाव हो जायगा क्योंकि एकसे अभिन्न रूपसे रहने वाली स्थिति आदिकके विभागका विरोध है। ठहरनेका अर्थ है दूसरा, उत्पाद होनेका अर्थ है दूसरा, नष्ट होनेका अर्थ है दूसरा। जो ठहर रहा है उसे उत्पन्न होना और नष्ट होना नही कह सकते। जो उत्पन्न हो रहा है उसे अन्य दो बाते नहीं कह सकते। और, जब स्थिति आदिकको परस्परमे अभेद मान लिया तब ये विभाग ही नही बन सकते और जब स्थिति, उत्पत्ति विनाशका विभाग न बने तो वस्तुकी त्रिलक्षणता तो कुछ न रही। इस कारण इन तीनो लक्षणोंको अभिन्न तो कह नहीं सकते। यदि कहते हो कि स्थिति उत्पाद ध्रौव्य ये तीनोके तीनो भिन्न-भिन्न हैं तो ये तीन हो गए ना सत् और जो है होता है वह त्रिलक्षणात्मक होता है तो ये तीनों जब हैं तब ये तीनों त्रिलक्षण हो जायेगे। स्थिति भी उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप है, उत्पाद भी उत्पाद व्यय, ध्रौव्य रूप होगा व्यय भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होगा, व्यय भी उत्पाद उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होगा। अन्यथा इन तीनोका सत्त्व नही ठहर सकता। और, जब इन तीनोमे असत्त्वकी आपत्ति आई, ये असत् हो गए तब फिर त्रैलक्षण्यकी सिद्धि नहीं की जा सकती कि प्रत्येक पदार्थ त्रिलक्षणात्मक है। तो यह

से घट पर्याय बनेगा वह कारण कथंचित् अविच्छिन्न है, मृत्पिण्डमें भी था और घट होनेपर भी है वह, अथवा कारण है मिट्टी सो घटका आकार विशेष जो मृत्पिण्ड था उसका तो विच्छेद हुआ लेकिन मिट्टीका विच्छेद नहीं हुआ। तो द्रव्यार्थिकनयसे वस्तु का अविच्छेद माननेपर कार्यका होना घटित हो जाता है। कार्यरूपसे होने वाले कारणका विच्छेद नहीं किया जा सकता, अर्थात् वह निरन्तर है। कार्यरूपसे जो उपादान हुआ है वह द्रव्य तो सदा ही रहता है उसमें समयका भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वह कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं करता। मिट्टीमें स्वयं घडा रूप पर्याय बनी है तो जब किन्हीं भी कारणोंके सन्निधानमें मिट्टीमें घटाकार पर्याय बनती है तो अपने द्रव्यमें सहयोग लेनेके लिए आने मिलकर परिणमनेके लिए मिट्टी किसी द्रव्यकी अपेक्षा नहीं करती तब यह सिद्ध हुआ कि जो उत्पन्न होने वाला है वह अपनी उपादान विधि में कार्यरूपसे परिणमनेके लिए किसी अन्य द्रव्यके उपादानकी अपेक्षा नहीं करता। स्वयं अपने पर्यायरूपसे उत्पन्न होने वाले कार्यद्रव्य यदि स्वभावान्तरकी अपेक्षा करने लगे तो जिनके यहाँ विनश्वर पदार्थ माने हैं उनके यहाँ भी विनश्वर पदार्थकी उत्पत्ति में स्वभावान्तरकी अपेक्षाका प्रसंग हो जायगा। तब इस प्रकार याने स्वयं उत्पन्न होने वाले विनश्वर पदार्थका यदि स्वभावान्तरकी अपेक्षा नहीं है यह चाहते हो तो इसी पद्धतिसे यह मानना होगा कि इस ही प्रकार जो स्थायी पदार्थ है, सर्व समयोंमें ठहर सकने वाला है, उस पदार्थको भी स्वभावान्तरकी अपेक्षा नहीं होती। स्वभावतः उत्पत्ति, विनाश, और स्थितरूपसे परिणमने वाले पदार्थके कारणान्तरकी अपेक्षा न रहकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनकी व्यवस्था है। एक विशेषमें ही स्थूल व्यञ्जन पर्यायमें ही जो वचनगम्य है, विनाशीक है उसमें ही हेतुका व्यवहार माना गया है। तो अब कारणान्तरकी अपेक्षा न रही. तो पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे प्रतिक्षण अनन्त पर्यायें क्रमसे नष्ट न होने वाली अन्वयकी सन्तति विदित होती है। पर्यायें किसकी? जिस सद्भूत प्रदेशवान पदार्थकी पर्यायें हैं ये पर्यायें उस सद्भूत अविनाशी द्रव्यकी ओर इशारा करती हैं। तब यह सिद्ध हुआ कि यह पदार्थ उत्पन्न होता हुआ ही विनष्ट होता है और नष्ट होता हुआ ही ठहरता है। उत्पन्न और नष्ट होता हुआ भी स्थिर रहा करता है।

समस्त पदार्थोंके त्रिलक्षणत्वकी सिद्धि—उक्त कथनका सारांश यह है कि ये पदार्थ उत्पन्न हो रहे उत्पन्न होते हुए नष्ट होते हैं। यहाँ यह सन्देह न करें कि उत्पन्न होते हैं तो उत्पन्न हों, फिर विनष्ट कैसे होते हैं? क्योंकि उत्तरकालीन जो सुखादिक पर्यायें हैं उनकी उत्पत्ति पूर्व दुःखादिक पर्यायोंके विनाशको छोड़कर होती है। तो उत्तर पर्यायका उत्पाद पूर्वपर्यायके विनाशको लिए हुए है, इस कारण यह भी कहा जा सकता है कि पर्याय अपेक्षासे ही नश्वर हुई वह पदार्थकी स्थिति रहती है, क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षासे अगर स्थाणु न हो कोई पदार्थ, द्रव्यकी अपेक्षा स्थिर न होने पर फिर नाश भी नहीं बन सकता। जब कोई द्रव्य ही न रहा तो नाश किसमें कहाँ

ही है प्रतिक्षण चर अचर समस्त पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक होते हैं, क्योंकि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायमे नष्ट न होने वाली अन्वय सन्तति बराबर रहती है।

वस्तुका त्रैलक्षण्य व वस्तुसे कथंचित् अभेद होनेसे तीनो लक्षणोका त्रैलक्षण्य – अब तीनो कालोकी अपेक्षासे भी इन सबको त्रिलक्षणात्मक देखियेगा! जीवादिक पदार्थका द्रव्यरूपसे तो तीनो कालमे रहना होता है, अन्यथा याने निरन्वय माननेमे, ऐसा क्षणिक एकान्त माननेमे कि जहाँ सतति अथवा द्रव्य नही है सर्वथा अर्थ क्रियामे विरोध आता है नित्य एकान्तकी तरह। जैसे जिनका सिद्धान्त है कि वस्तु नित्य एकान्तरूप है उनके यहाँ भी अर्थक्रिया नही बनती, और जो मानते हैं कि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है उनके यहाँ भी अर्थक्रिया नही बन सकती। इससे यह मानना होगा कि जीवादिक पदार्थ द्रव्य–पर्यायात्मक हैं, क्योकि क्रमसे और युगपत् उनमे अर्थ क्रिया अन्यथा बन ही न सकती थी। इस तरह प्रत्येक पदार्थकी द्रव्य पर्यायात्मक-रूपता प्रमाणसे उत्पन्न है और तब यह कहना भी युक्त है कि स्थिति ही स्थिर रहेगी, उत्पन्न होगी, नष्ट होगी और स्थिति ही स्थिति थी, उत्पन्न हुई और नष्ट हुई। इसी प्रकार यह भी कह सकते कि विनाश ही ध्रौव्य होगा, उत्पन्न होगा नष्ट होगा और विनाश ही ध्रौव्य था, उत्पन्न था, नष्ट था इसी प्रकार यह भी कह सकेंगे कि उत्पत्ति ही उत्पन्न होगी, नष्ट होगी स्थिर होगी, और वह उत्पत्ति ही उत्पन्न हुई, नष्ट हुई, स्थित हुई, ये सब भेद विभाग कथंचित् भेद और अभेद मान लेनेपर सिद्ध होते हैं क्योकि स्थिति आदिकके आश्रयभूत जो वस्तु है वह अनादि अनन्त रहती है अतएव कभी भी उसका उपरम नही होता। उसके तीनो कालकी अपेक्षा रखकर यदि स्थिति आदिक पर्यायोका काल देखा जाय तो कह सकेंगे कि तीनोका ही उपरम नही होगा। क्या कोई समय ऐसा होगा कि जिस समय किसी पदार्थमें उत्पादका होना समाप्त हो जायगा। अथवा कोई समय ऐसा होगा कि उसका विनाश होते रहना समाप्त हो जायगा। अथवा पदार्थ सदाकाल पहिले भी था, उत्पन्न होता था, नष्ट होता था और आगे भी अविच्छिन्नकालमे स्थिर रहेगा। यदि इन तीनो बातोका उपरम मान लिया जाय तब फिर वस्तुकी त्रिलक्षणात्मकता न रहेगी और फिर वस्तु सत् भी न रहेगा। तब स्थिति आदिक तीनो कालोमे जब त्रिलक्षणता है तब यह कह देना युक्त है कि जीवादिक वस्तु ठहर रहे हैं, ठहर रहे थे और ठहरे रहेंगे। जीवादिक पदार्थ नष्ट हो रहे हैं नष्ट हो रहे थे और नष्ट होते रहेंगे। समस्त पदार्थ उत्पन्न हो रहे थे और उत्पन्न होते रहेंगे, अन्यथा अर्थात् जीवादिक पदार्थोंमे तीनो कालोमे यदि त्रिलक्षणात्मकता नही मानी जाती है तो पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न जो स्थिति आदिक धर्म है उनमे ये ठहरे रहेंगे नष्ट होते रहेंगे आदिक व्यवस्था नहीं बनती। अत इन तीनोमे ये धर्म हैं इस तरह ये ९ विकल्प प्रत्येक ९ विकल्पोके साथ जुड़ेंगे और यो ८१ विकल्पोके रूपमे वस्तुका विचार बनेगा। ९ विकल्पोमे वस्तु परखिये - पदार्थ जब तक ठहरते हैं ये अपने कालकी अपेक्षासे ठहरते हैं, उत्पन्न होते है, नष्ट होते है और अपने

पर्यायोंके प्रति जाती है, जायगी और गयी थी अर्थात् सत्तामे ही पर्यायोंको अंगीकार किया था, कर रही है, करती रहेगी, इस कारणसे सत्ता ही एक द्रव्य हुआ। द्रव्य शब्दकी व्युत्पत्ति ही यह है कि द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवत् इति द्रव्य—याने जो पर्यायोंके प्रति जाता है याने पर्यायोंरूप परिणमता है परिणमेगा, परिणमता रहा वह द्रव्य है त अब इस भावसे ही, सन्मात्र सत्त्वसे ही उसके इस विशेषपर दृष्टि दी तो सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्य है। और भी देखिये! यह सत्ता ही जिसमें निवास करती है इस सत्ताने जिसमे निवास किया, यह सत्ता जिसमे निवास करती रहेगी, ऐसा ही तो पदार्थ है, यो सत्ता ही क्षेत्र हो गया। क्षेत्र शब्दकी व्युत्पत्ति है यह कि क्षीयते क्षेष्यते, क्षितः अस्मिन् पदार्थाः इतिक्षेत्र याने पदार्थ जिसमे निवास करते हैं, निवास करेंगे, निवास कर रहे उसका क्षेत्र कहते हैं। तो अब उस सत्ताको देखिये! कहीं तो है वह, जहाँ है वही सत्ताका क्षेत्र कहलाता है। तो यों सत्ता ही क्षेत्र कहलाया। तो यो सत्ता ही द्रव्य हुआ और सत्ता ही क्षेत्र हुआ, तथा सत्ता ही काल कहलाया। काल शब्दकी व्युत्पत्ति है कि कलयन्ते कलयिष्यन्ते कलिताः अस्मात इति कालः याने जो पूर्व और उत्तर परिणामको प्राप्त होता है और होता रहेगा जिस भावमे सत्त्वसे, उसे काल कहते हैं। तो इस तरह देखिये! सत्ता ही काल बन गया और सत्ता ही भाव कहलाता है। भाव शब्दको व्युत्पत्ति है—भवति भविष्यति अभूत् इतिभाव। जो हो रहा हैं, हवेगा, हुआ था उसे भाव कहते हैं। तो इस तरह देखिये! यह सत् ही तो भाव बना, पर्याय बना, यो सत्ता ही द्रव्यरूपसे, क्षेत्ररूपसे, कालरूपसे और भावरूपसे विशिष्ट होती है। तब समझ लेना चाहिये कि सन्मात्र द्रव्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप हुआ। और यो चतुष्टय रूप होकर यह सत् अब त्रिलक्षण बन जाता है, इसके समझनेमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती। सर्वप्रथम सन्मात्र सत्त्वको इस चतुष्टयमें विभिन्न करिये। कुछ भी सत् हो वह द्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी अपेक्षाको छोड़कर नहीं रहता। सदा ही उस प्रकारसे व्यवहारका विषय बनता है।

सन्मात्र तत्त्वमे त्रैलक्षण्यके दर्शनका विवरण—यहाँ तक यह बताया गया कि देखिये! प्रत्येक द्रव्यमे या जो कुछ भी इष्ट पदार्थ माना जाय उसमें त्रिलक्षणता माने बिना और स्व नहीं ठहरता। इस तत्त्व द्रव्य क्षेत्र काल, भाव स्वरूपसे इस ही विशेषण होता है। अथवा सन्मात्र तत्त्व भी अनन्त पर्याय सिद्ध होता है। इस कारण अब इस सन्मात्र द्रव्यमें भी त्रिलक्षणताकी बात घटित कर लेना चाहिए। देखिये! परस्पर व्यावृत्ति स्वभाववाली याने एक दूसरेसे भिन्न प्रकारका स्वभाव रखने वाली यह अनन्त गुण पर्यायोंकी संतति है। जितने भी गुण हैं वे सब गुण परस्परमे एक दूसरेसे विभिन्न स्वभाव रखते हैं। यदि विभिन्न स्वभाव न रखें तो वे अनन्त गुण न ठहरेंगे। सबसार होकर एक ही कुछ रह जायगा। और, यो ही जितनी पर्यायें हैं वे भी परस्पर व्यावृत्त स्वभाववाली हैं, अन्यथा वे परिणमन अपरूप ही सिद्ध न हो पायेंगे। तो इस परस्पर व्यावृत्त स्वभाव वाले अनन्त गुण अनन्त पर्यायोंको प्रतिक्षण

कालमे उत्तर कालकी अपेक्षा भविष्यकी अपेक्षा ठहरे रहेंगे उत्पन्न हुते रहेंगे नष्ट होते रहेंगे। और आगे पूर्वकालकी अपेक्षा ठहर रहे थे, उत्पन्न हो रहे थे नष्ट हो रहे थे, ये ६ भेद होते हैं तो यह स्थितिक सम्बन्धमे कहा है कि यह एक कालकी स्थितिकी बात है। इसी तरह ८ धर्मोंमे भी यह लगा लेना है। यो ९ विकल्पोंके साथ ६ विकल्प उठते हैं। ८० विकल्पोंके रूपमे वस्तुका विचार चलता है। यहाँ यह शका नही की जा सकती कि इस तरहकी व्यवस्था धर्मकी तो हो जाय पर धर्मीकी न हो सकेगी। जब धर्म धर्मीसे अभिन्न कथाचित देखा गया है तो वस्तुमे अभिन्नरूप रहने वाली स्थिति आदिक पर्यायोमे भी उतने ही प्रकारके विकल्प बनते हैं। अतएव उन तीनो लक्षणोका वस्तुमें कही भी उपरम सिद्ध नही होता।

प्रत्येक द्रव्यकी तरह सन्मात्र कल्पनामे भी त्रैलक्षण्यका अवतार

उक्त प्रसग में यह बताया है कि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह कोई भी जीव हो, चाहे वह कोई भी पुद्गल हो, धर्म द्रव्य हो, अधर्म द्रव्य हो आकाश द्रव्य हो कोई भी काल द्रव्य हो, ये सभी प्रत्येक पदार्थ अनन्त पर्यायो वाले सभी एक साथ और क्रमसे विचारे जानेपर ८१ प्रकारके विकल्पोमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप कहे गये हैं। यह सब वर्णन एक भेद विवक्षा किए बिना जो द्रव्यका परिज्ञान होता है उस भेदविवक्षारहित शुद्ध दृष्टिके प्रतिपक्षमें अशुद्धद्रव्यका प्रतिपादन है। अशुद्ध द्रव्यका अर्थ विभाव पर्यायसयुक्त से नही, किन्तु द्रव्य ऐसा हो मात्र केवल न सोचकर उसके भेद देखकर अथवा अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय याने व्यवहारनयकी दृष्टिसे इन सबका भेदोके रूपमें निरखकर बताया गया है कि ये सब उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप हैं। तो जैसे अशुद्ध द्रव्यके सम्बधमें अर्थात् सत्ताके द्रव्यके अनेक भेद करके प्रत्येक भेदके सम्बधमे त्रिलक्षणता बतायी है उस ही प्रकारसे सन्मात्र शुद्ध द्रव्यमे भी त्रिलक्षणता निरखना चाहिए। शुद्ध द्रव्यका अर्थ है यहाँ भेदकी विवक्षा न करके जिस दृष्टिमे भेदविवक्षा नही है ऐसे शुद्ध सग्रहकी अपेक्षा जो सन्मात्र द्रव्य कहा गया है वह उसमे भी त्रिलक्षणता समझ लेना चाहिए। जिसके भेद विवक्षामें नही लिए गए ऐसे शुद्ध सन्मात्र की बात सुनकर कोई सत्ताद्वैतवादी ऐसी आशका कर सकता है कि जिसके भेदकी विवक्षा नही है ऐसे शुद्ध सन्मात्र तत्त्वमे द्रव्यपना ही घटित नही होता। फिर सन्मात्र शुद्ध द्रव्यके सम्बधमे त्रिलक्षणता की बात कहना कैसे युक्त हो सकती है? ऐसी शका करने वालेको यह समझ लेना चाहिए कि सन्मात्र शुद्ध द्रव्यका ही जब द्रव्यत्व विशेषणसे विचार चलता है तो वह द्रव्य व्यवहारका विषय बन जाता है। द्रव्यका लक्षण भी यही कहा है कि "द्रव्य सल्लक्षणिक" जो सत्लक्षण वाला हो सो द्रव्य है तो सत्को ही द्रव्यत्व विशेषण करके निरखनेपर उसमे द्रव्यका व्यवहार बन जाता है। तो यो सन्मात्र तत्त्वमें द्रव्यत्वकी सिद्धि है इसी ज्ञानको स्पष्ट करते हैं।

सन्मात्र तत्त्वमे त्रैलक्षण्य सिद्ध होनेका आधार—देखिये! सत्ता ही

प्रसिद्ध होती है। अन्यापोहका लक्षण भी यही किया गया है कि स्वभावान्तरसे स्वभावकी व्यावृत्ति होनेका नाम अन्यापोह है तो वस्तुस्वरूपको सिद्ध करने जब चलते है तो अन्यापोहका आश्रय लिये बिना सिद्ध नही किया जा सकता। तो यहाँ यह स्वभावान्तर व्यावृत्ति सिद्ध हुई और अन्यापोहका न मानना यह सिद्ध नही होता है। अन्यापोहके आलापका निराकरण स्वयमेव हो जाता है यह रहस्य वस्तुस्वरूपकी सम्हाल करते हुए मे अन्यापोहका सहारा लिया जानेसे स्पष्ट सिद्ध है। इस सम्बन्धमें अधिक प्रयास करनेकी जरूरत नही। वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करनेमे ही अन्यापोहकी सिद्धि हो जाती है। कुछ भी कहा जायगा द्रव्य, गुण, पर्याय किसी भी रूपको लिया जायगा तो वहा अनेक तत्त्व विदित होगे। और परस्पर एक दूसरेसे स्वभाव विभिन्न रखता है यह मानना ही होगा। और विशेष बात जाने दो, कुछ भी इष्ट तत्त्वकी कोई कल्पना करे तो उसमे अनिष्ट तत्त्वका अभाव है कि नही ? यदि अनिष्टका अभाव नही है तब इष्ट न रहा, किन्तु अनिष्ट बन गया। अत: प्रत्येक स्वरूपकी सिद्धिमे अन्यापोहका आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। यो अन्यापोहका याने अन्योन्याभावका उल्लघन करनेपर समस्त पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे। जब सभी सर्वात्मक हो गए, कोई एक भी सर्वात्मक हो गया तब स्वयकी कोई सत्ता न रही। यो अन्यापोह अर्थात् इतरेतराभाव न माननेपर अर्थात् इतरेतराभावका मना करनेपर सारा विश्व शून्य हो जायगा।

अत्यन्ताभावका अपन्हव करनेपर सर्वके सर्वात्मकताका प्रसग और इष्टतत्त्वकी असिद्धि—इतरेतराभावका लोप करनेपर सर्वात्मकता और शून्यताका प्रसग आता है। यह बात बताकर अब यह बतला रहे हैं कि अत्यन्ताभावके अपन्हव करनेपर क्या स्थिति होती है। कोई दार्शनिक परमार्थसे अत्यन्ताभाव को स्वीकार नही करते। तो जिन दार्शनिकोने अत्यन्ताभाव को नही माना है उनके सिद्धान्तमे फिर किसी पदार्थमें अन्य पदार्थके गुण क्यो न पा जायेंगे। जैसे जीवमे रूपादिक अन्य रूपसे क्यो न बर्तेंगे। क्यो बर्तेंगे यह बात सुनकर साख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि यदि किसी पदार्थमे कोई अन्य चीज रहती है तो रहो, हमारा तो सिद्धान्त है कि सब कुछ सब जगह मौजूद है। ऐसे प्रश्न के समाधानमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि यह नीति मान ली जाती है कि सब कुछ सब जगह रहता है तब इसपर अब डटे रहिये। मना न करना। देखिये—सब जगह सब कुछ सर्व प्रकारसे उपलम्भकी बात मानते हो सो अत्यन्ताभाव न माननेपर यह बात माननी ही पडेगी कि सब कुछ सब जगह सर्व प्रकार पाया ही जाता है। तो अब देखिये—ज्ञानादिक घटादिकमे कहाँ पाये जा रहे हैं यह बात स्पष्ट है उसका निराकरण नही कर सकते। घट पट आदिक अचेतन पदार्थोंमे ज्ञानानन्द आदिक कहाँ पाये जा रहे और आत्मामे रूपादिक कहा पाये जा रहे ? तो केवल कहने मात्रसे तो स्वरूप नही बनता। स्वरूप तो वह है जो वस्तुमें पाया जाय। कुछ भी चीज अपने स्वरूपकी तरह परस्वरूपसे भी पायी जाय तब कोई

स्वीकार करने वाली सत्ता ही ध्रौव्य है, ध्रौव्य रहेगी ध्रौव्य रही थी। ये सब विकल्प उस सन्मात्रमे भी लगाये जाना चाहिए और इस तरह फिर जैसे स्थितिमें विकल्प लगाये ऐसे ही पर्याय दृष्टिसे उत्पाद और व्ययमे भी विकल्प लगेंगे, और प्रत्येक लक्षण में त्रिकाल अपेक्षा घटित होगी, तब सन्मात्र द्रव्यमे भी ८१ विकल्पोके रूपकी उत्पत्ति होगी। वह सन्मात्र तत्त्व याने सत्ता जीवादिक अनेक भेदोंसे प्राप्त करती हुई जब जानी जा रही है तब वहाँ ये चारों रूप व्यक्त होते हैं। सत्त्व ही जीवादिक अनेक भेदोंको प्राप्त करती है, अतः द्रव्य है। सत्ता ही इन सब द्रव्योंको निवासित करती है, अतः क्षेत्र है। सत्ता ही पूर्व उत्तर पर्यायरूपसे प्रवर्तती है अतः काल है, सत्ता ही होती है, होती रहेगी, हुई थी, परिणामरूप, अतः सत्ता ही भाव है। यो चार प्रकार रूपमे भेदरूपसे जानी हुई सत्ता ही स्थिर रहती है, उत्पन्न होती है विनष्ट होती है विनष्ट होती थी, स्थिर रही थी, उत्पन्न हो रही थी, विनष्ट होती रही थी, स्थिर रहेगी। उत्पन्न होती रहेगी विनष्ट होती रहेगी। यह दृष्टि भेदसे सब घटित हो जाता है, इसके सम्बन्धमे स्पष्टरूपसे यह बताया गया है कि सत्ता समस्त पदार्थोंका समूह है और वह विश्वरूप है, अनन्त पर्याय वाली है। स्थिति व्यय और उत्पादसे लिक्षित है और सत्ता प्रतिपक्ष सहित है। कोई पदार्थ सत् है तो किसी दृष्टिसे वही असत् है अतः सप्रतिपक्ष माने बिना सत्त्वका निश्चय नही बनाया जा सकता। ऐसी वह सत्ता सप्रतिपक्ष होकर भी एक है जब उसमे किन्हीं विशेषोंका भेद नही किया जाता, उस स्वरूपकी दृष्टिसे एक है।

सन्मात्र तत्त्वके मन्तव्यमे भी इतरेतराभावका अपन्हव न किये जाने की अशक्यता—जब सन्मात्र तत्त्व है इतना कहनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वरूप वहाँ आवेंगे ही और तब उसमे अनन्त गुण, अनन्त पर्याय ये सब विदित होंगे तब प्रासंगिक बात उनमे यह समझना चाहिये कि वे सब गुण और पर्यायें परस्पर व्यावृत्त हैं। देखिये ! अन्यापोहका लक्षण सर्वत्र घटित होरहा है। अन्यापोहका अपलाप करनेपर फिर कोई भी अपना इष्टतत्व सिद्ध नही किया जा सकता। कुछ भी पदार्थ सत् है, ऐसा कहनेपर यह तो कहना ही होगा कि जिस कल्पनामें जिस भावमें, जिस दृष्टिमे सत् है उससे विपरीत अन्य दृष्टिमे वह असत् है। जैसे घड़ा है तो वह घड़ेके अन्वयरूपसे है, पर कपड़ा आदिक द्रव्यरूपसे नही है। यों सत्ता और असत्ता दोनोको स्वीकार किए बिना घड़ेका अस्तित्व नहीं रह सकता। तब सन्मात्र द्रव्य है ऐसा कहने वालेके यहाँ भी यह बात अनिवार्यरूपसे सिद्ध होगी कि वे अनन्त गुण पर्यायात्मक हैं। और जब अनन्तगुण पर्याय सिद्ध हो गए तो भेद दृष्टिमें, पर्यायार्थिकनयकी विवक्षामें वहाँ गुण पर्याय ये सब अनेक हो गए। हाँ द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें चू कि वह भेदकी विवक्षा नही करता अतएव वहाँ कुछ अवक्तव्य एक ही है। यो पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक है। अब उसमेसे पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे और द्रव्यार्थिकनयको गौण करके जब देखते हैं तो सभी पदार्थोंमें स्वभावान्तरकी व्यावृत्ति

धूम दर्शन होता है धूम स्वलक्षण से और धूम स्वलक्षणकी उत्पत्ति हुई है अग्नि स्व लक्षणसे तो परम्परासे अनुमानका विषय कारण ही रहा। यहाँ कोई ऐसा यदि सन्देह करता है कि यह एक कार्य अनुमान भी होता है याने कार्यरूप साधन देख कर के कारणरूप साध्यका ज्ञान करना और यह कार्यलिंग बनता है तब जब यह बोध होता है कि इस कारणके बिना यह कार्य नहीं हो सकता था। तो यो कार्य अनुमानमे अभाव कारण पड गया। ऐसा सन्देह यो न करना चाहिए कि भले ही किसी परपरा से कार्य अनुमानमे अभावकी कारणता आ गई लेकिन यह वास्तविक नहीं है, युक्तिसे असिद्ध है वहाँ पर भी भावस्वभाव स्वलक्षण ही कारण होता है। स्वभावानुभवमे भी अभावकी भावात्मकता आती है, जिसे लोग अभाव कहते हैं वह अभाव नहीं किन्तु भावस्वरूप है। अभावमे स्वभाव नहीं होता याने अभाव स्वभाव हेतु नहीं बन सकता। अब तीसरा हेतु होता है अनुपलब्धि सो वस्तुकी अनुपलब्धि बतानेसे कोई अभाव ग्रहणमें नहीं आता, किन्तु पर्युदास पद्धतिसे किसी वस्तुमे ही ज्ञानका नियम बनता है। यो अनुमान प्रमाणसे भी भाव विलक्षण अभावकी सिद्धि नहीं होती। सर्वथा ही अभाव अविषय रहता है। अनुपलब्धिका जो विषय है वह भी भावस्वभाव ही है, ऐसा ही अभाव है क्योकि किसी एकको केवलता बताना दूसरेकी विकलता कहलाती है। जैसे कोई कहता है इस कमरेमे घडा नहीं है, तो उसने जाना क्या? उस पृथ्वीकी केवलताको। खाली पृथ्वी ही देखो — इसीके मायने हैं घटका अभाव। तो वह अभाव भी भाव स्वभाव रहा। सर्वथा भाव विलक्षण अभाव कोई तत्त्व ही नहीं है। फिर अत्यन्ताभावकी सिद्धि कैसे होगी?

क्षणिकवाद प्रस्तुत अत्यन्ताभावपन्हवकी आरेकाका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमे कहते हैं कि बात तो कुछ ठीक कही जा रही है। तुच्छाभाव-रूप अभाव तो नहीं होता लेकिन किसी एक की केवलताका नाम दूसरेकी विकलता है। ऐसा कहने वाले क्षणिकवादी किसी भी रूपमे अभावका निर्णय नहीं करते हैं। यह आश्चर्यकी बात है। और, देखिये—स्वयं माना है अभाव। पर भोले शब्दोमें अभावके समर्थनका भय है। क्षणिक सिद्धान्तमे भी भावकी उत्पत्ति और अभावकी भी प्रतिपत्ति मानना तो बन ही गया स देखिये। ये क्षणिकवादी अनादि वासन से उत्पन्न हुए विकल्पमे सुनिश्चित किया गया यह तीन प्रकारका धम, कारण स्वभाव-और अनुपलब्धि ये भाव अभाव दोनोके आश्रित हैं। ऐसा स्वयं स्वीकार करते हैं याने परमार्थसे भाव और अभावकी प्रतिपत्ति मानते हैं। यो भाव और अभावकी जानकारी करनेमे अभावका मानना स्पष्ट सिद्ध हो जाता फिर भी अभावको जानकारीमें ये प्रकृत प्रश्न क्यो किए जा रहे हैं कि कसे अभावकी जानकारी होगी? यदि यह प्रश्न किया जा रहा है तो परमार्थसे ये दार्शनिक स्वस्थ नहीं हैं। अपने आपकी स्वच्छ बुद्धिमें ठहरे नहीं रहे क्योकि देखिए—जितने भी जो कुछ सत् है वे स्वरूपसे भावरूप और पररूपसे अभावरूप इस लक्षणसे खडे हुए हैं। जैसे कि जैनोंके पद जिनपर

इष्ट तत्त्व नहीं रहता है, क्योंकि इष्ट तत्त्वके माननेमें इतना तो मानना ही होगा कि यह अपना इष्ट तत्त्व किसी अनिष्ट पदार्थमें सत्य स्वरूपसे नहीं रह रहा है और तीन कालमें नहीं रहता है। इस तरह की बात तो माननी ही पड़ेगी। और, ऐसा मानने पर सिद्ध हो गया कि यह ही तो अत्यन्ताभाव है।

अभावग्राहक प्रमाणका अभाव होनेसे अत्यन्ताभावकी असिद्धिसे सम्बन्धित क्षणिकवादियोकी आरेका— अब इस प्रसंगमें क्षणिकवादी कहते हैं कि अत्यन्ताभाव कहाँसे मान लोगे ? जब अभावकी प्रतिपत्ति ही नहीं हो रही है, अभाव कोई विषय ही नहीं है तब फिर अभाव मान कैसे लिया जायगा ? सर्वथा भावलक्षण अभावका कोई ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं है, क्योंकि अभावका ग्रहण ही नहीं होता। अभाव विषयभूत पदार्थ ही नहीं है। प्रमाणका विषय तो भाव होता है, सत्तात्मक वस्तु होती है। असत् पदार्थ प्रमाणका विषय नहीं होता। प्रमाण होते हैं दो — प्रत्यक्ष और अनुमान। जिनमें प्रत्यक्ष तो रूपादिक स्वलक्षणको ही विषय करता है। जो रूपक्षण रसक्षण, ज्ञानक्षण आदिक स्वलक्षणमात्र सत् हैं उनको ही प्रत्यक्ष जानता है। प्रत्यक्षकी अभावमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष अभाव कारणक नहीं हो सकता। क्षणिकवादमें पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानी है। तो जिससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान उसको विषय करता है। जैसे कोई सन्देह करे कि कैसे जाना जाय कि यह घटका ज्ञान है ? तो कहिये ! घट पदार्थसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह घटका ज्ञान है। तो ज्ञान (प्रमाण) अर्थसे उत्पन्न होता है, किन्तु जो अभाव है वह असत् है उससे तो कोई ज्ञान और प्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकता अन्यथा खरविषाणसे ज्ञान उत्पन्न हो बैठे ! तो प्रत्यक्ष ज्ञान अभाव कारणक नहीं हो सकता और कदाचित् कोई ज्ञानको अभावकारणक मान ले तो अभाव फिर अभाव न रहा, वह स्वलक्षण बन गया, कोई क्षणिक सत् वस्तु परमार्थ हो गया, लेकिन अभाव तो परमार्थ नहीं है वह तो असत् है। तो ऐसा जो असत् है, अकारण है, अभाव है, जो ज्ञानका कारण ही नहीं बन सकता वह अविषय ही रहेगा, प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा विषयभूत नहीं हो सकता।

अनुमानसे भी अभावका अग्रहण होनेसे अत्यन्ताभावकी असिद्धिकी आरेका— अब दूसरे प्रमाणके सम्बन्धमें बात सुनो ! दूसरा प्रमाण है अनुमान। सो अनुमान भी अपने कारणको ही विषय करता है, अभावको विषय नहीं करता। तो अनुमान यद्यपि साक्षात् स्वकारणका विषय करने वाला नहीं है, तो भी परम्परासे अपने कारणको ही विषय करता है। जैसे —अग्नि स्वलक्षणसे धूम स्वलक्षण उत्पन्न होता है और उससे धूमका दर्शन होता है। धूम दर्शनसे धूमका विकल्प होता है और धूम विकल्पसे फिर अग्निका अनुमान होता है। तो देखिये ! अनुमानका कारण है धूमका विकल्प और धूमका विकल्प बना है धूमके प्रत्यक्ष ज्ञानसे, धूमदर्शनसे और

अभावके अनभ्युपगममे वस्तुसत्ताकी असिद्धि होनेसे क्षणिकवादमे तृतीय प्रमाणान्तर माननेकी अनिवार्यता- चूंकि किसी प्रकारसे अभाव माने बिना वस्तुकी सत्ता सिद्ध नही होती, तब क्षणिकवादियोको भी अभावकी त्रिविधिता स्वीकार करनी ही पडी और अभावका स्वीकार करना ही पडा अब अभावका प्रमेयत्व स्वीकार करनेपर प्रमाण दो हैं इस प्रकारका नियम नष्ट हो जाता है क्योकि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोने तो क्षणिकवादियोके अभावको ग्राहक माना तब अभावको ग्रहण करने वाला कोई अन्य प्रमाण मानना पडेगा। देखिये ! तुच्छाभाव प्रमाणका कारण नही माना सो प्रत्यक्ष और अनुमान नामक ज्ञानमे अभावकी ग्राहकता तो होगी नही। क्योकि प्रमाण और तुच्छाभावका तादात्म्य नही माना है और इसी कारण अभावसे प्रमाणकी उत्पत्तिके सम्बन्धका क्षणिकवादमें विरोध आता है। तुच्छाभावसे प्रमाणकी उत्पत्ति माननेपर वह तुच्छाभाव भाव स्वभाव ही बन बैठेगा। प्रमाण और नैरात्म्यका यदि सम्बन्धान्तर मानते हैं तब तो लिंगकी त्रिविधता का विरोध होता है। अर्थात् क्षणिकवादमे लिंग माने हैं तीन—कारण, स्वभाव और अनुपलब्धि। लेकिन अब यहाँ प्रमाण और तुच्छाभावके सम्बन्धमें कोई अन्य लिंग मानना पडा प्रमाण और नैरात्म्यका जब तीनो प्रकारोमेंसे कोई सम्बन्ध न रहा तब अन्य प्रमाणकी सिद्धि होवेगी ही। फिर दो प्रमाणोके नियमका विघटन कैसे न होगा। अर्थात् अब प्रमाण तीसरा मानना पडेगा जो अभावका ग्रहण करने वाला होगा।

अभावकी समझ किये बिना क्षणिकवादमे प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण की भी असिद्धि—अभावसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा एकान्त करनेपर प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी न बन सकेंगे क्योकि खुद क्षणिकवादियोने कहा है कि पदार्थसे अभावमें प्रत्यक्ष प्रमाणका अभाव होता है अतएव प्रत्यक्षमे प्रमाणता आती है व साध्यके साथ जिसका प्रतिबंध है ऐसे साधनको हेतु माननेपर भी ये दोनो बातें एक समान हैं। इस कथनमें अभावकी सिद्धि समझे बिना कुछ निर्णय न किया जा सकेगा। तब प्रत्यक्ष और अनुमानका भी निश्चय कैसे हो सकेगा ? परन्तु मानसिक जो अभाव ज्ञान है वह अपनी कारण सामग्रीमे उत्पन्न होता है और वह अभाव का परिच्छेदक है ऐसा माननेपर तो अभावका ग्रहण करने वाला कोई प्रमाणान्तर बन जायगा। तब प्रमाण प्रतिबन्धका नियम न रहा कि प्रमाण दो ही हैं। इस प्रकार अभावके अनभ्युपगम करनेपर ये समस्त दोष उपस्थित होते हैं। उस दोषको टालनेकी इच्छा रखने वाले दार्शनिकोंको यह मानना होगा कि जिस अभावकी प्रतिपत्ति होती है वह अभाव भी वस्तुका धर्म ही है। जैसे पदार्थका धर्म अस्तित्व है उसी प्रकार पदार्थका धर्म नास्तित्व भी है और उस अभावकी प्रतिपत्ति हुआ करती है। तब यह सिद्ध हुआ कि जो दार्शनिक केवल भावैकान्तको मानते हैं उनके यहाँ अपने इष्टकी भी सिद्धि नही हो सकती। अतः प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अन्योन्या-

कि पैर रखकर लोग चढ़ते हैं वे पद नसैनीके दोनों लम्बे काठों में बँधे हुए हैं। क्या कोई नसैनीका पद ऐसा भी हो सकता है कि जो एक काठमें बंधा हुआ हो ? तो नसैनीके पद अंशोंकी तरह समस्त पदार्थ भावस्वभाव और अभाव स्वभाव दोनोंसे प्रतिबद्ध है। पदार्थ सत् है तो वह स्वरूपसे सत् है, पररूपसे असत् है। स्वरूपादिककी तरह पररूपादिकके द्वारा भी अगर इष्ट तत्त्वका सद्भाव मान लेनेपर अपने इष्ट तत्त्वका विघात होता है।

अभावका अपन्हव करनेपर विज्ञानमात्र तत्त्वकी साधनाकी निरुपायता—विज्ञानाद्वैतवादियोंके यहाँ भी अभावका अपन्हव करनेपर उस विज्ञानाद्वैतको स्वरूपादिकके द्वारा जैसे सद्भाव माना है उस तरह पररूपादिकके द्वारा भी सद्भाव मान लेंगे। तो उसमें भेदरूपता आ जायगी अथवा वह रहेगा ही नहीं। पररूपादिके द्वारा जैसे ज्ञानाद्वैतका अभाव माना है इसी प्रकार स्वरूपादिकके द्वारा भी उस ज्ञानमात्रका अभाव माननेपर स्वयं उस इष्ट विज्ञानमात्र तत्त्वका विरोध हो जायगा। कोई भी प्रमाण सर्वात्मक रूपसे भाव अथवा अभावका ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। याने स्वरूपसे भी सद्भाव है और पररूपसे भी सद्भाव है, ऐसा माना जाता है तो भी वस्तुका स्वरूप नहीं बनता। असत् हो जायगा वस्तु। और, पररूपसे भी अभाव है तथा स्वरूपसे भी अभाव है ऐसा भी कहीं देखनेमें नहीं आता, और न ऐसा सर्वात्मक भावको कोई प्रमाण ग्रहण करता है। यदि कोई प्रमाण सर्वस्वरूपसे भाव और अभावको ग्रहण करने लगे तो पदार्थके प्रतिनियतता रह ही नहीं सकती कि यह घट ही है, कपड़ा आदिक नहीं है। इसको सिद्ध करनेका फिर कोई उपाय न रहेगा।

भावप्रमेयके एकान्तमें भावनियमप्रतिपत्तिका भी अभाव—और भी देखिए। क्षणिकवादियोंके यहाँ भाव ही प्रमाणका विषय बताया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण केवल स्वलक्षणको सद्भावको ही विषय करते हैं, इस प्रकार जो भावप्रमेयका एकान्त मानते हैं, अर्थात् प्रमेय है तो केवल भाव ही है ऐसा कहनेवाले एकान्तवादियोंके यहाँ अभावकी प्रतिपत्ति नय और प्रमाणसे रहित है। इस ही कारण भावकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा नियम नहीं बन सकता। कोई भी पदार्थ है तो उसका कथंचित् सिद्ध होगा ही। यदि किसी प्रकारका किसी पदार्थमें किसीका असत्त्व न माना जाय तो स्वभावकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती। घटमें पटकी असत्ता न मानी जाय तो कैसे व्यवस्था बनायी जा सकेगी कि यह पट ही है। तो पदार्थका सत्त्व कायम रखनेके लिए यह मानना होगा कि पदार्थ स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। जब इसके माने बिना स्वरूप व्यवस्था नहीं बन सकती तो सिद्ध हो गया ना, कि अत्यन्ताभाव है, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे। इस अत्यन्ताभावका निराकरण करनेपर फिर कोई भी वस्तु अपना स्वरूप नहीं रख सकती है।

अभावमें साधनके न होनेका नियम जिसमें पडा हुआ है ऐसे अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले साधनसे जब साध्यकी सिद्धि हो जाती है तो साधनका समर्थन बन ही गया ना। अब सपक्षसत्त्वकी वहाँ क्या आवश्यकता रही ? सपक्षसत्त्वके अभावमे भी जब सर्व पदार्थोंका अनित्य सिद्ध करनेमे क्षणिकवादी सत्त्वादिक हेतु देते हैं तो देखिये ! उन्होंने कुछ भी साधन माना है उसका सपक्षसत्त्व नही है। जब क्षणिकवादी यह अनुमान प्रयोग करते है कि सब अनित्य हैं सत्त्व होनेसे तो अब इसका सपक्ष वे बनायें क्योंकि सब कुछ तो पक्षमे अन्तर्भूत हो गया। सपक्ष बनानेके लिए अब कुछ भी न रहा। तो जब सपक्ष ही नहीं है तब उसमे साधनके सद्भावकी बात ही क्या ? तो यो सपक्षसत्त्वका अभाव होनेपर भी सबका अनित्य सिद्ध करनेमें जो सत्त्वादिक हेतु दिए गए हैं उनसे यह सिद्ध है कि क्षणिकवादियोने स्वय सपक्ष सत्त्व के अभावमे भी साधनका साध्यका साधक माना है। स्वय जहाँ धर्मी धर्म प्रसिद्ध है, विज्ञानाद्वैत की अपेक्षासे धर्मी और धर्म ये सिद्ध नहीं है क्योंकि धर्मी धर्म माननेपर वहाँ द्वैतका प्रसग आ जाता है। तो वहाँ पक्ष धर्म न होनेपर भी प्रमाणके अस्तित्वमे इस साधनको हेतुरूपसे दिया ही गया है और किसी किसी प्रयोगमे त्रिलक्षणके अभावका अभाव होनेपर भी हेतुरूप नही माना। जैसे कोई यह अनुमान बनाये कि यह मैत्रीका लडका श्याम है मैत्रीका लडका होनेसे तो इस हेतुका पक्ष सत्त्व भी है, सपक्ष सत्त्व भी बन सकता है, विपक्ष व्यावृत्ति भी बन सकती है. लेकिन इस अनुमान प्रयोगमे साधनका अन्यथानुपपत्ति नही है, तो अन्यथानुपपत्तिका नियम न होनेसे देखो यह हेतुरूपसे नही माना गया। अत. अन्यथानुपपत्ति ही साधनका सही लक्षण है और ऐसे हेतुसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। त्रिलक्षणताकी कल्पना करना व्यर्थ है।

शून्यवादके मन्तव्यमें विडम्बनाका वर्णन – अब यहाँ माध्यमिक क्षणिकवादी कहते हैं कि साधन और दूषणका प्रयोग शून्यवादियोके यहाँ परमार्थसे सिद्ध नही है जिससे कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कोई सद्भूत वस्तु परमार्थसे सिद्धकी जाय। और असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि की नही जा सकती, यदि असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि की मानी गयी तो इसमें अनेक विडम्बनायें बन जायेगी। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह भी सब बिना विचारे कहा गया है। क्योंकि यदि परमार्थसे नैरात्म्यक सिद्धि नही मानी जा रही है तो अशून्यवादमे दूषणता भी नहीं दिया जा सकता। जब वास्तवमे हेतु अनुमान साधन आदिक माने ही नहीं गए हैं तो वास्तवमें शून्यवादकी सिद्धि भी नही बन सकती। देखिये ! कल्पना मात्रसे साध्य साधनकी व्यवस्था करना युक्तिपूर्ण नही है। यदि साध्य साधनकी व्यवस्था कल्पनासे की जाती है तब तो वह मिथ्या है और मिथ्या साध्य साधनसे कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती या किसीके मतव्यमे दूषण नही दिया जा सकता। और, यदि शून्यवादको परमार्थ मानते हो तो शून्यवादमें परमार्थता माननेपर केवल साधन सिद्धि ही कल्पित न बनेगी, किन्तु नैरात्म्य (शून्यवाद) भी कल्पित बन जायगा, क्योंकि काल्पनिक साधनसे वास्तवमे सिद्धि

भाव और अत्यन्ताभावके रूपके प्रभावकी व्यवस्था भी नहीं हो होगी। सब पदार्थ केवल सद्रूप ही न रहा, सद्सदात्मक सिद्ध होता है। अब समन्तभद्राचार्य भावैकान्त पक्षमें दूषण बताकर अभावैकान्त पक्षमें भी बाधा बतलाते हैं।

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥१२॥

अभावैकान्त माननेपर स्वेष्ट तत्त्वकी सिद्धिकी निरूपायता—अभाव का एकान्त स्वीकार करनेपर उसका अर्थ यही तो हुआ कि भावका अपह्नव किया गया अर्थात् अस्तित्व माना ही नहीं। कोई पदार्थ सद्रूप न रहे तो भावका अपह्नव करने वाले शून्यवादियोंके यहाँ ज्ञान, वाक्य, प्रमाण ये नहीं बन सकते। फिर किसके द्वारा साधनमें दूषण दिया जा सकेगा? सर्व शून्यवादियोंने अपने शून्यवादकी ऐसी प्रतिज्ञा की है कि जिस एकत्व अनेकत्व स्वभावसे भावोंका निरूपण किया जाता है वस्तुतः वह स्वरूप नहीं है। जिससे कि एक और अनेक रूप उन भावोंमें नहीं घटित होता है। इस तरह सर्वका शून्य है ऐसी प्रतिज्ञा करना सो अभाव एकान्तका पक्ष है। उस अभाव एकान्तके पक्षमें भी जो अपने अर्थका साधन और दूषण रूप बने ऐसे ज्ञान का और वाक्यका वहाँ होना सम्भव ही नहीं है। न तो दूसरेके साधनमें दूषण दिया जा सकता है और न अपने साधनमें कोई युक्ति दी जा सकती है। तब फिर कुछ प्रमाण ही न रहा, फिर कैसे प्रमाणके द्वारा नैरात्म्यकी सिद्धि की जायगी। न तो अपने समझनेके लिए नैरात्म्य सिद्ध किया जा सकता न दूसरेके समझनेके लिए नैरात्म्यकी सिद्धि की जा सकती। भला बतलाओ—जो भावको अपह्नव करता है, केवल अभावको ही तत्त्व मानता है वह किस वाक्यके द्वारा दूषण दे सकेगा। यदि कोई भी दार्शनिक अपने पक्षका साधन मानता है और परपक्षको दूषण देना मानता है तो उसके मन्तव्यमें साधनकी सिद्धि बराबर सिद्ध होती है।

अभावैकान्तमें स्वपक्षसाधन व परपक्षदूषणकी अशक्यता—अब इस तरह भी देखिये कि वस्तुतः सभी पदार्थ सत् हैं। बाह्य पदार्थ और अन्तरङ्ग ज्ञान पदार्थसे सब परमार्थतः सत् हैं, क्योंकि उन सब पदार्थोंमें से किसी एकका भी अभाव किया जाय, बाह्य पदार्थ न माना जाय या अन्तः ज्ञान पदार्थ न माना जाय तो साधन और दूषणका प्रयोग करना बन ही नहीं सकता। यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि इस अनुमानसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृत्ति का अभाव है, सो बात नहीं कह सकते, क्योंकि जब एक युक्तिसे प्रकृत अर्थकी जानकारी पूर्ण रूपसे बन जाती है तब हेतुमें त्रिलक्षणकी कल्पना करनेसे लाभ क्या है? देखिये सपक्षसत्त्व न होनेपर भी केवल एक ऐसे हेतुसे जिसमें कि यह नियम निर्णीत हुआ है कि साध्यके अभावमें नहीं हो सकता तो साध्यके

की पुष्टिमें केवल प्रलाप भर करते हैं। सत्वका सर्वथा उपप्लव नहीं हो सकता है।

कल्पनासे सद्वादकी हेयता व शून्यवादकी उपादेयता माननेका व्यर्थ व्यामोह—अब यहां शंकाकार कह रहे हैं कि कल्पनासे हेय सद्वादको मान लिया गया है और उपादेय शून्यको मान लिया गया है। तथा हेयका निषेध और उपादेयका विधान इन दोनोंका उपाय भी मान लिया है। कल्पनासे ये सब बातें सिद्ध कर ली जायेंगी। तब तो शून्यवादके मन्तव्यमें निलज्जताका दोष या केवल प्रलाप मात्र या एक किसी गुस्सामें आकार सर्व-अपलाप करने वाली बुद्धि न बनेगी, वह दोष न आयगा। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि फिर तो इस ही पदके अर्थपर विचार करिये कि 'कल्पनासे है' इतने पदका अर्थ क्या है। कल्पनासे है क्या इसका तात्पर्य यह है कि स्वरूपसे है या पररूपसे नहीं है यह अर्थ है या स्वरूपसे है पररूपसे नहीं य दोनों बातें हैं अथवा दोनों ही बातें नहीं हैं ? इन विकल्पोंका विश्लेषण करनेपर विदित होगा कि यह सब स्याद्वादके अनुकूल ही कहा जा रहा है।

"कल्पना है" इसके अर्थरूप चार विकल्पोंमें स्याद्वादके अनुसरणकी झलकका विवरण—उक्त चार विकल्पोंमेंसे यदि कल्पनासे है इतने वाक्यका अर्थ यह किया जाता कि स्वरूपसे यह पदार्थ है तब तो यह बात स्याद्वाद शासनके अनुकूल ही है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है। फिर तो वे वक्ता केवल अपनी हठ ही सूचित कर रहे हैं जो कि सर्वोत्तम है इसका अर्थ स्वरूपसे है मानकर फिर भी शून्यवादकी रट लगाये जा रहे हैं। न्यायके बलसे जो बात निरस्कृत हो जाती है, खण्डित हो जाती है उसका यदि प्रलाप किया जाय, जिसमें अपने मतव्यकी सिद्धि कुछ भी न होती हो ऐसा प्रलाप एकमात्र धृष्टता ही है। स्वरूपसे अस्तित्वका तो स्याद्वादियोंने समर्थन किया है सम्वेदनकी तरह। सर्वभाव स्वरूपसे हैं। जैसे कि सम्वेदनवादी इतना तो कह ही लेते हैं कि सम्वेदन अपने स्वरूपसे है। तब देखो कि क्षणिकवादियोंने भी उस स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुकूल अब निर्णय करनेको ओर आनेकी ठान ली है। यदि कल्पनासे है इसका अर्थ यह किया जाय कि पररूपसे नहीं है, द्वितीय विकल्प माना जाय तो यह भी बात स्याद्वादियोंके अनुकूल है। जैसे कि प्रथम विकल्पमें स्वरूपसे अस्तित्वकी बात स्याद्वादके अनुकूल रही। अब केवल नाममें ही विवाद रहा। अर्थमें विवाद न रहा। तात्पर्य तो यह ही हुआ कि प्रत्येक पदार्थ पररूपसे नहीं है। अब इसे शून्यवाद कहो कुछ शब्द कह लिया जाय तो ऐसे अर्थको मानकर फिर किन्हीं भी शब्दोंसे कहो—केवल नाममें ही विवाद रहा। यह द्वितीय विकल्प भी प्रथम विकल्पकी तरह अनुकूल है। अर्थात् जैसे पदार्थ स्वरूपसे है, इस बातमें कोई बाधा नहीं है इसी प्रकार पदार्थ पररूपसे नहीं है इस मन्तव्यमें भी कोई बाधा नहीं आती। ऐसे सम्वेदनवादियोंको भी यह मानना पड़ता है कि उसमें ग्राह्य ग्राहकके अभाव की विकल्पना है और ग्राह्य ग्राहक भावका अस्तित्व है। तो जैसे वह ग्राह्य ग्राहक

नहीं बन सकती। शून्यवाद है, यह क्या वास्तविक बात है। शून्यवादकी वास्तविकता यदि काल्पनिक साधनसे सिद्ध करते हो तो काल्पनिक साधनसे शून्यवादकी वास्तविक कल्पना सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कहो कि शून्यकी सिद्धि वास्तविक नहीं है तब फिर पदार्थोंके सद्भावका निराकरण न किया जा सकेगा, क्योंकि शून्यसिद्धिको तो अपरमार्थ मान लिया याने शून्य परमार्थ नहीं है। तो अर्थ यही हुआ कि अशून्य है। पदार्थों का सद्भाव वास्तविक है तब तो सब पदार्थोंकी शून्यता की सिद्धि नहीं बन सकती। अर्थात् अतस्तत्त्व ज्ञानस्वरूप और बाह्यतत्त्व ये समस्त पदार्थ वास्तविक है इनमे शून्यताका दोष नहीं आता। और जब सभी पदार्थोंकी अशून्यता सिद्ध हो जाती है तब शून्यका साधन करना विरुद्ध बन जाता है।

अभावैकान्तपक्षमे विज्ञानाद्वैतकी असिद्धि—विज्ञानमात्र तत्त्वमे ज्ञानस्वरूपका वेद्य वेदकभाव नही है, तो वेद्य वेदक भाव न होनेसे यदि यह कह दिया जाय कि विज्ञानकी गति तो स्वतः होती है, याने ज्ञानकी जानकारीके लिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, तो यही बात समारोपके व्यवच्छेदमें भी कही जा सकती है तब साध्य साधनकी व्यवस्था कल्पनामात्रसे क्यों नही हो जाती ? वहाँ भी सब कल्पनामे मानना होगा। जब कि शून्यवादका साधन एक कल्पनामात्रसे मान लिया जाता है तो कुछ भी बात कल्पना मात्रसे मान ली जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो लोग अभावका एकान्त करते हैं, मात्र एक अभाव ही तत्त्व है, सद्भाव कुछ भी नही है तो जब कुछ है ही नही तो इसके मायने यह हुआ कि वाक्य भी नही है, ज्ञान भी नही है, प्रमाण भी नहीं है। तो दूसरेको समझावेंगे किस तरह कि शून्यवाद ही तत्त्व है और स्वय भी जानेंगे किस तरह कि शून्यवाद भी तत्त्व है। तो अभावका एकान्त माननेपर शून्यवाद का साधन नही बन सकता है और भाववादका दूषण देनेमें न कोई प्रमाण बन सकता है और न कोई वाक्य बन सकता है।

शून्यवादकी अन्त स्वीकारता न होनेपर भी शून्यवादकी व्यर्थ पुकार
किसी भी प्रमाण या साधनसे परमार्थेन नैरात्म्य ज्ञानका व्यवच्छेद मान लिया जाय तो इस स्थितिमे साध्य साधनकी व्यवस्था काल्पनिक न रहेगी और नैरात्म्य ज्ञानके व्यवच्छेद होनेसे जो अपरमार्थ मान लिया जाय, साम्प्रतिक स्वीकार किया जाय तब तो फिर वहाँ नैरात्म्य ज्ञानका निराकरण न हो ऐसे बाधक बाधक भावसे शून्य उस नैरात्म्य ज्ञानकी उस सम्वेदन मात्रकी स्वतः भी गति नहीं बन सकती और तब बहिस्तत्त्व और अन्तस्तत्त्वकी अशून्यता हो जाती है तब देखिये ! कि ये शून्यवादी हेय उपादेयसे रहित बातोंको केवल पुकारते ही है। उनकी दृष्टिमें हेय तो है अतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व तथा उपादेय है नैरात्म्य याने कुछ स्वरूप न आये कोई मुद्रा ही न बने, ऐसा सम्वेदन मात्र। इस प्रकार हेय उपादेय रहितरूपसे केवल शून्यवादी एक पुकार ही करता है उनका सिद्धान्त सिद्ध नही होता है। जैसे कि तत्त्वोपप्लववादी अपने सिद्धान्त

किसी निर्णीत प्रमाण आदिक तत्वका आश्रय करके ही तो अनिर्णीत अर्थमें विचार चला करता है। जहां सभी बातोंमें विवाद है प्रमाण तत्व भी नहीं, साधक वचन भी नहीं कुछ भी नहीं है, जहां सर्वत्र ही विवाद है वहां तो विचारणा भी नहीं चल सकती। तब देखिये! कैसी मोहमहा मदभरी चेष्टा है, शून्यवादानुयायियोंकी कि विचारका अभाव मानते हैं। सो जहां विचार तो कुछ चल ही नहीं रहा है और दूसरे शिष्यादिकको समझानेके लिए उस विचारका प्रतिपादन किया जा रहा है, शास्त्रका उपदेश करते हुए उपदेष्टाका वर्णन किया जाया करता है अपने गुरुपरम्पराकी वन्दना किया करता है। तो रहा क्या? उन्होंने तो सब कुछ ही निराकृत कर दिया। विचारका अभाव होनेसे किसी भी अंगका समर्थन नहीं, तब क्यों न मोहमदभरी यह चेष्टा कही जाय? स्वयं उपदेश किए गये, विचारका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रादिक को जो निराकृत करता है; विचारे ही नहीं, वह कैसे न अविवेकमत्त कहा जाय?

अभावैकान्तपक्षी शून्यवादियोंके सिद्धान्तमें माया, स्वप्न, भ्रम आदि सकल योजनाओंकी असिद्धि—यहां शंकाकार कहते हैं कि देखिये! समस्त भाव अर्थात् पदार्थ किसी मायाकी तरह हैं, स्वप्नकी तरह है, इस प्रकारका क्षणिकवादियों के गुरुवोंका उपदेश बराबर मौजूद है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि क्षणिकवादी सबका ही निराकरण कर रहे हैं और ये उन्मत्त होंगे, इसके समाधानमें कहते हैं कि अहो देखिये! इन शून्यवादियोंका यह मनका बुद्धिका विरोध, अपराध इस समस्त लोकका उल्लंघन कर गया। सो कैसे कर गया? इसमें बड़े आश्चर्यकी बात लग रही है। और, फिर भी ये शून्यवाद कहकर, सबका निराकरण करके भी अपने गुरुवोंका कीर्तन करते हैं। तो इस सम्बन्धमें एक मोहनीय कर्मके तीव्र विपाकके सिवाय और क्या कारण कहा जा सकता है? जहां विचार नहीं, प्रमाणादिक तत्व नहीं, अंतस्तत्व बहिस्तत्व नहीं वहां उपदेशको परम्परा बताना और ऐसे उपदेष्टाओंका अभिनन्दन करना यह चेष्टा केवल एक अपने पक्षव्यामोहवश ही हो सकता है। शंकाकार कहता है कि स्वप्नादिकमें होने वाले भ्रमकी तरह ये आचार्य पुरुष उपदेष्टा आदिक भी सब भ्रान्त हैं, इनका भी विभ्रम ही है, इस कारण दोष नहीं दिया जा सकता। जैसे कल्पनासे नैरात्म्य ज्ञानकी सिद्धि करते हैं वो ही कल्पनासे ये आचार्य आदिक भी माने गये हैं, तब तो कोई दोष न होगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि फिर तो जरा यही बता दो कि विभ्रममें भी क्या अविभ्रम है या विभ्रम? यदि कहो कि भ्रममें भ्रम नहीं है, तो फिर यह कथन तो सही न रहा कि सबका विभ्रम हो गया है। लो भ्रमका तो विभ्रम नहीं हुआ। यदि कहो कि विभ्रममें भी विभ्रम बना हुआ है तो इसका अर्थ क्या हुआ? विभ्रममें भ्रम है याने भ्रम सत्य नहीं है भ्रम है यह बात प्रमाणीक है तो अर्थ यह है कि भ्रम नहीं है, कोई तथ्यकी बात है। भ्रममें भी भ्रम मान लेनेपर अर्थ यह होगा कि सर्व जगह कहीं भी भ्रम नहीं है। भ्रम खुद भ्रमरूप है। जैसे कोई कहे कि उसे तो इस बातमें सन्देहका ज्ञान हो रहा है और यह कह देवे

भाव सम्वेदनमें पररूप माना है और उस पररूपसे रहित सम्वेदनको बताते हैं तो ज्यों सम्वेदनमें पररूपसे नास्तित्वकी बात ज्ञानमात्र अद्वैतवादी कहते हैं, तो यों ही समस्त पदार्थोंके पररूपसे नास्तित्वका समर्थन करना चाहिए कि समस्त पदार्थ पररूपसे नहीं हैं। इसमें किसी भी प्रकारका विवाद नहीं है। इस कारण याने जब स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत्त्वकी बात सिद्ध हो रही तो उभय और अनुभयका विकल्प भी यथार्थ समझ लेना चाहिए। जब संवृत्तिसे है इसका अर्थ स्वरूपसे है, कर लिया गया, और उसमें कोई विवाद न रहा और सम्वृत्तिसे है, इसका अर्थ पररूपसे नहीं है यह कर लिया गया और इसमें भी बाधा नहीं है। तो इस ही प्रकार यदि संवृत्तिसे है इसका अर्थ यह किया जाय कि स्वरूपसे है, पर रूपसे नहीं है। तो इसमें भी किसी भी प्रकारका विवाद नहीं है। यह तृतीय विकल्प भी समर्थित होता है। अब यदि चौथे विकल्पकी बात लोगे कि अनुभयरूपसे है पदार्थ यह है "कल्पनासे है" इस वाक्यका अर्थ तो इसमें भी कोई विवाद नहीं है। एक साथ दोनों दृष्टियोंसे बात देखी जाय तो वह अवक्तव्य होती है। अनुभय है वह, इस बातका आगे समर्थन किया हो जायगा। अब यहाँ शंकाकार कहते हैं कि हेय उपादेयका ज्ञान संवृत्त्यात्मकरूपसे है इसका अर्थ यह है कि हेयोपादेय ज्ञान मृषात्मक रूपसे है, कल्पनात्मकरूपसे है। तो उत्तरमें यही कहना पर्याप्त है कि इसकी भी चर्चा उन चार विकल्पोंमेंसे कर लीजिए। मृषात्मक रूपसे है इस मन्तव्यका क्या स्व, पर, उभय, अनुभय रूपसे सत्त्व है, इन चार विकल्पोंमें वह निराकृत हो जाता है। स्वरूपसे है, पररूपसे है, उभयरूपसे है या अनुभयरूपसे है। इस तरहके विकल्पोंमें उक्त कथनकी भाँति यह कथन दूषित हो जाता है कि हेय उपादेयका ज्ञान केवल कल्पनासे माना गया है।

विचारानुपपत्तिरूप संवृत्तिलक्षणकी अयुक्तता होनेसे शून्यवादकी असंगतता—यहाँ शून्यवादी कह रहे हैं कि हमारे मन्तव्यका आधार यह है कि सब कुछ कल्पनासे माना गया है और कल्पना कहा है विचारकी अनुपपत्तिको। जहाँ कोई विचार ही उत्पन्न नहीं होता वह है सम्वृत्ति। इसके समाधानमें कहते हैं कि शून्य-वादियोंका यह सिद्धान्त अयुक्त है क्योंकि विचारका ही अभाव है शून्यवादमें। जब विचारका ही अभाव है तो किसी पुरुषने किसी मन्तव्यका विचारसे अनुपपत्ति बताना यह बात कही नहीं जा सकती। कोई बात हो तब उसको कहा जाय कि किसी जगह किसीके उसकी उपपत्ति नहीं है। किन्तु जो है ही नहीं, विचार है ही नहीं तो विचारके अभाव होनेपर किसी पुरुषसे यह कहना कि विचारके द्वारा अनुपपत्ति है यह केवल अविवेकपूर्ण कथन है क्योंकि शून्यवादीके सिद्धान्तमें तो कुछ भी निर्णीत नहीं है। जिसका आश्रय करके किसी अन्य जगह अनिर्णीत अर्थमें विचार लगाया जाय क्योंकि शून्यवादीके तो सर्वत्र ही विवाद है। विचार किसी अनिर्णीत अर्थमें अगर चलता है तो प्रमाण आदिक तत्त्वका कौन तो सहारा लेकर चलेगा? प्रमाण प्रत्यक्ष हो, अनु-
मान कोई प्रबल ज्ञान हो, जिसकी समीचीनताका पहिलेसे निर्णय कर रखा हो तो

कथन युक्तिसंगत नहीं है । यदि स्याद्वादका आलम्बन न लिया जाता तो विरोध उस ही प्रकारसे अवस्थित रहता है । हाँ 'प्रधानाद्वैत' माननेमे उभय एकान्त माना गया नहीं कहलाता है । तो इस प्रकार स्वयं न मानते हुए भी उन्हें भी कथञ्चित् उभयात्मक तत्त्ववादकी बात माननी ही पडेगी । प्रधान व्यक्त भी है, अव्यक्त भी है । अब परिणामकी अपेक्षा व्यक्त है और स्वयके स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्त है । तो यही तो स्याद्वादियोंका आलम्बन हुआ । पदार्थोंमे भी जो स्याद्वादका आलम्बन किया जाता है-वह यद्यपि उत्पादव्ययकी दृष्टिमे है, लेकिन पद्धति यह ही है । प्रत्येक पदार्थ पर्यायकी दृष्टिसे व्यक्त है, अनित्य है, और स्वरूपकी दृष्टिसे वह व्यक्त नहीं है तो इस प्रकारका अनुसरण तो स्याद्वादमें ही बनता है । स्याद्वादकी पद्धति अपनाये बिना फिर तो इच्छानुसार उनकी बात रह जायगी । कभी महत् आदिकको व्यक्त कह दिया जायगा । कभी प्रकृतिके स्वरूपको अव्यक्त कहा तो कभी व्यक्त भी कह दिया जायगा, इस कारण यह उभय एकान्त भी सिद्ध नहीं होता । भावैकान्तमे तो अभावका अपन्हव कर दिया जानेकी बात नहीं बनती । स्वपक्ष सिद्ध और परमत दूषण भी अभावका अपन्हव करने वालेके यहाँ नहीं बनता । इसी प्रकार अभाव एकान्तमे भी भाव न माना जानेसे इस पक्षकी भी सिद्धि नहीं बनती । और, कोई दार्शनिक भावाभावात्मक पदार्थ भी मान लें और मानें सर्वरूपसे कि स्वरूप और पररूप दोनोंसे ही तो सत् है और स्वरूप पररूप दोनोंसे ही असत् है । तो एक ही दृष्टिमे परस्पर विरुद्ध दो धर्म एकमे कायम नहीं रह सकते क्योंकि भाव अभावके परिहार पूर्वक रहेगा और अभाव भावके परिहार रहेगा । इस तरह उभय एकान्त भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता । उसमें भी अनेक विरोध हैं । यो तीन पक्ष न रहे, न भाव एकान्त रहा और न उभय एकान्त रहा और न अभाव एकान्त रहा । और किसी तरह अनुभय एकान्त भी नहीं रहता, इस बातका अब वर्णन करेंगे ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

अवाच्यताके एकान्तमे अवाच्यत्व कहनेका भी अनवसर—अवाच्यताका एकान्त करनेपर अवाच्य है इस प्रकारका वचन भी लग नहीं सकता । पहिले भावैकान्त, अभावैकान्त और उभयैकान्तका निराकरण करके यहाँ अनुभय एकान्तका निराकरण किया जा रहा है । अनुभयका अर्थ है दोनो नहीं । और जब दोनो नहीं है तो उसका तात्पर्य यह निकाला कि अवक्तव्य है । तो ऐसा अवक्तव्यका एकान्त करने पर फिर तो 'यह अवक्तव्य है' इस प्रकारसे भी वक्तव्य न होगा । क्षणिकवादी दार्शनिकोंमेसे कोई दार्शनिक उक्त तीन पक्षोमे दिये गए दोषको हटानेकी इच्छासे कि जब भावैकान्तमे दोष है अभावैकान्तमें दोष है और उभयैकान्तमे भी दोष है तब तत्त्व यह मानना चाहिए कि तत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है । यो जो क्षणिकवादी अवक्तव्य तत्त्वका आलम्बन करते हैं वे भी अवक्तव्य हैं, ये इतना भी कैसे बोल सकेंगे जिससे कि उनके

प्रधान पुरुष सिद्धान्तानुयायियोंके भी उभयैकान्तकी असिद्धि—उभय एकान्तके निराकरणके प्रकारवत् सांख्योंका भी उभय एकान्त प्रमाणसिद्ध नहीं होता है। किसीको नित्य ही मानना व किसीको अनित्य ही मानना सो उभय एकान्त है। सो वे उभय एकान्तको कहते हुए तीन लोकको याने समस्त पदार्थोंको महत् आदिककी अभिव्यक्तिसे तिरोहित कर देते हैं, निराकृत कर देते हैं, क्योंकि अब ऐसा माननेमें नित्यत्वका प्रतिषेध हो जाता है। जहाँ अभिव्यक्तिवाद कहा गया है और प्रलय वाद भी बताया गया है तो अभिव्यक्ति और प्रलयके माननेमें परिणामसे नित्यत्व नहीं ठहरता। और, इसी प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि जो नष्ट हो रहा है वह सर्वथा नष्ट नहीं हो रहा। कथंचित् नित्य है, क्योंकि विनाशका प्रतिषेध है। जो पदार्थ मूलतः है उसका कभी विनाश नहीं होता। सांख्यसिद्धान्तके अनुयायी जन भी कहते हैं कि भूतोंका विलय तन्मात्राओंमें होता, तन्मात्राओंका विलय अहंकारमें होता, अहंकारका विलय महानमें और महानका विलय प्रधानमें होता। तो यों प्रधान तो बराबर रहा उसका तो लोप नहीं किया जा सकता। तो कोई भी पदार्थ जड़से नष्ट नहीं हो सकता। चाहे अभिव्यक्तिवाद हो, चाहे उत्पत्तिवाद हो, सभी जगह मूलभूत पदार्थको रक्षा माननी ही होगी। तब यह मानना पड़ेगा कि तिरोभूत और प्रकट हो जाता है इस तरह माननेमें आखिर किसी भी तरह घूमकर डोलते हुए भी स्याद्वादका सहारा लेना ही हुआ। जैसे कोई सर्प भरा होता है तो यहाँ-वहाँ घूम भ्रमण करके आखिर बिलमें प्रवेश करता ही है, इसी प्रकार किसी भी तरह एकान्तमें बुद्धि लगायी हुई दार्शनिकोंने लेकिन तत्त्वकी सिद्धि स्याद्वादका आलम्बन लिए बिना हो नहीं सकता, सो आखिर किसी न किसी रूपमें स्याद्वादका आलम्बन लेना ही पड़ा। तीन लोक याने समस्त पदार्थ महत् आदिक व्यक्त रूपसे तो अपेत हैं अर्थात् तिरोभूत होते हैं और अव्यक्त स्वरूपसे उनकी सत्ता बराबर कायम रहती है और ऐसा खुद माना भी है कि इस प्रधानके दो रूप हैं। व्यक्त और अव्यक्त। तो प्रधानके जो परिणाम होते हैं वे तो हुए हैं व्यक्त और स्वयं मूलमें जो अपना स्वभाव है वह है अव्यक्त। स्पष्टरूपसे कहा है सांख्य सिद्धान्तमें कि "कारणवाला, अनित्य, अव्यापक, क्रियावान" अनेक दूसरोंके आश्रय रहने वाले, चिह्नरूप, अवयव सहित, परतंत्र तो व्यक्त होता है याने महत् अहंकार आदिक तत्त्व इन विशेषणोंसे युक्त होते हैं और, प्रधान उनसे विपरीत है और वह अव्यक्त होता है।

प्रधान तत्त्वमें भी कथंचिद् व्यक्ताव्यक्तात्मकता अनिवार्य होनेसे स्याद्वादके अनुसरणकी अनिवार्यता—शंकाकार कहते हैं कि 'परमार्थसे व्यक्त और अव्यक्तमें अपना अपना एकत्व है अतः सांख्योंके सिद्धान्तमें स्याद्वादका आलम्बन नहीं आता'। ऐसा शंकाकार कह रहा है याने परमार्थ यह बताया कि कोई तत्त्व अव्यक्त है। एक हीका व्यक्त और अव्यक्तरूप विवक्षासे नहीं कह रहे हैं फिर स्याद्वादियोंका आलम्बन सांख्य सिद्धान्तमें कैसे आ जायगा? इसके समाधानमें कहते हैं कि यह

अवक्तव्यका एकान्त नहीं बन जाय । और यह अवक्तव्य है यह कथन भी बन जाय । तो अवक्तव्यका एकान्त करनेपर अर्थात् तत्त्व किन्हीं भी शब्दोंमें कहा ही नहीं जा सकता, ऐसा पक्ष माननेपर फिर यह कहा ही नहीं जा सकता कि यह अवक्तव्य है । सो अनुभय एकान्तमें 'तत्त्व अवाच्य है" यह कथन न घटित होगा । और जब तत्त्व अवाच्यपनेकेरूपसे भी वाच्य न हो सकेगा तब फिर दूसरेको अपना इष्ट तत्त्व समझाया ही कैसे जा सकेगा क्योंकि दूसरेको समझा देना अपने ज्ञानसे नहीं होता । उनको समझानेके लिए तो शब्द, पद, वाक्यका ही सहारा लेना होगा । कोई यह सोचे कि तुम तो जान गए उस अवक्तव्य तत्त्वको तो तुम्हारे ज्ञानके द्वारा दूसरे शिष्य भी समझ लेंगे सो शिष्योंको समझाना तुम्हारे ज्ञानके द्वारा न होगा, किन्तु उस ज्ञानमें आयी हुई बात का प्रतिपादन कर सकने वाले शब्द वाक्य बोले जायेंगे तब दूसरोंका समझना बनेगा । सो अवक्तव्यके एकान्तमें जब अवक्तव्य है तत्त्व, इतने भी शब्द न बोल सकेंगे तो दूसरा कोई समझ न सकेगा ।

बिना परीक्षाके तत्त्वको मान लेनेपर सबके मन्तव्यको बिना परीक्षा के ही मान लेनेका प्रसंग—जब कोई दूसरा अनुभय तत्त्वको समझ ही न सका तो फिर क्षणिकवादियोंकी परीक्षकता कैसे सिद्ध होगी ? याने ये दार्शनिक परीक्षक हैं, भली प्रकार सोच समझ करके, निर्णय करके इसने तत्त्वको माना है यह बात कैसे समझमें आयगी ? और जब कोई यह न जान पायगा कि ये क्षणिकवादी परीक्षक हैं या इनकी अपरीक्षकता सिद्ध होनेपर कि यह कोई समझकर परखकर निर्णयकर कहने वाले नहीं हैं किन्तु ये सभी स्वयं बिना निर्णयके हैं । ऐसी अपरीक्षकता इनकी सिद्ध होनेपर फिर अन्य अल्पज्ञजनोंसे उन क्षणिकवादी वक्ताओंमें विशेषता क्या रहेगी ? बिना परीक्षा किए हुए तत्त्वको ही मान लिया जाय तब तो सब निरंकुश हो जायेंगे । जो भी दार्शनिक जो कुछ भी कहेंगे वही सत्य है यही निर्णय देना होगा क्योंकि तत्त्व की परीक्षा किए बिना, युक्ति आदिकसे परख किए बिना जब तत्त्वको मान लिया गया जैसे कि अवक्तव्य तत्त्व है इसकी परीक्षाका कोई उपाय ही नहीं बनता, इस तत्त्वकी परीक्षा ही नहीं बनती और फिर भी इसको मान लिया गया । तब तो सभी दार्शनिकों का मन्तव्य मान लेना होगा, किसीका भी निराकरण न किया जा सकेगा ।

अवाच्यतैकान्तमें प्रतिबोधका अवसर न होनेके सम्बन्धमें एक शंका समाधान—यहाँ शंकाकार कहते हैं कि अवाच्यताका एकान्त करनेपर दूसरोंको समझाया न जा सकेगा और बिना समझे तत्त्वको माननेपर सभी तत्त्वोंके मन्तव्यकी स्वच्छन्दता हो जायगी यह दोष नहीं आता । क्योंकि जैसे इतने शब्द बोले जा रहे हैं कि स्वलक्षण अनिर्देश्य होता है । अर्थात् पदार्थका निजका जो सही लक्षण है वह निर्देशके योग्य नहीं है, कहा नहीं जा सकता अथवा बोला जाय कि प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है । तो जैसे ये शब्द बोले जाते हैं तो उनसे अवाच्य ही सिद्ध होता है.

अन्यापोहरूप तो निर्देश कर दिया जा सकता लेकिन प्रत्यक्षमें तो अनुभूत नहीं है। यह तो सविकल्प ज्ञान है, उसमें शुद्ध सत्यकी झलक नहीं आती है। शुद्ध सत्य ही स्वलक्षण कहलाता है। तो वचनोंके द्वारा स्वलक्षणका निर्देश नहीं किया गया किन्तु स्वलक्षण सामान्य अर्थात् अन्यापोहका ही निर्देश किया गया है, क्योंकि स्वलक्षणमें तो निर्देश सम्भव ही नहीं होता। निर्देशका अर्थ है शब्द। निर्देश शब्दकी व्युत्पत्ति है — निर्दिश्यते अनेन इति निर्देश: अर्थात् जिसके द्वारा निर्देश किया जाय, बताया जाय उसे निर्देश कहते हैं। बताया जाता है शब्दोंके द्वारा। अत: निर्देशका अर्थ हुआ शब्द। तो स्वलक्षणमें शब्द सम्भव नहीं है। शब्दकी प्रवृत्ति अन्यापोहमें होती है अर्थात् शब्दका अर्थ अन्यापोह है शुद्ध सत्य नहीं है। शुद्ध सत्य तो अवक्तव्य है। अर्थमें शब्द नहीं हुआ करते कि अर्थ आधार हो और उसमें शब्द आधेय हो जिससे कि शब्दोंको अर्थोत्पत्तिमें मान लिया जाय और यह कह दिया जाय कि अर्थके प्रतिभास होनेपर शब्द भी प्रतिभासित हो जाता है। तो अर्थमें शब्द नहीं रहता। अब स्वलक्षण है यान अन्यापोह रूप पदार्थ है परन्तु आरोपित उसको ठीक उन्हीं शब्दोंमें समझानेका उपाय ही नहीं है, क्योंकि तत्त्व तो अवक्तव्य है। अब कहा जाता जो कुछ कहा जाता है अन्यापोह-अथवा निर्देश्यपना। निर्देश्य शब्दसे इसका तो निर्देश हो जाता है क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं है। तो यों "स्वलक्षणमनिर्देश्यं" इस वचनके द्वारा स्वलक्षण सामान्य अर्थात् अन्यापोह ही कहा गया तत्त्व नहीं। तत्त्व तो अवक्तव्य ही है।

अवाच्यतैकान्तवादियोंकी आशंकाका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि तब तो फिर स्वलक्षण अज्ञेय भी हो जायगा। जैसे अभी कह रहे हो कि पदार्थमें शब्द नहीं है जिससे कि शब्दके प्रतिभास होनेपर पदार्थ प्रतिभासित हो जायें, अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्द प्रतिभासित हो जायें। अत: शब्द अर्थमें नहीं रहता। तो इस तरह स्वलक्षण अनिर्देश्य कह रहे तो यों स्वलक्षण अज्ञेय भी हो जायगा। जैसे कि स्वलक्षणमें अर्थात् इन्द्रियके विषयमें, प्रत्यक्षके विषयमें शब्द नहीं है यह कह रहे हो तो ऐसे ही यह भी कह दिया जायेगा कि उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें विषय भी नहीं है। जैसे कहते हो कि स्वलक्षणमें शब्द नहीं है, जैसे कहते हो कि स्वलक्षण शब्दके द्वारा नहीं बताया जा सकता। तो यह भी कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं है। जिससे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रतिभासमान होनेपर विषय भी प्रतिभासित हो जाय। अब विषय पदार्थ स्वलक्षण प्रत्यक्षज्ञानमें नहीं है तो वह प्रत्यक्षज्ञानमें आ ही नहीं सकता। यह बात स्पष्टतया कही जा सकती है कि जो वस्तु जहाँपर आधेय रूपसे नहीं है वह तदात्मक नहीं होता और फिर उसके प्रतिभासमान होनेपर भी वह प्रतिभासित नहीं होता। जैसे कि अभी कहा गया शंकाकार द्वारा कि प्रत्यक्षके विषयभूत स्वलक्षणमें शब्द नहीं है। अतः स्वलक्षण शब्दात्मक नहीं और शब्दों द्वारा स्वलक्षणका प्रतिभास नहीं हो सकता। ऐसे ही प्रत्यक्ष ज्ञानमें स्वलक्षण विषय नहीं जिससे कि ज्ञान स्वलक्षणात्मक बने और उसी प्रत्यक्षज्ञान होनेपर भी स्वलक्षणका

निर्विकल्प ज्ञान भी विषयमें आये या निर्विकल्पज्ञान और इन्द्रियकी तरह रूपादिक भी जानने न आये।

कारणत्वकी प्रत्यासत्तिकी अविशेषता होनेसे क्षणिकवादमें ज्ञानमें विषयाकारताके अनुकरणके नियमकी असिद्धि—यहाँ शंकाकार कहते हैं कि देखिये! यद्यपि दर्शन ज्ञान दोनोंसे जन्म पाता है तदुत्पत्ति और तद्रूपताकी पद्धतिमें कारणत्वकी अविशेषता है तो भी विषयका ही निश्चय रखता है दर्शन। अतः दर्शन बाह्य अर्थका ही विषय करने वाला है, उपादानका इन्द्रिय आदिक शक्तियोंका विषय करने वाला नहीं है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह भी कथन सारहीन है क्योंकि ऐसे मतव्यमें यही तो प्रश्न हो रहा है कि जैसे वर्णादिकका अध्यवसाय होता है दर्शन, इन्द्रियज्ञान जैसे वर्णादिकको जानता है उसी प्रकार यह दर्शन उपादानको भी जानने लगे। पूर्वज्ञानमें भी अध्यवसाय होने लगे, ऐसा होता क्यों नहीं, अन्यथा दोनों ही जगह निश्चय न हो। जब ज्ञान अपने उपादानसे भी होता है और विषयोंसे भी उत्पन्न होता है तब विषयोंको ही तो जाने और अपने पूर्वज्ञानको न जाने, ऐसा नियम तो न बन सकेगा। न जाने तो दोनोंको न जाने, जाने तो दोनोंको ही जाने। और फिर देखिये कि रूपादिकका अध्यवसाय सम्भव नहीं होता। विकल्प रूपसे उनका निश्चय करना नहीं बनता, क्योंकि स्वलक्षणादिकोंको तो दर्शनका विषय माना गया है निर्विकल्प ज्ञानका विषय होनेसे रूपादिकका अब विकल्परूप निश्चय नहीं सम्भव है। दर्शनका तो अनध्यवसाय रूप स्वयं माना है। यदि दर्शनको अध्यवसायरूप मान लेते हैं कि यह दर्शन निर्विकल्प ज्ञान भी विकल्परूप निर्णय किया करता है तब वह स्वलक्षणका विषय करने वाला न रहेगा। स्वलक्षण कहलाता है पदार्थका अवक्तव्य, लक्षण तो फिर उसको विषय करने वाला दर्शन न कहलायेगा, क्योंकि यहाँ यह मान लिया गया है कि दर्शन रूपादिकका अध्यवसाय करते हैं। यह रूप है, अमुक रूप है, इस प्रकारका निर्णय करने वाला बता रहे हो तो फिर विकल्पोंमें ही फँस जायगा दर्शन। वह अवक्तव्य तत्त्व तो विषय करने वाला न रहेगा।

निर्विकल्प ज्ञानको परम्परया निर्णायक मानकर स्वेष्ट सिद्धिका विफल प्रयास—यहाँ क्षणिकवादी प्रश्न कर रहे अथवा अपने आक्षेपका उत्तर दे रहे हैं कि यह दोष नहीं आता है कि दर्शन स्वलक्षणका विषय न करे, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञानको सविकल्प ज्ञानका कारण माना गया है सो साक्षात् तो निर्विकल्प ज्ञान विकल्पात्मक निर्णय नहीं किया करता किन्तु विकल्पात्मक निर्णय करने वाले सविकल्प ज्ञानका कारण है प्रत्यक्ष अतः परम्परया निर्णय हो जाता है सो कुछ भी दोष न दिया जा सकेगा और मानना होगा कि दर्शन साक्षात् तो स्वलक्षणका विषय करने वाला है और परम्परया यह विकल्पात्मक निर्णय करने वाला है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि क्षणिकवादियोंका यह कहना बिना परखके ही हुआ है, क्योंकि दर्शन

वहीका वही रहता है। केवल कह देने मात्रसे प्रश्नका उत्तर नहीं हो सकता है।

अनेक कारणोमेसे किसी एकके आकारका अनुकरण कह देनेपर विषय के आकारके भी अनुकरणका अभाव और स्वोपादानमात्रके अनुकरणका प्रसंग यहाँ शंकाकार कहते हैं कि यद्यपि इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें, दर्शनकी उत्पत्तिमें अनेक कारण मौजूद हैं लेकिन अनेक कारणोंके मौजूद होनेपर भी दर्शनमें केवल विषय के आकारका अनुकरण करनेका स्वभाव है। जैसे कि पुत्रोत्पत्तिके कारण अनेक हैं लेकिन पुत्र पिताके आकारका अनुकरण करता है। तो ऐसे ही दर्शनकी उत्पत्तिके अनेक कारण हैं, इन्द्रिय शक्ति भी कारण है, आलोक भी कारण है विषय (पदार्थ) भी कारण है लेकिन दर्शन एक विषयके आकारका ही अनुकरण करता है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा कह देना केवल बात ही बात है। अनेक कारणोंके होनेपर भी दर्शन केवल विषयका ही अनुकरण करता है यह भी क्यों रहे? समस्त कारणों का भी दर्शन अनुकरण नहीं करता यह मानो और फिर मानिये यह कि दर्शन अपने उपादान मात्रका अनुकरण करता है। देखिये ! विषय आधार है और ज्ञान आधेय है इस तरहके आलम्बन कारणका ज्ञान होनेमें और इन्द्रिय है उपादान उसका है समनन्तरज्ञान सो उपादान कारणका ज्ञान होनेसे प्रत्यासत्ति दोनोंके साथ प्रत्यक्षज्ञानकी है याने प्रत्यक्षज्ञानका एक तो है आलम्बनभूत कारण और एक है समनन्तर कारण। इस प्रकार यह समझिये कि जो भिन्न वस्तु है विजातीय है वह तो है आलम्बनरूप निमित्तरूप कारण और जो सजातीय है स्वयंकी सन्तति है उपादान है वह है समनन्तर कारण। अर्थात् ज्ञानका कार्य होनेमें पहिलेकी अवस्था ही है उपादान कारण। तो यों विषयोंके आलम्बनके कारण और समनन्तर प्रत्ययके कारण विषय और इन्द्रिय इन दोनोंमें कारणत्वकी प्रत्यासत्ति विशेष रखा जाता है, इस कारण दर्शन याने इन्द्रियज ज्ञान दोनों ही आकारोंका अनुकरण करेगी ऐसी बात तुम मान लोगे। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि देखिये ! यों तो फिर रूपादिककी तरह निर्विकल्प ज्ञानकी भी विषयता हो जानेकी आपत्ति आयगी। याने जिस प्रत्यक्षज्ञानमे रूपादिक पदार्थोंका ज्ञान माना है कि यह विषय है रूपक्षण रसक्षण आदिक तो इसी तरह निर्विकल्प ज्ञान भी विषय बन जायगा और उसका भी ज्ञान माना पड़ेगा क्योंकि इन दोनोंमे अब ज्ञान विशेषता न रही। जब दोनों आकारोंका अनुकरण कर लिया ज्ञानने विषयोंके आकारका भी अनुकरण किया और अपने उपादानका निर्विकल्प ज्ञान का भी आकार ग्रहण किया तो जैसे रूपादिक पदार्थ विषय कहलाते हैं ज्ञान कहलाता है विषयी, जानने वाले तो अब ज्ञान भी विषय कहलाने लगेगा क्योंकि आकारका अनुकरण तो दोनोंका मान लिया गया अन्यथा उपादानकी तरह वर्णादिक भी विषय न रहेंगे। जब ज्ञानने विषयका और कारणका, इन्द्रियका दोनोंका आकार आया तो दोनों के आकारका अनुकरण होनेपर होनेपर भी उसमे यह बात न मानी जा सकेगी कि विषय एक रहेगा। या तो विषय रहेंगे या दोनों ही न रहेंगे। तब रूपादिककी तरह

जात्यादिकविषयताके कारण ही सविकल्पज्ञानकी विकल्पात्मकता होनेसे दोषनिराकरणका शङ्काकारका निष्फल प्रयास—यहाँ शङ्काकार कहते हैं कि जाति, द्रव्य गुण, क्रिया परिणाम आदिक कल्पनाओंसे रहित पदार्थमें जाति आदिक कल्पना वाला प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? यह आक्षेप करना गलत है और यह आक्षेप भी निर्बल है कि पदार्थमें ही अध्यवसायकी उत्पत्ति हो जायगी। उसके लिए निर्विकल्प दर्शनका कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है, इस प्रसंगमें यह बात युक्त नहीं कि कल्पना रहित पदार्थसे ही कल्पनात्मक प्रत्यक्ष होजायगा। उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो यह भी पूछा जा सकता है कि जाति, द्रव्य गुण, क्रिया नाम आदिक कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्प प्रत्यक्षसे जाति आदिक कल्पनाओं वाला विकल्प कैसे हो जायगा ? यह प्रश्न तो यहाँ भी समान बैठता है। शङ्काकार कहते हैं कि विकल्प तो जाति आदिकका विषय करने वाला है। सो विकल्प तो जाति विषयक हुआ इस लिए सविकल्पज्ञान विकल्पात्मक है, प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेके कारण उसे विकल्पात्मक नहीं कहेंगे। सविकल्प प्रत्यक्षका स्वरूप ही विकल्प है यो कह दिया जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात युक्तियुक्त नहीं जचती। विकल्प भी हुआ लेकिन है तो वह ज्ञानका ही परिणमन। तो जैसे ज्ञानका परिणमन प्रत्यक्ष है और उसमे जाति आदिकका विषय नहीं है। निर्विकल्प दर्शनमें जो कि साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान है वह जाति आदिकका विषय नहीं करता तो इस ही तरह विकल्प वाले ज्ञानमें भी अध्यवसाय मे भी जाति आदिकके विषयपनेका विरोध आता है। जैसे निर्विकल्प प्रत्यक्षमें शब्दके संसर्गकी योग्यता नहीं है उसी प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्षके अनन्तर होने वाले अध्यवसायरूप विकल्पोंमे भी शब्द संसर्गकी योग्यता नहीं होती, क्योंकि उस सविकल्प ज्ञानमें भी न तो शब्दके साथ सम्बन्ध है और न कहा जाने योग्य या अध्यवसाय निर्णय। कहा जाने योग्य जाति आदिकका भी संसर्ग है क्योंकि सविकल्प ज्ञान तो अपने उपादानके सजातीय है सविकल्पज्ञानका उपादान है निर्विकल्पज्ञान। क्षणिकसिद्धान्तमें प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प बताया है कि जो पदार्थसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान है उसमें विकल्प नहीं क्योंकि पदार्थ क्षणिक है इस कारण प्रत्यक्ष ज्ञानका दूसरा नाम निर्विकल्प दर्शन रखा गया है फिर लोकव्यवहार कैसे चलेगा ? यह घट है, पट है आदिक निर्णय जो किये जा रहे हैं ये कैसे सम्भव होंगे ? ऐसा प्रश्न होनेपर क्षणिकवादियोंका यह उत्तर है कि यह है सब विकल्पात्मक ज्ञान, सो उस निर्विकल्प दर्शनसे सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यहाँ यह माना जा रहा है कि सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थसे नहीं निर्विकल्प दर्शनसे है। और निर्विकल्प दर्शनकी उत्पत्ति पदार्थसे है और इस तरह विकल्पका निर्णय सविकल्प ज्ञानमे बतानेकी चेष्टा की जाती है। लेकिन विचार करनेपर यह सब कुछ सिद्ध नहीं होता। वह सविकल्पज्ञान जो तो चूँकि निर्विकल्पज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और ज्ञान ज्ञानके नातेसे सजातीय है, सविकल्प ज्ञानसे पहिले होनेके कारण उपादान है तो उपादानभूत निर्विकल्प दर्शनका सजातीय होनेसे उस अध्यवसायमें भी शब्दका

ज्ञानमें प्रत्यक्षज्ञानमें तो शब्दका ससग ही नहीं है । जहाँ शब्दका स ग है वहाँ ही विकल्पात्मक निर्णय बन सकेगा । अनुभव करते ही हैं सब लोग कि जिस जिस भी पदार्थका विकल्पात्मक निर्णय होता है तो उस निर्णयके साथ शब्द कल्पना भी चलती है । यह घडा है, इस तरहका निर्णय होनेके साथ ही मनमे घडा शब्द भी उठ बैठता है तो जिस निर्णयमें शब्दका संसर्ग होता है वह तो विकल्पात्मक निर्णय है और जहाँ शब्दका ससर्ग नही उसे मानते है जो एक निर्विकल्प ज्ञान । तो निर्विकल्प ज्ञानमें जब शब्दका ससर्ग ही नहीं तो रूपादिक पदार्थोंका अध्यवसाय निर्णय, विकल्प कैसे आ सकेगा ? जैसे कि वर्णादिकमे परिणामका अभाव है और स्वलक्षण इन पदार्थों में शब्दका ससर्ग नहीं है उसी प्रकार प्रत्यक्षमे भी शब्दका ससर्ग नहीं है । तब यह कल्पनासे भी रहित हो गया इस अवस्थामे तो शब्द कल्पना भी नही उठ सकती । जो शब्दात्मक नहीं है ऐसे पदार्थोंकी सामर्थ्यसे उस नीलादिक स्वलक्षणकी उत्पत्ति हो जाती है, प्रत्यक्ष ज्ञानमे न शब्द है न शब्दका ससर्ग है तब वह कैसे अध्यवसायका निर्णय करने वाला बनेगा ? नीलादिक स्व लक्षणको तो देखिये ! वहाँ प्रत्यक्षके अभावमें भी अध्यवसायकी कल्पना चलती है । तो वह प्रत्यक्ष निर्णायक कैसे न कहलायेगा ? स्व लक्षण स्वय शब्द शून्य है फिर भी प्रत्यक्ष है और अध्यवसायका भी कारण है । और, रूपादिक अध्यवसायके कारण न रहे यह कैसे सही कथन माना जायेगा ?

निर्विकल्पज्ञानसे सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्तिकी सिद्धि— शकाकार कहते है कि देखिये ! निर्विकल्प प्रत्यक्षसे भी विकल्पात्मक अध्यवसायकी उत्पत्ति होती है । यद्यपि ये दोनो ज्ञान सजातीय नहीं हैं । प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है और अध्यवसाय सविकल्प है । याने जिसका केवल दर्शन ही हुआ है, मात्र प्रतिभास ही है वहाँ यह अमुक पदार्थ है ऐसा विवरण नही है । तो दर्शन तो हुआ निर्विकल्प और अध्यवसाय हुआ सविकल्प । यह अमुक वर्ण है, अमुक वस्तु है इस प्रकार यह हुआ सविकल्प तो निर्विकल्प ज्ञानसे सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है । जैसे दीपक तो है प्रकाशात्मक और उससे कज्जलकी उत्पत्ति होती है । कितना अन्तर है कि कारण तो है प्रकाशरूप और कार्य हो रहा है काला, अधेरारूप । तो विजातीयसे भी कार्यकी उत्पत्ति देखी गई है । जैसे—काजलकी उत्पत्तिमें कारण प्रदीप विजातीय कारण है, और उस विजातीय कारणसे कज्जल कार्यकी उत्पत्ति देखी गई है, ऐसे ही निर्विकल्प होनेपर भी दर्शनसे विकल्पात्मक अध्यवसायकी उत्पत्ति हो जायगी । इस प्रश्नके उत्तरमे कहते हैं कि फिर तो विजातीय पदार्थसे विकल्पात्मक प्रत्यक्षकी भी उत्पत्ति हो जाय, क्योंकि विजातीय कारणसे भी कार्य होने लगा मान लिया है । जैसे कि विजातीय निर्विकल्प अध्यवसाय की उत्पत्ति माना है ऐसे ही अचेतन अर्थसे विकल्पात्मक निर्णयके अध्यवसायकी उत्पत्ति हो जावे ।

दिया जा सकता कि प्रत्यक्ष मात्रसे ही तो अध्यवसायकी उत्पत्ति नही मानी है। सवि-कल्पज्ञानमे जो कि अनेक विषयोका निर्णय करता है उसकी उत्पत्ति यद्यपि निर्विकल्प दर्शनसे कही गई है, लेकिन केवल निर्विकल्प दर्शनके कारण ही सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति नही मानी है। सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति शब्दकी वासनासे जो जाति आदिक विशिष्ट अर्थ हैं उनके विकल्पकी वासनासे माना गया है। अथवा कह लीजिए मनका विकल्प है, यह ज्ञान तो मानसिक विकल्प शब्द अर्थक विकल्पकी वासनासे उत्पन्न होता है और वह विकल्प वासनाका विकल्प भी पूर्वविकल्प वासनासे होता है। इस तरह वासना विकल्पकी सन्तान अनादि है। जो प्रत्यक्ष संतानसे भिन्न है, सविकल्प ज्ञानकी सन्तान तो है विकल्पात्मक, विकल्प वासना से उनकी उत्पत्ति है और निर्विकल्प प्रत्यक्षको सन्तान है निर्विकल्परूप, तो ये दोनो ज्ञान बिल्कुल भिन्न जातिके हैं। निर्विकल्प ज्ञान है निर्विकल्प जातिका और सविकल्प ज्ञान है विकल्प वासनाकी जातिका, तो विजातीय पदार्थसे विजातीयकी उत्पत्ति नही मानी गई। यदि विजातीयसे विजातीयका उदय मान लिया जाय तो उक्त दूषण कैसे कह सकते थे? लेकिन सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति शब्दार्थ विकल्प वासनासे उनकी अनादि संतानियोसे हुआ करती है। अत. यह दोष नही दिया जा सकता कि शब्द संसर्गके अभावमें भी यदि विकल्प ज्ञानमे निर्णय बनता फिर तो प्रत्यक्ष ही स्वयं क्यो नही सब विकल्पोका निर्णय कर बैठता है?

विजातीय विकल्पज्ञानकी विजातीय निर्विकल्पज्ञानके विषयकी अनिर्णायकता — उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि इस विजातीयसे विजातीयकी अनुत्पत्तिका हेतु बताकर सविकल्प ज्ञानकी तरह निर्विकल्प ज्ञानमे अध्यवसाय किये जाने के दोषका निराकरण करने वालेके यहाँ अब यह विडम्बना आती है कि शब्दार्थ विकल्पवासनासे उत्पन्न हुए सविकल्पज्ञानसे अब निर्विकल्प प्रत्यक्षके रूपादिकका विषय कराने वाला नियम कैसे सिद्ध होगा? याने निर्विकल्पज्ञान से रूपक्षण, रसक्षण आदि जो कुछ समझा उसका निर्णय निर्विकल्पज्ञानमे तो है नही। निर्णय करना सविकल्पज्ञान। सो सविकल्पज्ञान प्रत्यक्षज्ञानके विषयका कैसे निर्णय कर सकेगा? क्षणिक सिद्धान्तमे यह माना गया है कि पदार्थ तो है स्वलक्षणरूप स्व याने लक्षण स्वतन्त्र पदार्थ। जैसे रस स्वतन्त्र पदार्थ कोई पिण्डरूप रस वाला नही है। पदार्थ तो यो अपने अपने लक्षण स्वरूप हैं और उनका परमार्थमे जानने वाला प्रत्यक्ष है निर्विकल्प प्रत्यक्ष जो कि उन्हें जान तो ले, किन्तु क्या जाना, कैसा है पदार्थ? किसी भी प्रकारका विकल्प नही होता। अब इस निर्विकल्प प्रत्यक्षके अनन्तर सविकल्प प्रत्यक्ष होता है इस सविकल्प ज्ञानसे यह नियम बनता है कि निर्विकल्प दर्शनके विषय ये रूपादिक थे। सो निर्विकल्प दर्शनका रूपादिक विषय है यह नियम सविकल्प बुद्धिसे कैसे हो सकता है? क्योकि कुछ पहले तो क्षणिकवादी मान रहे थे कि सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति निर्विकल्प दर्शनसे होती है, लेकिन इन दूषणोसे ऊब कर के

ससर्ग सम्भव नहीं।

क्षणिकवादमे सविकल्पज्ञानसे जात्यादि व्यवस्थाकी असंभवता—अब यहां शंकाकार आक्षेप करता है कि फिर तो इस स्थितिमे विकल्प जाति आदि का निर्णय करने वाला कैसे हो जायगा ? सविकल्प ज्ञानको जाति आदिकका निश्चायक माना गया है और यहाँ जब यह सिद्ध कर रहे कि सविकल्प ज्ञानमे भी शब्दके साथ ससर्ग नही है क्योंकि वह अपने उपादानभूत निर्विकल्प-दर्शनका सजातीय है सो जो प्रकृति उपादानभूत दर्शनमें है सो ही सविकल्प ज्ञानमें होगी, तब फिर विकल्पसे जाति आदिकका निर्णय कैसे होगा ? उत्तरमें कहते कि किसी भी तरह नहीं हो सकता। क्षणिकसिद्धान्तमे माने गए आरोपित काल्पनिक सविकल्प ज्ञानमें जाति आदिककी निर्णायकता सम्भव नही है। वह कैसे ? सो सुनो— देखिये ! कोई वस्तु किसी जाति आदिकसे विशिष्ट होता हुआ जब विकल्पसे ग्रहणमे आये तब कहीं विशेषण विशेष्य और विशेषण विशेष्यके सम्बन्धकी व्यवस्थाको ग्रहण करनेकी अपेक्षा करता है। जैसे दडी पुरुष कहा तो दडी पुरुषका विशेषण दण्ड हुआ यह कैसे जाना ? कि जब दण्ड वाले रूपसे ग्रहणमें आया तब दण्डी शब्द कहनेसे दण्ड वाला इस अर्थको ग्रहण कर देगा। विशेषण और विशेष्य सम्बन्धका विशेषण विशेष्यका जब ग्रहण कर लिया जायगा तब कोई उनका सयोजन करके उस प्रकारसे कोई ज्ञान करेगा कि यह इसका विशेषण है। जैसे नील कमल कहा तो कोई पुरुष नीलको भी जाने और उसके सम्बन्धको भी जाने तभी तो वह कहीं नील कमल इस प्रकार विशेषण विशेष्य भावसे जान पायगा अन्यथा नहीं। लेकिन यह सविकल्प ज्ञान इस व्यापारको, इस कामको करनेमें समर्थ नहीं है। विशेषणको जाना, विशेष्यको जाना उसका सम्बन्ध जाना, फिर किसी घटनामें विशेषण विशेष्यका विकल्प बनाया इतनी बात क्षणिक सविकल्प ज्ञानमें नहीं बन सकती क्योंकि प्रथम तो बड़ा यह बात है कि वह सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प दर्शनसे हुआ है और निर्विकल्प प्रत्यक्ष है क्षणिक तो सविकल्प ज्ञान भी क्षणिक है और क्षणवर्ती होनेके कारण उस सविकल्प ज्ञानमे विचारकता नहीं है। क्षणिकज्ञान विचारक नही हो सकता। इतना विकल्प बनायें, पूर्वोत्तरकी बातो को निरखें देश देशान्तरकी बातोका सम्बन्ध सोचे इतना अवसर और इतनी योग्यता क्षणिक सविकल्प ज्ञानमें नही है। जैसे कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्षणिक है और वह अविचारक है इसी प्रकार क्षणिक सविकल्प ज्ञान भी अविचारक है।

अनादिवासनोद्भूत सविकल्प ज्ञानकी निर्विकल्प प्रत्यक्षसे विलक्षणता होना बताकर दोषपरिहार करनेका शंकाकारका प्रयास—अब यहाँ क्षणिकवादी शंकाकार शंका करते हैं कि यह दूषण हम लोगोके यहा नहीं आ सकता कि शब्द ससर्गके अभावमे भी सविकल्पज्ञानमे यदि अर्थव्यवसायकी कल्पना कर ली जाती है तब फिर निर्विकल्प दर्शन ही क्यों न अध्यवसाय कर बैठे ? यह दूषण यों नहीं,

पूर्वकालमे हुए निर्विकल्प ज्ञानके विषयको तो बता दिया फिर तो जैसे उस निर्विकल्प ज्ञानके विषयका बना दिया त्यो ही उस प्रत्यक्ष बुद्धिमे शब्दका ससर्ग है, यह भी उसी तरह अनुमानसे पता चलना चाहिए क्योकि वे जो विकल्प हुए हैं वे शब्दके द्वारा कहे जाने योग्य आदि शब्दिकका उल्लघन करनेके रूपसे हुए। यदि यह विकल्पज्ञान निर्विकल्प ज्ञानमें शब्दका सम्बन्ध है" ऐसा न जाने तो विकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। उस उक्त अनुमानसे जैसे प्रत्यक्ष बुद्धिमे शब्दके ससर्गका अनुमान किया तो उसी प्रकार अब उस अनुमति ज्ञानमे प्रत्यक्ष बुद्धिमे जो शब्द ससर्गका बोध हुआ उस बोधसे अब रूपादिक पदार्थोंमे स्वलक्षणमे भी शब्दके ससर्गका अनुमान हो जाना चाहिए। और, तब इस तरह देखो—प्रत्यक्ष ज्ञानमे भी शब्द ससर्गका निर्णय हुआ और रूपक्षण आदिक पदार्थोंमे भी शब्द ससर्गका निर्णय हुआ तब तो शब्दाद्वैतवादियोका सिद्धान्त सिद्ध होता है कि सारा विश्व अतस्तत्त्व बहिस्तत्त्व सब कुछ शब्दमय है। तब यह क्षणिकवाद निर्विकल्प दर्शनका भी शब्द ससर्ग नही करा सकता।

क्षणिकवादमे जगतके विकल्परहित और नामरहित होनेका प्रसंग— बात पर यहाँ यह दूसरी कही जा रही है कि वे चाहते हुए भी कि प्रत्यक्ष बुद्धिमें शब्दका ससर्ग बन जाय तो भी क्षणिकवादमे प्रत्यक्ष बुद्धिके साथ शब्दका सम्बन्ध नही बन सकता, जब पदार्थ था तब ज्ञान न हुआ। पदार्थ मिटा तब तो ज्ञान हुआ, क्योकि क्षणिकवादमे ऐसा होना ही पडेगा और जब ज्ञान मिटा तब उसका शब्द और विकल्प बनाया। तो यह तो मन चाहा कथन है। प्रत्यक्षमे शब्दका ससर्ग नही बन सकता। इस ही कारण ये क्षणिकवादी किसी भी नीलादिक पदार्थका देखते हुए उसके सदृश पहिले देखे हुएका स्मरण नही कर सकते। क्योकि उस पदार्थमे नाम विशेषका स्मरण नही हो रहा। एक नील पदार्थको देखा तो देखकर क्षणिकवादी मानते हैं कि इस नील पदार्थमे पहिले भी नील पदार्थ था। जिसे पहिले जाना था जाना था उसको स्मरण करके इसको भी नील कह रहे हैं। तो क्षणिकवादमे स्मरण न बन सकेगा, क्योकि यहाँ तो दो के स्मरण एक साथ बनते होंगे—पदार्थका और नाम विशेषका। तो नाम विशेषका स्मरण न करता हुआ ही उसके शब्दको ग्रह जान रहा है। न जाने तो शब्दके साथ पदार्थकी योजना नही कर सकते। और, जब पहिले देखे हुएके नामको न जान सका तो ये दृश्यमान पदार्थका निर्णय भी नही कर सकते। फिर तो न कही विकल्प रहा और न कही शब्द रहा। तो सारा ससार विकल्प और शब्दसे शून्य हो जायगा।

शकाकार द्वारा अविकल्पाभिधान जगत होनेके आक्षेपके समाधानका अविफल प्रयास— हा शकाकार कहते हैं कि नाम है कारण जिसका ऐसा विकल्प तो प्रत्येक आत्माके अनुभवमें आ रहा है। हम सभी मनुष्योमे जो भी निर्णयात्मक

कारण अब कहने लगे हैं कि सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति विकल्प वासनासे होती है। और विकल्प वासनायें पूर्व-पूर्वकी अनेक हैं। यों अनादि वासनाकी परम्परासे वर्तमान सविकल्प ज्ञानने निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानके विषयका नियम बनाया। सो अब यह नियम कैसे बन सकता है? जब निर्विकल्प दर्शनसे सविकल्प ज्ञानको उत्पन्न होने वाला न माना, केवल विकल्प वासनासे हुआ करता है तो विकल्प वासनासे तो उत्पन्न हो और वह निर्विकल्प ज्ञानके विषयका नियम बनाये यह बात नहीं हो सकती। अन्यथा अर्थात् वासना प्रभव विकल्पसे निर्विकल्प ज्ञानके विषयका नियम सिद्ध किया जाय तो घट पट किसी भी विकल्पसे निर्विकल्प दर्शनका अथवा किस ही विषयका नियम बन बैठे क्योंकि अब तो इस विकल्प ज्ञानमें निर्विकल्प दर्शनसे तो कुछ सम्बन्ध ही न रहा।

रूपादिक विकल्पसे निर्विकल्प दर्शनके विषयका नियम होनेकी आशंका—यहाँ शंकाकार कहते हैं कि बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञानकी सहकारितासे, जो वासना विशेषसे उत्पन्न हुआ सविकल्प ज्ञान है उस ज्ञानसे यह नियम बन जायगा कि इस निर्विकल्प दर्शनका यह रूपलक्षण आदिक विषय है। यद्यपि वह सविकल्प ज्ञान हुआ तो विकल्प ज्ञान हुआ तो विकल्पवासनासे उत्पन्न लेकिन उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान, निर्विकल्प दर्शन सहकारी है। अतः उस रूपादिक विकल्पसे अब निर्विकल्प दर्शनके विषयका नियम हो जायगा। इसे उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो उस ही कारणसे उत्तरकालमें होने वाली प्रत्यक्ष बुद्धिसे निर्विकल्प उपादान रूप हुए पूर्व निर्विकल्प ज्ञान भी विषयभूत बन जायें। जब कि सविकल्प ज्ञानको उत्पत्ति इसे मानकर कि विकल्प वासनासे विकल्प दर्शन भी उसकी उत्पत्तिमें सहकारी है। तब वह विकल्पज्ञान कारणभूत निर्विकल्प ज्ञानका ही विषय क्यों नहीं करने लगता? अन्यथा यदि कहोगे कि सविकल्पज्ञान उपादानभूत निर्विकल्प ज्ञानको तो विषय नहीं करता, तो जब निर्विकल्प दर्शनसे उत्पन्न होकर भी सविकल्प ज्ञानमें निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होता है तो फिर उसमें निर्विकल्प ज्ञानके विषयका भी नियम मत बनो। तब सविकल्प ज्ञानसे यह भी न जाना जा सकेगा कि निर्विकल्प प्रत्यक्षका यह विषय हुआ था।

रूपाद्युल्लेखी होनेसे सविकल्पज्ञानमें निर्विकल्पज्ञान विषयत्वके नियमका शंकाकार द्वारा कथन व उसमे पूर्ववत् दोषका निर्देशन—क्षणिकवादी शंकाकार कहते हैं कि जो सविकल्प ज्ञान हो रहा है वह रूपादिकका उल्लेख करने वाला हो रहा है अतएव वह विकल्प ज्ञान अपने विकल्पके बलसे यह नियम कर देता है कि निर्विकल्प ज्ञानका विषय रूपलक्षण आदिक ही अमुक है। याने रूप है या रस है, या गंध है इस प्रकारका नियम सविकल्प ज्ञान कर देता है। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि यहां जब यह मान लिया कि उत्तर कालमें होने वाले सविकल्प ज्ञानमें

पहिले जाना था उसका स्मरण हुआ हो और ज्ञानमें आ रहेका नाम विशेषका स्मरण हो तब तो निर्णय होता है कि यह वही नाम है, यह सही है। तो इसमें दोका स्मरण तो होता है पर क्रमसे स्मरण नहीं मानते। इन दोनोंका अर्थात् पूर्व संविदित पदार्थ का और संवेद्यमान पदार्थके नाम विशेषका एक साथ ही स्मरण होता है। क्योंकि पूर्वसंविदित पदार्थका और संवेद्यमान नाम विशेषका जो संस्कार हैं उन संस्कारोंका दृश्यके ज्ञानके साथ ही जागरण हो जाता है अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा जो कुछ प्रतिभास किया गया उस दृश्यके दर्शनसे ही एक ही साथ पूर्व संविदित पदार्थका और संवेद्यमान पदार्थके नाम विशेषका एक साथ प्रबोध होता है। इस कारण यह पुरुष किसी भी नीलादिक पदार्थको देखता हुआ ही उसके सदृश पूर्व देखे गएका स्मरण कर लेता है और उस ही सम्बन्धसे दृश्यमान नीलादिक पदार्थमें नाम विशेषका स्मरण हो जाता है। इस कारणसे उसका यह नाम है यह योजना बन जाती है। और इसी कारण जब दृश्य पदार्थका नामके साथ योजना बन गई तो अब यह दूषण न आ सकता कि लो सारा जगत विकल्प और शब्दसे रहित बन जायगा।

शङ्काकारकथित पूर्वसंवित्ति और नामविशेषकी युगपत्स्मृतिकी क्षणिकवादमें अयुक्तता—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह सब कथन युक्तिसंगत नहीं है क्षणिक सिद्धान्तमें विश्वके शब्द और विकल्प रहित हो जानेका दूषण बराबर ही रहता है क्योंकि दृश्यमान पदार्थके नामका और दृश्यमानके समान पूर्व देखे गए पदार्थका क्षणिक सिद्धान्तमें एक साथ स्मरण होना अयुक्त ही है, क्योंकि इन दोनोंके एक साथ स्मरणका सम्भव उन होके मतसे विरुद्ध है। क्यों विरुद्ध है? क्यों विरुद्ध है कि क्षणिक सिद्धान्तमें एक साथ एक बारमें २ स्मृतियां नहीं मानी हैं कि वर्तमान कालका और अतीत कालका स्मरण एक साथ हो जाय। यह क्षणिक सिद्धान्तमें माना ही नहीं गया, क्योंकि दृश्यमान पदार्थ और पूर्वदृष्ट पदार्थ इनमें तो बाध्य बाधक भाव है। बिल्कुल ही विषय निराला है। पूर्व दृष्ट अतीत सम्बन्धित है, दृश्यमान वर्तमान सम्बन्धित है, पूर्वदृष्ट तो असत् है, किन्तु दृश्यमान पदार्थ सत् है। तब यहाँ जो स्वयं बाध्य बाधक हो रहे हैं कैसे उनकी एक बारमें स्मृति बन सकती है? अन्यथा यदि एक विकल्पके समय दूसरा विकल्प भी जुड़ा हुआ हो तो कोई पुरुष घोड़ेकी विकल्प कर रहा है तो उस विकल्प करने वाले पुरुषके भी गायके दर्शनमें, प्रत्यक्ष होनेमें द्वितीय कल्पनाका विरह सिद्ध नहीं होता। मानना होगा कि अश्वका भी विकल्प चल रहा है और गायका प्रत्यक्ष कर रहा तो गायका भी विकल्प चल रहा, पर ऐसा तो क्षणिकसिद्धान्तमें है नहीं। और प्रत्यक्ष व स्मरण ये दोनों ज्ञान भिन्न भिन्न हैं। दो ज्ञान एक आधारमें न हो सकेंगे। और होते हैं जहाँ, वे प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञानपर ही आते हैं। तो क्षणिकवादमें प्रत्यभिज्ञान नामका प्रमाण नहीं माना गया है।

विचारात्मक चिन्तन चलता है उस विकल्पके साथ शब्द भी जुड़े रहते हैं और [illegible] शब्दोंका सहारा लेकर वे विकल्प होते रहते हैं। ऐसा सभी मनुष्योंको अनुभवजन्य है और सभी मनुष्योंके स्वसंवेदनमें शब्दका भी प्रतिभास हो रहा है। सभी लोग जो शब्द [illegible] रहे हैं तब यह दूषण कैसे आ सकता कि सारा संसार विकल्प और शब्दसे रहित हो जायगा? विकल्पोंका भी अनुभव चल रहा है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि बात तो यह ठीक है कि जगत विकल्प और शब्दसे शून्य नहीं है, लेकिन क्षणिकवादमें विकल्प और शब्दका निश्चय असम्भव है। और क्षणिकसिद्धान्तमें विश्व विकल्प और शब्द रहित हो जायगा यह दूषण बताया है। विकल्पका और शब्दका ग्रहण कैसे नहीं होता क्षणिक सिद्धान्तमें सो सुनो! स्वसम्वेदन ज्ञानके द्वारा अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जो कि निर्विकल्प माना गया है उसके द्वारा विकल्प और शब्द गृहीत होते ही नहीं। यदि निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा सविकल्पका ग्रहण मान रहे हो तो फिर निर्विकल्प ज्ञानके ही द्वारा स्थिर स्थूल और आकारका ग्रहण भी क्यों नहीं पहले ही मान लेते? जैसे कि निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा विकल्पका ग्रहण मानते हैं तो साथ ही यह भी मान लो कि स्थिर पदार्थका भी निर्विकल्प ज्ञानमें ग्रहण हो गया। और, देखिये! बहिस्तत्त्व अथवा अंतस्तत्त्व याने चेतन और अचेतन पदार्थ कुछ भी कदाचित् गृहीत भी मान लिए जायें याने निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा पदार्थ विषय में आ जाते हैं ऐसा भी माना जाय तो ऐसा गृहीत भी अगृहीतके समान है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान नाम जाति आदिकको योजना सहित पदार्थका ग्रहण नहीं करता। उसे तो स्वलक्षण मात्रका ही प्रतिभास करने वाला माना है। सो जैसे क्षणक्षय स्वलक्षण, सम्वेदन आदिक भी न ग्रहण किएकी तरह हैं निश्चयमें नहीं आये हुए हैं इसी प्रकार समस्त बाह्य तत्त्व और अन्तस्तत्त्व भी अग्रहण किए हुएके समान है। और जब विकल्प और शब्द सम्भव न हो सके क्षणिक सिद्धान्तमें और निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा गृहीत पदार्थ भी अगृहीतके समान हो रह गया। तब यह समस्त जगत अचेतन बन जायगा।

पूर्वसंविदित व नामविशेषका युगपत स्मरण होनेसे अविकल्पाभिधान जगत होनेके आक्षेपको दूर करनेका शंकाकारका प्रयास —अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हमारे मतमें ऐसा नहीं माना है कि कोई पुरुष किसी नील आदिक पदार्थको अथवा सुखादिक अन्तस्तत्त्वको जानता हुआ वह संविदित अर्थको जो कि वर्तमान संविदितके समान है ऐसे पूर्व जाने गए अर्थको और वर्तमान जानने वालेके नाम विशेषका क्रमसे स्मरण करता है, सो जब हमने इन दोनोंका क्रमसे स्मरण न माना याने निर्विकल्प ज्ञानमें नीलादिकका ग्रहण किया तो उसे ग्रहण करते हुएमें उसके निर्णयके लिए दो बातें आती हैं ना, एक तो उसके समान जो पहिले जाना है उसका स्मरण हो और नाम विशेषका स्मरण हो तब निर्णय होता है। तो निर्णयके लिए जरूरत तो इन दो बातोंकी है कि वर्तमानमें जो जाना गया है उसके समान जो

नाम विशेषका स्मरण न होनेपर इस नामका और वर्णोंका निश्चय हो गया तो अब नामान्तरके बिना भी समान अभिलापका, नामका ग्रहण मान लिया गया, निश्चय मान लिया गया तब शब्दरहित रूपमे पदार्थका ही पहिले निश्चय क्यों न हो जायगा, ज्ञानने पदार्थको जाना, ज्ञान लिया इसने नामकी क्या जरूरत है साथमे ? शब्दरहित रूपसे ही पदार्थका निश्चय हो जाय। जैसे कि इस नामका दूसरे शब्दके स्मरण बिना भी ज्ञान हो गया ना, तो सीधा ही पदार्थका बिना ही किसी शब्दकी योजनाके ज्ञान हो जाय, क्योंकि अब तो क्षणिकवादियोने अपने एकान्त अभिमतका त्याग कर दिया उनका अभिमत पहिले यह था कि अपने नाम विशेषकी अपेक्षा रखते हुए ही अर्थ विकल्पोंके द्वारा निश्चित किया जाता है। अब यह एकान्त तो न रहा। यहाँ देखिये कि दृश्यमान पदार्थका नाम भी तो पदार्थ है और वह नाम नामक पदार्थ बिना शब्द योजनाके निश्चित हो गया। तब फिर यह अर्थ ही सीधा बिना नाम योजनाके निश्चित हो जाय। निर्विकल्प ज्ञानमें पदार्थका आकार रूपसे ग्रहण बन जाय। जैसे घट पट आदिक पदार्थ हैं। नाम भी पदार्थ है और स्वलक्षण एक शब्द नाम है उसके यहाँ अपने वाचक शब्दकी अपेक्षा बिना ही निश्चय मान लिया गया है। तो जब अपने अभिमत एकान्तका त्याग कर दिया तब इस हठका भी त्याग कर दो कि पदार्थका निश्चय शब्द योजना पूर्वक होता है। जैसे शब्द योजनाके बिना नामका व्यवसाय कर लिया ऐसे ही शब्द योजनाके बिना पदार्थका भी व्यवसाय मान लेना चाहिए।

नामका व्यवसाय न कहनेपर जगतकी, प्रमाण प्रमेय शून्यताकी क्षणिक सिद्धान्तमे आपत्ति—उक्त दोषके भयसे यदि कहो कि नाम विशेषका व्यवसाय नहीं किया जाता अर्थात् नाम विशेषके निश्चय किए बिना प्रकृत स्व लक्षण नामको समझ लिया जाता है तो जब नाम विशेषके-स्मरण बिना प्रकृति नामका निर्णय हो गया या नामका निर्णय ही नहीं मानते तब तो कहीं भी कोई निश्चय न हो सकेगा, क्योंकि नाम और नामके अक्षररूप वर्णोंके अनिश्चय होनेपर नामका जो अर्थ है उस पदार्थका भी निश्चय नहीं हो सकता। और निर्विकल्प दर्शनकी बात देखिये कि वह तो अनिश्चयात्मक है। केवल दृष्टामात्र है अर्थात् अनिश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा जो कुछ भी देखा गया वह न देखेके ही समान है। तब व्यवसायात्मक ज्ञान तो न बना। अव्यवसायी ज्ञान प्रमाण किया जाता नहीं। तो निष्कर्ष यह निकला कि समस्त प्रमाणोंका अभाव है जब प्रत्यक्ष प्रमाण न बन सका, निर्विकल्प प्रत्यक्षका जब समग्र रूपसे अभाव हो गया तो अनुमान तो हुआ करता है निर्विकल्प प्रत्यक्षके आधारपर, सो अब प्रत्यक्ष ज्ञानकी असत्ता होनेसे अनुमान प्रमाण भी न बन सकेगा। यो जब दोनो ही प्रमाण न रहे जैसे कि क्षणिकवादमे सिर्फ दो ही प्रमाण माने हैं और दोनो प्रमाणोंका सत्त्व नहीं रहता तो समस्त प्रमेयोंका भी अभाव हो गया, क्योंकि प्रमाणके विनष्ट होनेपर प्रमेयकी व्यवस्था नहीं बन सकती। 'इस

क्षणिकवादमें एक नामकी भी स्मृतिकी असम्भवता — अच्छा, और विशेष भी विचार छोड़िये ! पहिले यह ही सिद्ध कर लो कि जिस पदार्थको जान रहे हैं उस पदार्थके नाम मात्रका भी स्मरण नहीं बन सकता, क्योंकि किसी भी दृश्य मान पदार्थका जो भी नाम है उस नाममें अनेक अक्षर, अनेक मात्रायें हैं और उनका जन्म भी क्रमसे है। जब पदार्थ जिस नामसे कहा गया उस नाममें कई अक्षर मात्रायें हैं और उनका बोलना क्रमसे होता है। जैसे नील शब्द कहा तो नील शब्दमें चार अक्षर हैं — न् ई ल् अ। जब ये क्रमसे बोले गए तो इनका निश्चय भी क्रमसे ही होगा तो क्रमसे जब निश्चय हुआ नामकी अक्षर मात्राओंका तो एक साथ तो निर्णय हुआ नहीं, सो एक साथ निश्चयका अभाव होनेपर नामकी स्मृति नहीं बन सकती जैसे कि क्षणक्षय आदिकमें अध्यवसाय नहीं होता तो उसकी स्मृति नहीं बनती है, स्मृति आदिक सब सविकल्प ज्ञानोंमें उपचरित ज्ञानोंमें माने हैं। क्यों नहीं क्षणक्षय आदिक की परमार्थ ज्ञानसे स्मृति है कि पदार्थ तो जब हुआ उस ही समय नष्ट हो जाता है। तो ऐसे ही जो नाम स्मरणके लिए बोले गए सोचे गए हैं उनमें अक्षर मात्रायें अनेक हैं, उनका एक साथ स्मरण हो नहीं सकता। तो जो दृश्यमान पदार्थके नाममात्रका भी तो व्यवहार पहिले सिद्ध करलें। नामकी अक्षर मात्राओंका एक साथ विचार निश्चय सम्भव नहीं है विरोध होनेसे। वे जुदे-जुदे समयमें उत्पन्न हुए हैं। कैसे उनका एक साथ अध्यवसाय हो जायगा ? अन्यथा उन सब शब्दोंका एक साथ अध्यवसाय हो जाय, निश्चय हो जाय तो फिर सुनना सकुल हो जायगा ज्ञान भी सकुल हो जायगा। सकुलका अर्थ एकदम मिला हुआ किसी एक भी रूप न रहा। ऐसा ज्ञान बन गया। जैसे नील यह शब्द बोला तो इस शब्दमें चार वर्ण हैं। उन चार वर्णोंका परस्पर भेदरूपसे तो ज्ञान बना नहीं, याने एक साथ सब अध्यवसाय मान लिया है। तो जब चारों अक्षरोंमें एक साथ ही अध्यवसाय हुआ तब क्या सुननेमें आया ? कुछ भी नहीं, सकुल श्रवण हो गया।

अभिलाप (नाम) के व्यवसायके सम्बन्धमें दो विकल्प और उनमें प्रथम विकल्पका निराकरण—अब और भी सुनो - नाम क्या है ? एक पद है। बोलचाल क्या है ? पदोंका समूह। तो पदरूप अभिलापका और पदोंके अन्तः स्थित वर्णोंका जो निश्चय मान रहे हो सो यह बतलावो कि नाम विशेषकी स्मृति न होनेपर व्यवसाय होता है या नाम विशेषकी स्मृति होनेपर उन वर्णोंका निश्चय होता है ? जैसे स्वलक्षण यह शब्द बोला तो इस स्वलक्षण शब्दका एक निश्चय दूसरे स्वलक्षण शब्दका एक निश्चय दूसरे स्वलक्षण वाचक शब्दका स्मरण होनेपर हुआ या दूसरे नाम विशेषका स्मरण न होनेपर हुआ ? इसका भावार्थ यह समझिये मोटे रूपमें जैसे कि घड़ा देखा और उसको हो रहा घड़ेका ज्ञान तो इस घड़ा शब्दकी तरह और दूसरे घड़ा शब्दका स्मरण होनेपर हुआ या दूसरे घड़ा नामके स्मरण बिना ही घड़ा नामका निश्चय हो गया ? ये दो विकल्प किए जा रहे हैं। यदि यह कहो कि

क्योंकि सामान्यके लक्षणमें और स्व लक्षणमें अब कोई भेद न रहा। स्वलक्षण शब्द रहित माना जाता था और अब स्वलक्षणका व्यवसाय करनेके लिये जो सविकल्प ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसका विषय जो सामान्य है उसे भी शब्दरहित मान लें, तो लो अशब्दपनेके नातेसे सामान्य लक्षण और स्वलक्षणमें भेद न रहा। तब सीधा पहिले ही ज्ञानसे ही स्व लक्षणका निश्चय कर लिया जाना चाहिए।

अर्थक्रियाकारिता व अनर्थक्रियाकारितासे स्वलक्षण व सामान्यलक्षण मे भेद सिद्ध करनेका शंकाकारका प्रयास – यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये ! अर्थ क्रियाकारी परमार्थभूत शब्द तो स्वलक्षण कहलाता है, उसमे स्वलक्षणता है। विकल्प किसी भी प्रकारका नही है और उससे भिन्न जो काल्पनिक सत् है जाति, द्रव्य गुण आदिकके निर्णय, ये अर्थ क्रियाकारी नही है, ऐसे काल्पनिक सत्को सामान्य लक्षण कहा है, सो सामान्य लक्षणमे और स्वलक्षणमे अभेद कैसे हो जायगा। जो ही अर्थक्रियाकारी हो वह ही परमार्थ सत् होता है। और जो अर्थ क्रियाकारी नहीं है वह काल्पनिक सत् होता है। तो सामान्य लक्षण तो है काल्पनिक सत्रूप और स्व लक्षण है परमार्थ सत्रूप। तब इसमें एकता कैसे मान लिया जायगा ? यदि ऐसे भिन्न भिन्न लक्षण वाले सामान्य और स्वलक्षणका अभेद कर दिये जायें तो काल्पनिक और पारमार्थिक स्वरूप कुछ रहेंगे ही नही, यो क्षणिकवाद सिद्धान्तमें स्व लक्षण और सामान्य लक्षणके स्वरूप न्यारे हैं। अतः स्व लक्षणके जाननेके लिए निर्विकल्प दर्शनका मानना और सामान्यके जाननेके लिये सविकल्प ज्ञानका मानना विरुद्ध नही ठहरता।

स्वलक्षणत्व व अर्थक्रियाकारित्वकी दृष्टिसे दृश्य और सामान्यमे अभेद होनेका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमे कहते हैं कि ऐसा कहने वाले क्षणिक सिद्धान्तके अनुयायी केवल अपने दर्शनके अनुरागी हैं। परीक्षा कर सकने वाले नही हैं देख लीजिए ! सामान्यका लक्षण क्या होगा जो सामान्यमे ही पाया जाय, विशेषमें न पाया जाय ? किसी भी पदार्थका लक्षण इस ही पद्धतिसे बनेगा कि वह लक्षण उनमे ही पाया जाय, अन्यमे न पाया जाय। तो सामान्यका जो भी असाधारण रूप है सो अपने असाधारण रूपमे लक्ष्यमे आये हुए सामान्यमे भी तो स्वलक्षणता आ गयी। स्वलक्षण नाम किसका है ? जो तत्त्व है पदार्थ है उसका जो लक्षण है वह स्वलक्षण है। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण ये भिन्न-भिन्न चीज क्या ? जिसका जो लक्षण है वह उसका स्वलक्षण कहलाता है। जैसे कि विशेष पदार्थ किस लक्षणसे लक्षित होता है सो देखिये ! असाधारण रूपके द्वारा जो कि सामान्यमें न पाया जाय ऐसे विसदृश परिणामात्मक अपने खास स्वरूपके द्वारा जो लक्षित हो उसका नाम विशेष है। तो सामान्यका भी लक्षण देखिये ! अपने उस असाधारण रूपके द्वारा जो कि सदृश परिणामात्मक है और विशेषोमे न पाया जाता

तरह यह सारा संसार प्रमाण और प्रमेयसे शून्य हो गया। तो अब प्रकृत प्रसंगकी बात देखिये कि नाम और नामके अंशभूत वर्ण इनका यदि नाम नहीं है यह नाम स्वयं नाम रहित है ऐसा ही स्वीकार करनेपर सारा जगत प्रमाण प्रमेय शून्य बन गया। इस कारण पहिला विकल्प तो युक्तिसंगत न रहा कि नामके वर्णोंका और नामका व्यवसाय अन्य नामविशेषकी स्मृति न होनेपर हो जाता है।

नाम और नामके अंशभूत वर्णोंका व्यवसाय नाम विशेषकी स्मृति होनेपर माननेकी असंगतता—अब शंकाकार कहते हैं कि यदि प्रथम पक्षकी बात न रही, नाम विशेषकी स्मृति न होनेपर नामका व्यवसाय न रह सका तो न रहा, हम प्रथम विकल्प न मानकर द्वितीय विकल्प मानेंगे याने नाम और नामके अंशभूत वर्णोंका व्यवसाय (निश्चय) अन्य नाम विशेषकी स्मृति पर होता है ऐसा हम द्वितीय विकल्प स्वीकार करते हैं याने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जो पदार्थ निरखा है उस पदार्थका जो नाम है उस नामका निश्चय उसके सदृश पदार्थके नामका स्मरण होनेपर होता है। ऐसा द्वितीय पक्ष हम स्वीकार करते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि नाम और नामके अंशभूत वर्णोंका व्यवसाय करनेके लिए अन्य नामान्तर विशेषकी कल्पना करनेपर अन्य नाम विशेषका स्मरण किया जानेपर व्यवसाय माननेपर अनवस्था दोष हो जायगा क्योंकि जिस नाम विशेषका स्मरण करेंगे उस नाम और नामके वर्णोंके निश्चयसे भी अन्य नामका स्मरण अपेक्षित होगा। फिर उस अन्य नामके व्यवसायके लिए भी अन्य नाम विशेषका स्मरण अपेक्षित होगा। यों अनेक नामान्तरकी स्मृतिमें बढते जाइये! प्रकृत नामविशेषका व्यवसाय हो न सकेगा। और, अनवस्था दोष आयगा। तो इस तरह भी वहीं दोष आता है कि सारा जगत प्रमाण और प्रमेयसे शून्य हो जायगा, क्योंकि जब प्रकृत नामका व्यवसाय न हो सकेगा अनवस्था होनेसे तो अर्थोंका भी निश्चय न होगा प्रमाणका निश्चय न होगा तो सारा जगत प्रमाण प्रमेयसे शून्य हो जायगा।

शब्दरहित रूपमें सामान्यका व्यवसाय माननेपर उसी ज्ञानसे अशब्द स्वलक्षणके ज्ञानका प्रसंग—अब शंकाकार कहते हैं कि ये सब दोष हमारे सिद्धान्तमें यों न लगेंगे कि हम सामान्यको शब्दरहित ही निश्चित करते हैं। सामान्य कहलाया निर्णय पदार्थोंका स्वरूप याने निर्विकल्प दर्शनसे जो पदार्थ जाना गया वह तो है स्वलक्षण याने विशेष। अब उसके बाद उसके सम्बन्धमें जानना कि यह इस नामका है यह इस उपयोगका पदार्थ है आदिक विकल्पात्मक जितने भी विषय होते हैं ज्ञानमें वे क्षणिकवादमें माने गए हैं सामान्य। तो वह सामान्य भी शब्द रहित है, ऐसा माननेपर फिर तो दोष न आयगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि बताये गए दोष के भयसे यदि ये क्षणिकवादी शब्दसे रहित रूपमें सामान्यका निर्णय करते हैं तो इस तरह फिर इस ज्ञानके द्वारा शब्दरहित स्वलक्षण ही क्यों न निर्णीत कर लिया जाय,

णात्मक है। अर्थात् न तो सामान्यरूप है और न विशेषरूप है। फिर क्या है ? तो सुनो— उस द्रव्य और पर्यायसे भिन्न ही कुछ ऐसा जो सर्वथा निर्देश किए जानेके लिए अशक्य प्रत्यक्षज्ञानमे प्रतिभासमान होता है वह है स्वलक्षण। इस शकाके उत्तर मे कहते है कि फिर तो इस तरह भी स्वलक्षण क्या सिद्ध हुआ ? कोई जात्यन्तर सामान्य विशेषात्मक पदार्थ, क्योकि सामान्य विशेषात्मक पदार्थका ही जो कि परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषसे भिन्न है। तथा परस्पर निरपेक्ष सामान्यवान विशेषवान द्रव्यसे भिन्न है, ऐसे सामान्य विशेषात्मक पदार्थका ही प्रत्यक्षज्ञानमे प्रतिभास होता है। प्रत्यक्षके द्वारा कोई निरन्वय क्षणक्षयी निरश, परमाणुरूप लक्ष्यमें नही आता। तो ऐसे सामान्य विशेषात्मक जात्यतरमे जो इन्द्रियजन्य निश्चय हुआ वह नाम विशेषकी अपेक्षा न रखकर कैसे न हुआ ? जिससे कि ज्ञान अशब्द स्वलक्षण का ज्ञान न करे यही निश्चय मानना चाहिये कि तब ज्ञान जब जिस पदार्थको जानता है तब वह उसका सम्यग् व्यवसाय कर लेता है, क्योकि सामान्य और विशेष चूकि सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है, पदार्थ ही सामान्य विशेष स्वरूप है, वहाँ सामान्य अलग अशोमे हो और विशेष अलग अशोमें हो ऐसा नही है सो जब सामान्य और विशेषमे अभेद है तब क्षणिकवादी जैसे सामान्यको निश्चित करते हुए शब्दोसे योजित कर देते है इसी प्रकार स्वलक्षणको निश्चित करते हुए भी शब्दोसे योजित करना चाहिए। इस कारण कोई भी प्रमेय अनभिलाप्य नहीं है अर्थात् शब्दोसे योजित न किया जा सके याने वक्तव्य न हो सके ऐसा नही है। सभी पदार्थ श्रुतज्ञानसे परिच्छेद्य हैं क्योकि शब्दोसे योजित हुए पदार्थमे श्रुतका विषयपना सिद्ध होता ही है।

प्रत्यक्षको अनभिलाप्य माननेपर दृष्टविषयक सामान्यके निर्णयके भी अभावका प्रसङ्ग - और भी सुनिये ! प्रत्यक्षको अवक्तव्य ही माननेपर यह बताइये कि अपनी उत्पत्तिमे दृष्ट सम्बन्धित सामान्यका व्यवसाय (निश्चय) यदि स्मृतिसे आए हुए शब्द योजनकी अपेक्षा रखता है अर्थात् पहिले अर्थदर्शन हो पश्चात् शब्द योजन हो और शब्दयोजनके सहयोगसे दृष्टसम्बन्धित सामान्यका निश्चय हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ और उसके निश्चयके बीच शब्दयोजनाका व्यवधान हो गया। तब ऐसी स्थितिमे इन्द्रियज्ञानसे सामान्यका निर्णय न होगा और सविकल्प ज्ञानसे निर्विकल्प ज्ञानका निश्चय न होगा। देखिये ! जैसे क्षणिकवादी नैयायिकोके मन्तव्यमें इस प्रकार दूषण देते हैं कि शब्दान्वित अर्थको ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष माननेमें यह आपत्ति है कि वहाँ पदार्थके ज्ञानका व्यापार होनेपर भी स्मरणसे आये हुए शब्दयोजनाओकी इन्द्रियज्ञान अपेक्षा करता है तो वह प्रत्यक्षका विषयभूत पदार्थ स्मृतिसे आगत शब्दयोजनासे व्यवहित होगया अर्थदर्शन और निश्चयके बीचमे शब्दयोजना आ पडी, इस कारण वह पदार्थविषयक इन्द्रियज्ञान सविकल्प नही रहेगा, क्योकि अब शब्दयोजनासे इन्द्रियज्ञान बना है सो अब पदार्थके अभावमें सविकल्प, इन्द्रियज्ञान हो गया और पदार्थका सद्भाव होनेपर भी इन्द्रियज्ञान नही हुआ, जैसे यो

हो, जैसे अपने असाधारण रूपके द्वारा सामान्य लक्षित होता है तो विशेषका स्वलक्षण विशेषमें है, सामान्यका स्वलक्षण सामान्यमें है। तो स्वलक्षणताके नाते से सामान्यका विशेषसे भिन्न कैसे कहा जा सकता है ?

अर्थक्रियाकारित्वकी दृष्टिसे भी सामान्य और विशेषमें अभेदका प्रतिपादन— और भी देखिये ! क्षणिकवादियोंने जो एक यह भेद डाला है कि विशेष तो अर्थक्रियाकारी है और सामान्य अर्थक्रियाकारी नहीं है। इस भेदके होनेसे सामान्य लक्षणमें और स्वलक्षणमें अभेद नहीं कहा जा सकता। तो इसके विषयमें भी सुनो ! जैसे विशेष अपनी अर्थक्रियाको कर रहा है। विशेषकी अर्थक्रिया क्या है कि अन्य पदार्थसे व्यावृत्त करा देवे, हटा देवे मिले हुए अनेक पदार्थोंसे अन्य पदार्थोंको हटा कर किसी एक पदार्थका अलग ज्ञान करा देवे, यही तो विशेषकी अर्थक्रिया है। सो विशेषकी अर्थक्रिया है। सो व्यावृत्तिका ज्ञान कराने वाली अपनी अर्थक्रियाको करता हुआ विशेष जैसे अर्थक्रियाकारी माना गया है उसी प्रकार सामान्य भी अन्वयका ज्ञान करा देवे, ऐसी अपनी अर्थक्रियाको करता हुआ अर्थक्रियाकारी कैसे न माना जायगा ? तो जैसे विशेषको अर्थक्रियाकारी कहा है इसी तरह सामान्य भी अर्थक्रियाकारी है यह सिद्ध होता है। विशेषने तो यह काम किया कि अन्य तत्त्वोंसे, परिणमनोंसे भिन्नता का ज्ञान करा दिया तो सामान्यमें यह अर्थक्रिया की कि अपने सब परिणमनोंमें अन्वय का ज्ञान कराया और जो समूचे सब पदार्थोंमें व्यापने वाले सामान्य स्वरूपका ज्ञान कराया सो दोनों ही अर्थक्रियाकारी हो गये। अब रही इस प्रकारकी अर्थक्रियासे अन्य प्रकारकी अर्थक्रियाकी बात। जैसे गायसे दूध प्राप्त होनेकी अर्थक्रिया होती है और बैलपर बोझ लादनेकी अर्थक्रिया होती है तो वाह और दोह आदिक अर्थक्रिया करने की जैसे कि बताते हो कि सामान्यमें सामर्थ्य नहीं है सो ठीक है। इस अर्थक्रियाका करनेकी जैसे सामान्यमें सामर्थ्य नहीं है, इसी प्रकार केवल अर्थात् सामान्यरहित विशेष भी अर्थक्रियाको करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि बोझ लादना, दूध दुहना आदिक क्रियावोंमें सामान्य विशेषात्मक वस्तु गाय, बैल आदिकका ही उपयोग है। इस तरह अर्थक्रियाकारी रूपसे भी सामान्य और स्व लक्षणमें अभेद सिद्ध होता है। जब एक ही बात सिद्ध हो गई तब यह क्यों नहीं मान लिया जाता कि प्रथम ही बार हुए प्रत्यक्षसे सब कुछ निश्चय हो जाता है। सामान्य और विशेष ये दो धर्म कोई निरपेक्ष स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। एक ही द्रव्यसे सामान्य और विशेष परिणामों का कथंचित् अभिन्नपना है इसलिये अभेद मानना चाहिए। और, उस प्रकार सामान्य का निश्चय रखते हुए भी फिर उससे अभिन्न रूपमें रहने वाले स्वलक्षणका निश्चय न करे यह बात कैसे युक्त हो सकती है ?

स्वलक्षणको जात्यन्तरभूत माननेपर सामान्य विशेषात्मक प्रमेयके ज्ञानकी सिद्धि—शंकाकार कहते हैं कि स्वलक्षण न तो द्रव्यरूप है, न उसके परि-

में भी शब्द योजना होनेपर भी सामान्यव्यवसायकी अविशेषता होनेसे सामान्यव्यवसायका अजनक रहा और इसी कारण इन्द्रियज्ञानका अभाव हुनेपर भी सामान्य व्यवसाय हो जावे क्योंकि इन्द्रियज्ञान पहिलेकी तरह पीछे भी सामान्यव्यवसायका अजनक रहा आया, सो उसके बिना भी दर्शन हो जावे यह भी है यह निर्णय हो जावे निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार दर्शनसे निश्चय सभव नही होता अतः इतने हेतु देनेपर भी कि नीलादि स्वलक्षणका अवलम्बन है, उपादानभूत पूर्वक्षण ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, निर्विकल्पज्ञानसे सरूपता है। इनकी अविशेषता होनेपर भी क्षणिकवादियोके निराकार दर्शनमे अपने विषयके परिज्ञानका नियम नही सिद्ध होता।

स्वलक्षण और सामान्यमे अत्यन्त भेद माननेपर अनभिलाप्य स्वलक्षण का अनुभव होनेपर अभिलाप्य सामान्यकी स्मृतिकी अनुपपत्ति—और भी देखिये - सौगतोके अनभिलाप्य, अवक्तव्य स्वलक्षण (विशेष) का अनुभव होनेपर अभिलाप्य, वक्तव्य (सामान्य) की स्मृति कैसे हो जावेगी, क्योकि स्वलक्षणका सामान्यसे तो अत्यन्त भेद है, जैसे कि सह्याचल और विन्ध्याचलमे अत्यन्त पार्थक्य है सो सह्याचलके जाननेपर विन्ध्याचलको स्मृति हो ही जावे यह तो नहीं होता। शकाकार कहता है कि विशेष और सामान्यमे एकत्वका अध्यवसाय होनेसे विशेषका अनुभव होनेपर सामान्यका स्मरण हो जाना युक्त ही है। इसके समाधानमे यह पूछा जा रहा है कि बताओ, विशेष और सामान्यमे एकत्वका अध्यवसाय किस प्रमाणसे हो जाता है ? प्रत्यक्षसे (निर्विकल्प प्रत्यक्षसे) तो विशेष व सामान्यमे एकत्वका निश्चय नही हो सकता है क्योकि निर्विकल्प प्रत्यक्षको तो स्वलक्षणका (विशेषका) ही विषय करने वाला माना है सो वह सामान्यको विषय ही नही करता। निर्विकल्प प्रत्यक्षके पश्चात् होने वाले सविकल्प ज्ञानसे अथवा अनुमानसे भी विशेष व सामान्य के एकत्वका अध्यवसाय (निश्चय) नही हो सकता क्योकि सविकल्प ज्ञानको व अनुमान प्रमाणको सौगतोने विशेषका विषय करने वाला नहीं माना है। तथा विशेष और सामान्य दोनोका विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान जैसा कोई भी प्रमाण सौगतोने माना नही। यदि विशेष व सामान्य इन दोनोमेसे किसी भी एकको विषय करने वाले ज्ञान द्वारा उन दोनोके एकत्वका निश्चय करना मान लिया जावे तो इसमें बड़ी विडम्बनायें बनेंगी, तब तो दूरवर्ती व निकटवर्ती पदार्थोंमे भी एकत्व इन्द्रियज्ञानसे हो जावे, भूत व वर्तमान पदार्थमें भी एकत्व ज्ञान हो जावे सूक्ष्म व स्थूल पदार्थोंमें भी एकत्व ज्ञान हो जावे। और भी देखिये—शब्द और अर्थमे जो वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध है अस्वाभाविक माननेपर अर्थमात्रको देखता हुआ सौगतानुयायी शब्दका स्मरण कैसे कर लेगा तथा शब्दको सुनता हुआ अर्थका कैसे स्मरण कर लेगा जिससे कि यह सब निश्चय उनके सिद्ध हो जावे कोई भी पुरुष मात्र सह्याचलको देखता हुआ विन्ध्याचलका स्मरण नही कर लेता।

क्षणिकवादी नैयायिकोंके प्रति यह दूषण देते हैं, इसी प्रकार योजना शब्द सहित पदार्थ निर्णय करना मानने वाले क्षणिकवादियोंके ज्ञानमें भी ऐसा ही दूषण आता है। फिर दोनों मन्तव्योंमें पदार्थके स्वरूपमें ही मतभेद रहा कि नैयायिक तो पदार्थका ही शब्दानुविद्ध मानते हैं और क्षणिकवादी नील क्षण आदि पदार्थोंको शब्दरहित मानते हैं। निश्चय करनेमें तो नैयायिकोंने भी शब्द योजना मानी और क्षणिकवादियोंने भी वही शब्द योजना मान ली।

स्वलक्षण प्रतिभास व उसके निश्चयके बीच शब्दयोजनाका व्यवधान होनेसे पदार्थसे सविकल्पक ज्ञानकी उत्पत्तिकी असंभवता — देखिये क्षणिकवाद में किस प्रकार नैयायिकोंके प्रति क्षणिकवादियों द्वारा कहा गया दूषणकी भांति दूषण आता है। इन्द्रियज्ञानरूप सविकल्प ज्ञान उपयोग होनेपर, अर्थदर्शन होनेपर अपनी उत्पत्तिके लिये यदि शब्द योजनाकी अपेक्षा करता है जैसा कि आम तौरपर ऐसा लगता है कि पहिले पदार्थदर्शन होता है, पश्चात् शब्द योजना होती है पश्चात् उसका निश्चय होता है, यो यदि शब्द योजनाकी अपेक्षा रहती है तो वह इन्द्रियज्ञान अपने विषयके नामस्मरणके द्वारा व शब्दयोजना व्यवहित हो गया और तब इन्द्रियज्ञानसे पदार्थ निश्चय नहीं हुआ, क्योंकि अब पदार्थके अभावमें भी सविकल्प ज्ञान हो गया और पदार्थके सद्भावमें सविकल्प ज्ञान न हो सका। क्षणिकवादी इस दूषणके लिए नैयायिकोंके प्रति यह कहता है कि अर्थग्रहणका व्यापार होनेपर जो फिर यदि इन्द्रियज्ञान स्मरणागत शब्दयोजनाकी अपेक्षा करता है तो वह अब शब्दयोजनासे व्यवहित हो गया। इस स्वलक्षणको क्षणिकवादके अभिमतमें भी कह सकते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष होनेपर फिर यदि सविकल्प ज्ञान शब्दयोजनाकी अपेक्षा करता है तो वह प्रत्यक्ष शब्दयोजनासे व्यवहित हो गया। ऐसी स्थितिमें सविकल्प ज्ञानसे साक्षात् न तो पदार्थका निर्णय हुआ और न प्रत्यक्षका निर्णय हुआ। निर्विकल्प ज्ञान और अर्थज्ञानके बीच शब्द योजना आ पड़ी तथा सविकल्पज्ञान और प्रत्यक्ष इनके बीच भी शब्द योजना आ पड़ी।

सविकल्प ज्ञानको शब्द योजना सापेक्ष माननेका एकान्त करनेपर तत्त्व निर्णयकी अनुपपत्ति — और भी देखिये जैसे सौगतमतानुयायी शब्दाद्वैतवादियोंके प्रति यह दूषण देते हैं कि जैसे जो निर्विकल्प अर्थ स्मरणागत शब्दानुयोजन से पहिले शब्दानुविद्ध अर्थ विषयक इन्द्रियज्ञानका उत्पन्न करने वाला नहीं वह बादमें भी स्मरणागत शब्दानुयोजन होनेपर भी उस इन्द्रियज्ञानका जनक याने न उत्पन्न करने वाला रहेगा, क्योंकि निर्विकल्पमें इन्द्रिय ज्ञानव्यापारकी विशेषता नहीं है और इसी कारण अर्थका विनाश होनेपर भी इन्द्रियज्ञान हो जावे। जैसे यह दूषण सौगत शब्दाद्वैतवादियोंको देते हैं इसी प्रकार सौगतमतमें भी यह दूषण आता है कि जो इन्द्रियज्ञान स्मरणागत शब्दयोजनासे पहिले सामान्य व्यवसायका जनक है वह बाद

अक्षप्रत्यक्षसे मानसप्रत्यक्षके उत्पादकी अनुपपत्ति शंकाकार कहता है कि निश्चयात्मक मानसिक प्रत्यक्षमे दृष्टके सजातीयका स्मरण हो जायगा, अर्थात् जो पदार्थ दीखा वह तो निराकार दर्शन हुआ। वहाँ तो निश्चय होता नही पर उसके बाद निश्चय होता है तो उस समय निराकार दर्शनके द्वारा देखा गया पदार्थ रहता नही, क्योंकि पदार्थ क्षणिक माना गया है। किन्तु इस मानसिक प्रत्यक्षके द्वारा ज्ञान जरूर हो जाता कि यह अमुक पदार्थ है। तो वहाँ हुआ क्या कि वर्तमानमें देखे पदार्थसे सजातीय पदार्थकी स्मृति हुई है। तो यो निश्चयात्मक मानसिक प्रत्यक्षमें दृष्ट सजातीयकी स्मृति हो जाती है। समाधानमे कहते हैं कि देखिए—प्रत्यक्ष ज्ञानसे दर्शन करनेके पश्चात् निश्चयात्मक मनोविज्ञानकी जो उत्पत्ति माना है सो इसमे यह विरोध आता है कि अनिश्चयात्मक इन्द्रियज्ञानसे निश्चयात्मक मानसिक ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो गई? जैसे कि अनिश्चयात्मक इन्द्रिय ज्ञानसे जो कि निराकार दर्शनके बाद उत्पन्न होता है उस इन्द्रियज्ञानसे व्यवसायात्मक विकल्पकी उत्पत्ति नहीं होती। क्योकि अविकल्प अथवा अव्यवसायी ज्ञान और व्यवसायी ज्ञान इन दोनोका स्वभाव भिन्न है। तब स्वयं निश्चयात्मक इन्द्रियज्ञानमे नीलादिक पदार्थका व्यवसाय हो जाता है ऐसा मान लीजिए और उस क्षणक्षयका भी और स्वर्ग प्रापण शक्तिका भी फिर व्यवसाय होने लगेगा, इस कारणसे इन्द्रियज्ञान व्यवसायात्मक नही माना गया है। ऐसा यदि शंकाकार कहे तो फिर यह भी मान लीजिए कि इस ही कारण अर्थात् मानस प्रत्यक्ष जो कि स्वयं निश्चयात्मक है उसके द्वारा नीलादिकका व्यवसाय होनेपर फिर क्षणक्षय और स्वर्गप्रापण शक्ति आदिकका भी निश्चय उसीमे ही मानना पड़ेगा इस ही कारण मानसिक प्रत्यक्षको भी निश्चयात्मक मत मानो अथवा मानसिक प्रत्यक्ष निश्चयात्मक न रहेगा। यदि कहो कि मानसिक प्रत्यक्ष तो क्षणक्षय आदिकको विषय नही करता है। क्योकि क्षणक्षय तो निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषय है। निराकार दर्शन ही उसका प्रतिभास करनेमे समर्थ है अतएव मानसिक प्रत्यक्ष क्षणक्षय स्वर्ग प्रापण शक्ति जैसी परोक्ष बातोको विषय न करनेके कारण मानसिक प्रत्यक्ष क्षणक्षय आदिकका व्यवसायी न रहेगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर इस कारण अर्थात् अक्ष ज्ञान भी क्षणक्षयको विषय नही करता इस कारण इन्द्रियज्ञानमें भी व्यवहार सविकल्पपना न रहा?

इन्द्रियजज्ञानको कथंचित् व्यवसायात्मक माननेपर इसी प्रकार संवादकता होनेसे सभी ज्ञानोमे व्यवसायात्मकताकी सिद्धि—अब यदि इन सब दोषोके निवारणके अर्थ यह मान लेते हो कि इन्द्रियज्ञान कथंचित् व्यवसायात्मक है कि इन्द्रियज्ञान नीलादिक पदार्थोंका ग्रहण तो करता है इस रूपमे वह निश्चयात्मक है तब तो मानसिक प्रत्यक्षकी कल्पना भी न होना चाहिए। क्योंकि प्रयोजन न रहा मानसिक प्रत्यक्ष माननेका जो कुछ भी प्रयोजन था याने निर्णय हो जाना पदार्थका वह तो इन्द्रियज्ञानसे ही सिद्ध हो गया है। यहाँ तकके प्रकरणसे यह निर्णय

स्वलक्षणका अनुभव होनेपर सामान्यकी स्मृति सिद्ध करनेके लिये स्वलक्षण और सामान्यमे एकत्व-व्यवसायका शंकाकार द्वारा कथन व उसका निराकरण - शंकाकार कहता है कि शब्दका विकल्पके साथ याने सविकल्प ज्ञानके विषयभूत नीलादिक अर्थके साथ अर्थात् सामान्यके साथ तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध माना गया है, इस कारणसे शब्दका अथवा विकल्पका दृश्य पदार्थके साथ याने स्वलक्षणके साथ एकत्वका निश्चय हो जाया करता है और इसी कारण विशेषका अनुभव होनेपर व्यवहारी पुरुष शब्दका अथवा नीलादिक अर्थका अथवा विकल्प विषयका स्मरण कर लेते हैं प्रवृत्ति भी इसी तरह देखी जाती है। समाधानमे कहते है कि यह बात युक्ति संगत नही है क्योंकि किसी भी प्रमाणसे दृश्य और विकल्पका एकत्व निश्चय नही हो सकता है उसका कारण यह है कि दृश्य तो है क्षणिक जो निराकार दर्शनका विषय भूत हो उसका नाम दृश्य है, वह है स्वलक्षणरूप, उसे माना गया है क्षणिक और सामान्य है कुछ काल ठहरने वाला। जो सविकल्प ज्ञानका अथवा अनुमान प्रमाणका विषयभूत हो वह सामान्य कहलाता है। तो दृश्यका स्वभाव और है, सामान्यका स्वभाव उससे भिन्न है, ऐसे भिन्न स्वभाव वाले दृश्यका और विकल्पका अर्थात् सविकल्प ज्ञानमे आये हुए सामान्य विषयका एकत्व कभी भी नहीं हो सकता है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाणमे स्वतः ही निश्चयात्मकता मानना चाहिए न कि नाम जाति आदिककी योजनाकी अपेक्षासे अथवा प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें निश्चय करनेके लिए सविकल्प ज्ञान उठाया जाय, ऐसा श्रम न करना चाहिए।

अक्षज्ञानमे कथञ्चित् व्यवसायात्मकत्वका अभाव माननेपर दृष्ट सजातीयकी स्मृतिकी अनुपपत्ति - और भी देखिये! चक्षु आदिक इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है वह यदि किसी भी प्रकार व्यवसायात्मक नहीं माना जाता नील आदिक पदार्थोंको ग्रहण करता इस रूपसे भी सत्के प्रत्यक्षको निश्चयात्मक नहीं माना जाता तो फिर दृष्ट सजातीयकी भी स्मृति नहीं हो सकती क्षणिकवादमे प्रत्येक पदार्थ क्षणिक माना गया है लेकिन किसी भी पदार्थका जो रूपज्ञान हो रहा है और समझमे आ रहा है कि यह तो वही है जो अभी पहिले था तो ऐसे ज्ञानमें उस सिद्धान्तका कारण यह बताया गया कि दृष्ट सजातीयकी स्मृति हुई। वर्तमानमे जो कुछ देखा गया है उससे सजातीय पदार्थका स्मरण हुआ है और ऐसा स्मरण होनेका कारण भी यह बताया कि पदार्थमें यह हुआ करता कि पहिला पदार्थ अपना आकार उस पदार्थको सौंपकर नष्ट हो जाता है। तो अब वर्तमानमें जो कुछ देखा गया है उसे देखकर-उसके पूर्वकी जो कि उसके समान है उसकी स्मृति होती है लेकिन अब चक्षु आदिक ज्ञानको किसी भी प्रकार जब निश्चयात्मक नही माना तो यह स्मृति नहीं हो सकती। जैसे कि जो पुरुष दानमें निरत है अथवा हिंसासे विरक्त है उस पुरुषको स्वर्गादिक फल इससे उत्पन्न होते हैं ऐसा सामर्थ्यका ज्ञान नही होता है।

शंकाकार कहता है कि अनभ्यासकी व्यावृत्तिसे उस प्रत्यक्षमें अभ्यासका योग हो जायगा। जैसे कि पदार्थका ज्ञान इसी प्रकार होता है कि अन्यका अपोह करदे। जैसे गौ जाना गया तो गौ शब्दने सीधा गौ अर्थको नहीं जान लिया गया, किन्तु गायके अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं है ऐसी अगौ व्यावृत्तिसे गौको जाना गया है, ऐसे ही अब अनभ्यास न रहा तो अभ्यास अपने आप सिद्ध हो गया सो उसका यहाँ योग किया गया। समाधानमें कहते हैं कि वाह री बुद्धि! यह तो बताओ कि जिसमें अभ्यास जोड़ा जा रहा है प्रत्यक्ष ज्ञानमें, यहाँ अभ्यास जोडा जारहा है तो वह जोडा जा रहा है अनभ्यासकी व्यावृत्तिसे याने अनभ्यास न रहा तो उसमें अभ्यास स्वयं सिद्ध होगया इस तरह अन्य व्यावृत्तिसे अभ्यास मानते हो तो जरा यह तो बतलाओ कि उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें अभ्यासका स्वभाव है या नहीं? यदि उसमें अभ्यासका स्वभाव नहीं है तो अन्यकी व्यावृत्तिसे भी अभ्यासका योग नहीं आ सकता। और कदाचित् यह आग्रह कर लो कि न रहे वह स्वभाव फिर भी उसमें अन्य व्यावृत्ति आती है। तो देखो! फिर तो अग्निमें अशीतपनेकी व्यावृत्ति हो जानी चाहिए। अशीतका अर्थ है शीतपना नहीं, मायने गर्मी। उस गर्मीकी व्यावृत्ति आ जायगी, क्योंकि अब अग्निमें गर्मीका स्वभाव न मानकर जिस चाहेकी व्यावृत्ति मानते हो तो अग्निमें अगर्मीकी व्यावृत्ति कहते हो तो हम कहते कि अग्निमें अशीतकी व्यावृत्ति हो गई। यदि अग्निमें गर्मी स्वभाव नहीं है तो अगर्मीकी व्यावृत्ति ही क्यों कहते? अशीतकी व्यावृत्ति कहदो अर्थात् गर्मी ही खतम हो जायगा।

प्रत्यक्ष प्रमाणको अभ्यास स्वभाव माननेपर अनभ्यास व्यावृत्तिकी कल्पनाकी निष्प्रयोजनता और प्रमाणकी स्वयं व्यवसायात्मकताकी सिद्धि— यदि प्रत्यक्ष प्रमाणका अभ्यास स्वभाव मानते हो तो लो—सब बात बन ही गई। अब प्रत्यक्ष प्रमाण अभ्यास स्वभाव वाला हो गया। उसमें अन्यकी व्यावृत्तिका कल्पना इसीलिए तो की जाती थी कि प्रत्यक्षमें अभ्यासका योग आ जाय। अब प्रत्यक्षको अभ्यास स्वभाव वाला ही मान लिया गया तो अभ्यासका योग स्वभावतः ही हो गया, अब अनभ्यासकी व्यावृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रतिनियत जो भी स्वभाव है वह स्वभाव स्वयं ही अन्यकी व्यावृत्तिरूप है। प्रत्येक पदार्थ अपना एक असाधारण स्वभाव रखता है और असाधारण स्वभाव होनेके ही कारण यह बात वहाँ अपने आप सिद्ध होती है कि उस स्वभावके अतिरिक्त अन्य स्वभाव नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सदसदात्मकरूप होता है, अपने स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। अपने स्वरूपसे सत् है इसीमें यह बात आ जाती है कि वह पररूपसे असत् है। अब वहाँ यह मानना कि पररूपसे असत् है इसकी कृपासे इसमें सत्त्वका योग हुआ है ऐसा कौन विवेकी मानेगा? इसी प्रकार ज्ञानमें स्वयं अभ्यासका स्वभाव पड़ा हुआ है इसलिये अभ्यासका वहाँ योग है। अभ्यास भी चलता है। अब उस अभ्यासको यों मानना कि अनभ्यासकी व्यावृत्ति होती है इस कारण उस ज्ञानके

रखना चाहिए कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञ न ये सभी स्वयं निश्चयात्मक है। किसी अन्य योजनाकी अपेक्षा रखकर निश्चयात्मक नहीं है। और जैसे इन्द्रियज्ञान स्वयं निश्चयात्मक है इसी प्रकार मानसिक प्रत्यक्ष भी स्वयं निश्चयात्मक है। जो लोग मानसिक प्रत्यक्षको अव्यवसायी मानते हैं, अनिश्चयात्मक मानते हैं, उनका निश्चय सही नहीं है।

निर्विकल्प अक्षज्ञानसे अभ्यासादि कारणसे दृष्टसजातीयके स्मरणका युक्त बतानेका शंकाकार द्वारा कथन— अब शंकाकार कहता है कि इन्द्रियज्ञान यद्यपि निर्विकल्प है। निर्विकल्प होनेपर भी अभ्यास अथवा प्रकरणको समझ लेनेमें चतुरता या उस पदार्थको जाननेकी रुचि अथवा उस पदार्थकी चाह, इन सब कारणोंके कारण उस इन्द्रियज्ञानसे भी दृष्ट सजातीयकी स्मृति बन जाती है। यदि सविकल्प प्रत्यक्ष होनेपर भी अभ्यास प्रकरण चातुर्य अथवा इच्छा आदिक न हो तो वहाँ भी स्मरण नहीं होता। जैसे प्रतिवादियोंके द्वारा बताये गए समस्त वर्ण पदादिकका स्मरण भी तो होता है जब कि कुछ चातुर्य हो और उस पदार्थकी चाह हो, उसके अभावमें तो वर्ण पदादिकका भी स्मरण नहीं होता और अभ्यास आदिकके अभावमें श्वासोच्छ्वास आदिककी संख्याका भी निश्चय नहीं हो पाता। इससे इन्द्रिय ज्ञान यद्यपि निर्विकल्प है, फिर भी अभ्यास होनेके कारण प्रकरणकी बात समझनेमें चतुराई होनेके कारण और पदार्थकी चाह होनेके कारण दृष्ट सजातीयमें स्मरण होना युक्तिसंगत है। सविकल्प प्रत्यक्षके द्वारा पदार्थका निश्चय होनेपर भी किसी पुरुषको अभ्यास आदिकका अभाव हो तो वहाँ भी पुनः उसकी स्मृति नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि किसी बातकी स्मृतिके लिये अभ्यास और उसकी चाह और बुद्धि चातुर्य होना आवश्यक है, इसी कारण अब प्रत्यक्ष ज्ञानको सविकल्प मानना सार्थक नहीं है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प भी रहे तो भी अभ्यास आदिकके कारण उससे दृष्ट सजातीयकी स्मृति हो जाती है फिर उससे सविकल्प ज्ञान होते, व्यवहार चलता। अब अक्ष प्रत्यक्षको सविकल्प माननेकी सफलता है। ऐसा सौगत सिद्धान्तके अनुयायी कोई प्रज्ञाकर कहते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाणको अभ्यासस्वभावरहित माननेपर उपाय द्वारा भी उसमें अभ्यासके योगकी असंभवता बताते हुए प्रज्ञाकरकी उक्त शंकाका समाधान प्रज्ञाकरकी उक्त बात युक्तिसंगत नहीं है। जो सर्वथा निरंशरूप एक स्वभाव हो ऐसा प्रत्यक्ष माना गया है ऐसे प्रत्यक्षको और प्रत्यक्षको ही क्या, जो भी सत् है प्रत्येक सत् निरंश माना गया है सौगत सिद्धान्तमें। तो निरंश प्रत्यक्षका किसी भी पदार्थके विषय में अभ्यासका अथवा अनभ्यासका एक बार भी प्रसंग नहीं आ सकता है। प्रत्यक्षमें अभ्यास कैसे ? वह तो निरंश है, क्षणिक है। अभ्यास तो वहाँ सम्भव है जहां ज्ञान कुछ काल टिका रहे, लेकिन जहाँ ज्ञान क्षणिक है वहा अभ्यास सम्भव नहीं है।

निर्विकल्प प्रत्यक्षसे ग्रहणमे आ रहा, वह स्थिति निर्विकल्प प्रत्यक्षकी है और जब उसकी आकार आदिक ज्ञानमें आ रहा तो वह स्थिति सविकल्प ज्ञानकी है। यहां यह शंका न करना चाहिए कि जब ग्राहक प्रमाणके प्रतिभासमे भेद है अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जैसा प्रतिभास होता है वह जुदे प्रकारका है और स्मृति द्वारा जैसा प्रतिभास होता है वह जुदे प्रकारका है। तो यो प्रतिभासभेदसे विषय स्वभावमे भी भेद मानना चाहिए, फिर विषय स्वभावमें अभेदका अभाव हो जायगा यह बात नही कह सकते। क्योंकि एक साथ एक अर्थमे जुड़ा हुआ प्रत्यक्ष एक तो निकटवर्ती पुरुषको हो रहा है, एक दूरवर्ती पुरुषको हो रहा है। तो दोनोके ज्ञानका विषय तो वह एक ही पदार्थ है। किन्तु एकके तो स्पष्ट ज्ञात हो रहा दूसरेको अस्पष्ट समझमे आ रहा। तो यो प्रतिभास भेद हो जानेसे क्या वहाँ पदार्थ अन्य अन्य बन गया। तो जैसे, एक बारमे ही एक ही पदार्थका जैसे वृक्षका ही-पास खड़े होने वाले पुरुषने ज्ञान किया और दूर खड़े होने वाले पुरुषने ज्ञान किया तो स्पष्ट और अस्पष्ट रूपसे वहाँ प्रतिभास भेद हो रहा है। परन्तु वृक्ष वह एक है, पदार्थके स्वभावमे भेद नही है। उसकी एकताका वहाँ उल्लघन नही है। ऐसे ही समझियेगा कि ग्राहक प्रमाण दो हैं इस समय प्रत्यक्ष और स्मरण और प्रत्यक्ष प्रतिभास अन्य प्रकारसे हैं और स्मृतिज्ञानके प्रतिभास अन्य प्रकारसे हैं ? जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है और स्मृतिज्ञान द्वारा अस्पष्ट प्रतिभास हो रहा है तो स्पष्ट और अस्पष्ट रूपसे प्रतिभासका भेद होनेपर प्रत्यक्षज्ञानने जिसको विषय किया उस हीको स्मरणज्ञानने विषय किया। उन दोनो के विषयभूत पदार्थोंमे भेद नही है। तो इस प्रकार वह पदार्थ एक स्वभाव वाला सिद्ध हो गया अथवा कहो कि स्वलक्षण विषय एक स्वभाव वाला सिद्ध हो जाता है।

वस्तुकी कथंचित् अभिधेयताकी सिद्धिकी सर्वसम्मतता—अब और विचार कीजिये अस्पष्ट प्रतिभास वाले स्वलक्षणमे अथवा शब्द विकल्पके विषयभूत घटादिक पदार्थोंमे आखिर उनके संकेतका व्यवहार तो सोचना ही पडता है संकेतका व्यवहार जो बनाया गया है उस नियमकी कल्पना होनेपर तो यह बात प्रकट सिद्ध हो जाती है कि वस्तु कथंचित् अनभिलाप्य कहा है फिर भी निराकार दर्शनको समझनेके लिए किन्ही शब्दो द्वारा संकेत तो किया ही जाता है तो वह कथंचित् अभिधेय ही तो बन गया। जहाँ तक हो सकेगा उस निर्विकल्प प्रत्यक्षके सम्बन्धमे उसका ज्ञान करानेका प्रयत्न किया गया लेकिन कुछ संकेत होनेपर भी उसका स्पष्ट प्रतिबोध नहीं कराया जा सका इस कारण उसे अनभिलाप्य कह दिया, किन्तु किन्ही भी शब्दोमें उनके संकेतका व्यवहार तो बनता ही है इस कारण वस्तु कथंचित् अभिलाप्य है यह बात युक्तिसिद्ध है।

अवाच्यताके एकान्तका सहज निराकरण— अब उक्त समस्त कथन होने के बाद अवाच्यताके एकान्तकी बातका समाधान कर लेना चाहिए। देखिये !

अभ्यासका योग जोड़ा गया है ऐसा मानना एक मोहका ही फल है। अपना पक्ष रखना है, इस आग्रहमें ही ऐसी विडम्बनाकी वृत्ति की जा सकती है।

स्याद्वाद शासनमे स्मृतिके अभ्युदयकी प्रामाणिक व्यवस्था—अब देखिये सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मानने वाले स्याद्वादियोके सिद्धान्तसे स्मृतिका अभ्युदय किस प्रकार होता है स्याद्वाद शासनमे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके चार प्रकार माने गए हैं- अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा। इनमें अवग्रह ईहा अवाय ये तीन ज्ञान अनभ्यासात्मक है, किन्तु चौथा जो धारणा नामक ज्ञान है वह अभ्यासात्मक है। जब धारणा नामक ज्ञान न हो पाया तो दूसरे लोगोके द्वारा समस्त वर्ण पद आदिक भी कहे जायें लेकिन अवग्रह ईहा, अवाय इन तीनो ज्ञानके हो जानेपर भी स्मरण नहीं होता। और जब धारणा नामक ज्ञान बन जायगा तो उसके सद्भावमें दूसरे लोग वर्ण पद आदिक जो कुछ भी व्यवहार करते हैं उन सबसे स्मरण हो ही जाता है। सब स्थितियोमे सस्कारके माफिक स्मरण होना माना गया है। और, सस्कार रखने वाला ज्ञान है धारणा ज्ञान। सस्कारके अनुकूल स्मरण माना गया है, इसकी झलक अनेक दर्शनोमें हो सकती है। नीलादिक पदार्थोंमें जैसे शब्दका सस्कार होनेसे शब्दोके द्वारा अभिलापकी स्मृति हो जाती है इसी प्रकार सस्कारके माफिक ही सब जगह स्मृति मानी गई है।

प्रत्यक्षमें अभिलाप संस्कारका विच्छेद माननेपर तत्त्व निर्णय विषय की प्रतिपाद्यताकी असिद्धि—और भी देखिये। यदि निर्विकल्प ज्ञानका अथवा उसके विषयमें शब्दोंके सस्कारका विच्छेद कर दिया जाय अर्थात् शब्द सस्कारका योजन न माना जाय या उनका वाच्य वाचक सम्बन्ध न स्वीकार किया जाय तो फिर बतलाओ कि सविकल्प ज्ञानमें आये हुए पदार्थ और शब्द इनके साथ सयोजन किस प्रकार हो सकेगा? जिससे कि सामान्य शब्दके द्वारा प्रतिपाद्य बन सके। यथार्थ तो यह है कि प्रत्यक्षसे ग्रहण किए गए ही, स्वलक्षण परम्परासे सक्लेप सहित प्रमाणका विषय ही, अन्यसे व्यावृत्त जो अपनी मुद्रा रखे हुए है अर्थात् सामान्यसे पृथक प्रत्यक्ष गृहीत स्वलक्षण ही जब साधारण आकाररूपसे प्रतिभासमे आता है अर्थात् यह गो है, यह गो है आदिकरूपसे जब प्रतिभासमे आता है तो वह ही सामान्य विकल्प और शब्द के योजनके द्वारा शब्द द्वारा प्रतिपाद्य कहा जाता है।

एक पदार्थकी अनेक प्रमाणगोचरता—यहा ऐसा नही है कि प्रत्यक्षका विषयभूत पदार्थ अन्य हो और सविकल्प ज्ञानका विषयभूत पदार्थ अन्य हो और सविकल्प ज्ञानका विषयभूत पदार्थ अन्य हो। वह ही एक विषय जब प्रत्यक्षसे ग्रहण किया गया है तो वह अन्य व्यावृत्त अर्थात् विशेष मात्र प्रतिभासमें आ रहा है। किन्तु वह ही पदार्थ जब साधारण आकार रूपसे प्रतिभासमें आता है तो वही सामान्य कहलाता है और शब्द द्वारा प्रतिपाद्य बन जाता है। इस कारण विषय वह एक है,

सर्वप्रथम भाव और अभावकी बात चलायी गई। वस्तु भावात्मक ही है ऐसा कुछ दार्शनिकोंका कथन है। अब यहां विचार करनेकी बात है कि वस्तुको यदि केवल भावस्वरूप ही मान लिया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि समस्त पदार्थ बस भाव-रूप ही है। सब कुछ सब रूप हो जायगा। वहाँ फिर भावान्तर सत्ता न रहेगी क्योंकि पदार्थ सभी सर्वथा भावस्वरूप हैं। तो पदार्थोंकी सत्ता कायम रहे इसके लिए यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थके अभावरूप है। है भी यही बात। वस्तुत भी यही समझमे आता है। हम किसी भी पदार्थका जब निर्णय करते है, कथन करते हैं तो वहाँ यह ज्ञानमे समाया ही हुआ है कि यह पदार्थ यह ही है। अन्य कुछ नही है। तो पदार्थको केवल भावस्वरूप मान लिया जाय तब तो अभाव न माननेके कारण सभी पदार्थ सभी रूप हो जायेंगे किन्तु ऐसा है तो नही, इस कारण पदार्थमे भाव एकान्तकी बात नही माना। तब कुछ लोग अभाव एकान्त मानते हैं पदार्थ अभाव स्वरूप ही है। तो अभाव स्वरूप माननेपर अर्थात् शून्यका ही तत्त्व माननेपर या पदार्थ स्वय अन्य व्यावृत्तिरूप ही हैं अन्य प्रकार नही है इस तरह अभावका एकान्त माननेसे जब भाव नही माना तब फिर न ज्ञान रहा, न वाक्य रहा, न प्रमाण रहा। फिर कुछ सिद्धि कर सकनेकी वहाँ गुजाइस ही नही रही। तो पदार्थ न केवल भावस्वरूप है और न केवल अभाव स्वरूप है, किन्तु भावाभावा-त्मक है।

भावाभावोभयैकात्म्यका निराकरण—अब भावाभावात्मक पदार्थ है, इसको कोई दार्शनिक यो सिद्ध करने लगे कि कोई पदार्थ तो भावस्वरूप है और कोई कोई पदार्थ अभावस्वरूप है। इसलिए पदार्थोंको भावात्मक और अभावात्मक दोनो प्रकारका मान लेना चाहिए। तो यह सिद्धान्त भी युक्तिसगत यो नही है कि इस तरह भाव अभाव दोनो मान लिए जानेपर भी विवक्षित किसी भी पदार्थमें माना तो एक पक्ष ही गया है। तो यो निरपेक्ष भाव और अभाव भी नही बन सकता है, क्योंकि जो भावस्वरूप है उसमे भाव एकान्तका दूषण है। जो पदार्थ अभाव स्वरूप है उसमे अभाव एकान्त वाला दूषण है। तब कोई यह कह बैठे कि फिर वस्तु अव-क्तव्य ही रही आये न उसे भावरूप कहो न अभावरूप कहो, न उभयरूप कहो। अनुभय है, अवक्तव्य है, तो यह एकान्त भी सगत नही होता, क्योंकि अवक्तव्य इस शब्द द्वारा भी वह वक्तव्य न हो सकेगा? यदि अवक्तव्यका एकान्त माना जाय।

स्याद्वादविधिसे वस्तुस्वरूपका दिग्दर्शन—उक्त प्रकारमें पदार्थका यह निर्णय हुआ कि वह स्यात् भावरूप है, स्यात् अभावरूप है। स्यात् उभयरूप है। स्यात् अवक्तव्य है, स्यात् भावरूप अवक्तव्य है, स्यात् अभावरूप अवक्तव्य है स्यात् भावरूप अभावरूप अवक्तव्य है। इस प्रकरणमें कमसे कम इतना तो भले प्रकार समझ ही लेना चाहिए कि पदार्थ अपने स्वरूपसे भावस्वरूप है, परके स्वरूपसे अभाव

रूपादिक स्वलक्षणमें शब्द नहीं है ऐसा ही तो मानकर क्षणिकवादी कहते हैं कि वह अवाच्य ही है। तो ऐसा कहने वाले क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तमें यह प्रसंग आयगा कि प्रत्यक्ष प्रमाणमें अर्थका भी तो अभाव है। अर्थ है जुदा पदार्थ और प्रत्यक्ष है ज्ञान-क्षण। तो प्रत्यक्षमें अर्थका अभाव होनेसे फिर अर्थ प्रत्यक्षमें ज्ञेय भी न हो सकेगा क्योंकि अब यहाँ यह स्वीकार कर लिया है कि रूपादिक स्वलक्षणमें अर्थात् अर्थमें शब्द नहीं है इस कारण वह अवाच्य है। तो ऐसे ही यहाँ कह लिए कि प्रत्यक्षमें अर्थका अभाव है इस कारणसे अर्थ अब ज्ञेय नहीं हो सकता। यदि कहो कि रूपादिक पदार्थ तो कथंचित् ज्ञेय हैं ही, नीलादिकके रूपसे तो वहाँ बराबर प्रतिभास हो ही रहा है तो इस तरहसे अभिलाप्यपना भी सिद्ध कर लीजिए तब स्वलक्षण रूप अर्थ प्रत्यक्षका आधार बन गया और प्रत्यक्षरूपसे भी उपलभ्यमान हो गया और इस तरहसे जब अभिलाप्यपनेकी सिद्धि हो गयी तो अब प्रकृत जो विषय चल रहा है कि सर्वथा अवाच्यताका एकान्त नहीं है उसकी सिद्धिमें दूषण देना निष्प्रयोजन है।

सर्वथा अवाच्यके वचनकी असमञ्जसता—यह न ही लेना चाहिए कि अवाच्यताका एकान्त करनेपर अवाच्य है इस प्रकारसे भी नहीं बोला जा सकता। भला विचारो कितनी असमंजसताकी बात है कि अवाच्यताका तो एकान्त कर रहे और अवाच्य है ऐसा शब्द बोल रहे तो सर्वथा अवाच्य कहाँ रहा ? इसमें भी स्व-वचन विरोध आयगा। जैसे कोई पुरुष कहता है कि स्वलक्षण अनिर्देश्य है तो अब सर्वथा अनिर्देश्य कहाँ रहा ? उसका लक्षण बना ही तो दिया कि स्वलक्षण अनिर्देश्य होता है। तो जैसे स्वलक्षण अनिर्देश्य है यह वचन स्ववचन विरुद्ध होनेसे अस-मीचीन है, इस प्रकार अवाच्यताका एकान्त है इस प्रकार उसे अवाच्य शब्दसे बोलना यह भी स्ववचनविरुद्ध बात है। तो जैसे स्वलक्षण अनिर्देश्य है ऐसा अवाच्यताका एकान्त करनेपर इन शब्दोंसे भी नहीं कहा जा सकता इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञान कल्पना से रहित है अनभिलाप्यका समग्र न माननेपर अपितु शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य न कहनेपर विकल्पोंकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी। सविकल्प ज्ञान हो न बन सकता और, अब अभिलाप्यका समग्र मान लेते हैं तब सविकल्पपना भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अवाच्यताका एकान्त करना भी एक मिथ्या आग्रह है अवाच्यताके एकान्तमें कुछ भी बोलना युक्त नहीं हो सकता है।

प्रभुके स्याद्वादशासनकी निर्दोषताके प्रतिपादनके प्रसङ्गमें भावैकान्त व अभावैकान्तका निराकरण—इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि हे प्रभो ! तुम्हारे मतमें यथार्थ विषयका प्रतिपादन विरुद्ध नहीं है, अतएव प्रभु तुम्हारे ही वचन निर्दोष हैं और निर्दोष होनेके कारण आप ही सर्वज्ञ हैं और आप ही वन्दनीय हैं। इस प्रकरणसे सम्बन्धित यह बात चल रही है कि कैसे समझा कि प्रभुके वचन निर्दोष हैं ? बस इसी निर्दोषताकी प्रसिद्धिके लिए कुछ सिद्धान्तोंका वर्णन चल रहा है। जैसे

आप्तमीमांसा प्रवचन

[षष्ठ भाग]

(प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी)

आर्हंत शासनकी जिज्ञासा—भगवान अरहन्त आप्त है क्योंकि उनसे बाह्य पुरुषोंके वचनोंमें परस्पर विरोध है। अतएव वे आप्त नहीं हैं और अर्हत शासनमें जो वचन हैं उनमें विरोध नहीं है। इस बातका वर्णन अभी इस ग्रन्थमें किया गया था कि जो आर्हंत शासनसे विपरीत हैं, एकान्तवाद हैं उनके मतव्यमें विरोध आता है, इस प्रकरणका भाव और अभाव एकान्तका विषय लेकर निरूपण चला था। इस समय कोई पूछता है अथवा मानो भगवान आप्तने ही पूछ लिया है कि जो मेरा शासन प्रसिद्ध प्रमाणसे नहीं बाधा जाता है वह मेरा शासन है क्या ? इसके उत्तरमें श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं:

> कथञ्चिते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
> तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

आर्हंत शासनका प्रारम्भिक दिग्दर्शन—हे प्रभो ! तुम्हारे सिद्धान्तमें वस्तु कथंचित सत् ही है और वही वस्तु कथंचित् असत् ही है तथा वही कथंचित् उभयरूप है एवं वही वस्तु कथंचित् अवाच्य है। ये सब परिज्ञान नयोंके प्रयोगसे होते हैं। यदि इन धर्मोंको, किसी को सर्वथा मान लिया जाय तो वह बाधित होता है। जैसे पदार्थ सर्वथा सत् ही है अथवा सर्वथा असत् ही है अथवा निरपेक्ष रूपसे सत् और असत् दोनो रूप ही है। अथवा पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य ही है, ऐसा कथन बाधित हो जाता है। इस कारिकामें चार भंगोंकी बात कही गई है। कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् उभय और कथंचित् अवक्तव्य। शेष ३ भंगोंकी सूचना इस कारिकामें आया हुआ 'च' शब्द दे रहा है। च शब्दसे यह समझना कि पदार्थ कथंचित सत् अवाच्य ही है कथंचित् असत् अवाच्य ही है, कथंचित् उभय अवाच्य ही है ऐसा प्रभो आपका शासन है। इस कारिकामें सत्त्व धर्मकी अपेक्षा लेकर सप्तभंगी का वर्णन किया है सप्तभंगीका स्वरूप है—प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें बिना विरोधके

स्वरूप है। सब पदार्थ स्वरूपकी व्यवस्था स्याद्वाद शासनको आश्रय लिये बिना नहीं हो सकती। सो हे प्रभो! तुम्हारे शासनमें कहीं भी बाधा नहीं आती, आपके शासन के वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी हैं अतः तुम ही निर्दोष हो, इस कारण से प्रभो आप वन्दनीय है। अपने वस्तु स्वरूपका यथार्थ निर्णय करके प्रसार पर पदार्थ व परभावोंसे उपयोग हटाकर और निज सहज अन्तस्तत्त्वके संवेदनमें रहकर कर्मकलंकोंसे मुक्ति पा ली है, आप मोक्षमार्गके नायक हो और समस्त तत्त्वके ज्ञानाकार हो! आपकी स्वाभाविक स्थिति सदा शाश्वत परिपूर्ण आनन्दमय है। आपकी भाव वन्दना से उपासक कर्म कलङ्कोंसे छूटकर पवित्र हो जाते हैं, सदाके लिये सर्व प्रकार संकटोंसे छूट जाते हैं।

एक भङ्गको माननेवालोके प्रति विधिकल्पनाकी सत्यस्वरूपताका निर्देश — यदि शंकाकार यह सोचे कि विधि एकान्तका तो निराकरण किया गया है और आगे भी विधि एकान्तका निराकरण किया जायगा अर्थात् पदार्थ सत्रूप ही है सर्वथा सत् है इसका निराकरण किया गया, इस कारण प्रतिषेध कल्पना ही सत्यस्वरूप है फिर ऐसा मान लीजिये कि अन्यापोह ही वस्तुस्वरूप है। इसके समाधानमे कहते हैं कि शंकाकारका यह विचार भी समीचीन नही है। इसका कारण यह है कि जैसे प्रतिषेध कल्पनामे सत्यस्वरूपता है उसी प्रकार विधिकल्पनामे भी सत्यस्वरूपता है। इसी कारण जैसे एकान्तका निराकरण किया गया है इसी प्रकार प्रतिषेध कल्पनाका भी तो एकान्तरूपमे निराकरण किया गया है। यो अभाव एकान्त भी समीचीन नही है।

निरपेक्ष विधिकल्पना व प्रतिषेधकल्पना माननेवालोके प्रति एक सत्मे ही उभयरूप तृतीय भङ्गकी सिद्धि — अब शंकाकार कहता है कि विधिकल्पना की अपेक्षासे और प्रतिषेध कल्पनाकी अपेक्षासे वाक्य किसी एक रूप ही है यह नही कहा जा सकता। सद्भूत अर्थके प्रतिपादन करनेके लिये विधि वाक्य है और असत् शब्दके कथन करनेके लिये प्रतिषेध वाक्य है, इस प्रकार दो ही निरपेक्ष वाक्य बना लीजिए क्योकि कहा भी है यह कि तत्त्व सद्वर्ग और असद्वर्ग स्वरूप है याने कुछ तो हैं सद्रूप तत्त्व, जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव है असद्रूप। अत. असदरूप और सद्रूप ये दोनो ही प्रकारके तत्त्व हैं। तो इस कारण दो ही वाक्य बना लीजिए। एक वाक्यके एकान्तको यदि पसद नही करते तब दो वाक्य समझ लीजिये। सद्रूप और असद्रूपको छोडकर अन्य कोई प्रमेय होता ही नही है। अतः दो भग तो युक्त हैं पर इनके आगे भग नही बन सकते। ऐसा किन्ही दार्शनिकोका मतव्य है। अब उक्त मतव्यका निराकरण कर रहे हैं। देखिये ! वस्तु कोई सत् स्वरूप है और कोई असत्स्वरूप है। इस तरह अलग अलग विभाग नही है — किन्तु प्रत्येक वस्तु सदसदात्मक है। सत् स्वरूप और असत्स्वरूप प्रत्येक पदार्थ हैं। अब उनके लिये धर्मको प्रधानरूपसे कहा गया तो वहाँ उस धर्मके कथनका भग बनता है। जहाँ सत् स्वरूपको प्रधानरूपसे कहा जाय। वहाँ उस सत् स्वरूप का वाक्य बनता है। तथा जहाँ असत्स्वरूपको प्रधानरूपसे कहा जायगा वहाँ उस असत्स्वरूपका वाक्य बनता है। तो ये जो दो वाक्य हैं वे प्रधानभूत एक एक धर्मरूप हैं, लेकिन उस सद सदात्मक वस्तुको एक साथ नही कहा जा सकता है उन दोनो धर्मों को क्रमसे कहा जा सकता है तब वहाँ फिर यह एकान्त न रहेगा कि उसे सत्त्व वचन से भी कहा जाय अथवा असत्त्व वचनसे ही कहा जाय। तो क्रमसे विवक्षित उस सत्त्व और असत्त्वको प्रथम और द्वितीय भगसे नही बताया जा सकता। इस कारण उभय को विषय करने वाला तीसरा वाक्य भी मानना ही पडेगा। तब तीन भगोकी सिद्धि यहाँ तक हो ही गई। जो एक विधि कल्पनाका एकान्त करना युक्त न ठहरा, और प्रतिषेध कल्पनाका एकान्त करना युक्त न ठहरा, तब दो भग बने और उन दोनो धर्मों

विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करना सप्तभंगी कहलाता है। इस कारिकामें नय योग से इन भंगोकी सिद्धि की गई है। तो "नय योगसे" इस वचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि नय वाक्य ७ ही हुआ करते हैं। उनसे अतिरिक्त ८ वीं या अन्य प्रकार किसी प्रकार भी भंग सम्भव नहीं है।

विधिकल्पनाको ही सत्य स्वरूप मानकर एक ही भङ्ग मानने वालों के प्रति प्रतिषेधकल्पनाकी भी असत्य स्वरूपताकी प्रमाणसिद्धता— शंकाकार कहता है कि सत्य तो एक विधिकल्पना ही है। जो आप संयोगी भंग अनेक बता रहे हैं उन संयोगमे कुछका तो उन हीमें अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ पुनरुक्त हैं जो ऐसे कुछ भंग बताये हैं—जैसे पहिला दूसरा और चौथा भंग इनमें परस्पर दो दो और तीनके संयोगसे उत्पन्न होने वाले भंग हैं। उनका कुछ हीमें अन्तर्भाव होता है और फिर अन्य प्रकारके जो भंग किए गये जैसे तीसरा ५ वाँ छठवाँ ७ वाँ, इन भंगोका परस्पर दो दो या तीन चारके संयोगसे जो कुछ भी भंग बनाया जाय वह पुनरुक्त हो जाता है। अतः अतिरिक्त भंगोकी कल्पना ही सत्य स्वरूप होती है और उस विधि कल्पनाके द्वारा एक ही वाक्य बनेगा इस प्रकार यहाँ शंकाकार कह रहा है। शंकाकारके मतमें यह बात आयी कि एक ही धर्म बताया जावे कि पदार्थ सत् रूप है। बस मान लेना चाहिए कि पदार्थ सत् रूप ही है। पर उसमें असत्की कल्पना करना तो प्रतिषेध रूप होनेसे असत्य है और संयोग जन्य भंग जो बताया जाता है तो वह मूल विधिमे ही सामिल हो जाता है। यों तो फिर उन भंगोके भंग से भी अनेक भंग बनाते जाइये। कोई व्यवस्था नहीं बनती इस कारणसे एक ही वाक्य होना चाहिए, सात वाक्य सम्भव नहीं हैं, तब सप्तभङ्गीका स्वरूप नहीं बनता। शंकाकारकी उक्त शंकाका समाधान करते हुए पहिले यह बतला रहे हैं कि विधि कल्पना ही सत्य स्वरूप है, ऐसा एकान्त समझ लेना ही गलत है क्योंकि प्रतिषेध कल्पनामें भी सत्य स्वरूपकी व्यवस्था है। किसी भी वस्तुको सतरूप सिद्ध करनेके लिये यह कहना ही पड़ेगा कि यह वस्तु अन्य पदार्थरूप नहीं है। तो जैसे घट घटरूप है ऐसे ही विधिकी बात सत्य है। इसी प्रकार यह घट इस घटके सिवाय अन्य पदार्थ रूप नहीं है, यह बात भी सत्य माननी होगी। तो जैसे विधिकल्पना सत्यस्वरूप है उसी प्रकार प्रतिषेध कल्पना भी सत्य स्वरूप है। तब दो भङ्ग तो मानने ही पड़ेंगे कि पदार्थ स्वरूपसे सत् है तो पररूपसे असत् है। अब जहां ये दो भङ्ग मान लिए गए तो चूंकि इन दोनों धर्मोका एक साथ कथन नहीं हो सकता इस कारण अवक्तव्य है। फिर इन्ही धर्मोकी क्रमसे समझ बनानेपर शेष भङ्ग और बनते हैं। तो यह कल्पना करना कि केवल एक ही विधि वाक्य हो सकेगा, अन्य भंग नहीं, यह बात बिना विचारे ही कही गई है।

प्रतिषेधकल्पनाको ही सत्यस्वरूप मानकर केवल प्रतिषेध कल्पनावाले

एक ही वस्तुमें अनन्त धर्मोंका सद्भाव है तब अनन्त भगी बन जायगी । जैसे एक जीव पदार्थमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनन्त धर्म हैं और उनमे प्रत्येक की विधि और प्रतिषेध की बात लगाई जा सकती है तब तो एक पदार्थमे अनन्तभङ्गी बन जायगी एक वस्तुमे सप्तभगी न रही । इसके समाधानमे कहते हैं कि अनन्त धर्मों का निरखकर अनन्त सप्तभंगियाँ बना लेना भी इष्ट है । बन गई अनन्त सप्तभंगी हो बनी । यो अनन्त सप्तभगी बन जायें, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, किन्तु जिस किसी भी पदार्थका विचार चल रहा हो उसके सम्बन्धमे ७ ही भङ्ग हो सकते हैं, मूल बात यह तब भी निर्बाध कही जा सकता है । इसमे बाधा नहीं आ सकती । किसी भी पदार्थमे धर्म अनन्त होते है । उदाहरणमे जीव वस्तुको ही ले लो । जीव पदार्थमें एकत्व, सत्व, नित्यत्व ज्ञान, दर्शन, आदिक अनेक धर्म हैं । और जितने धर्म है वे सब सप्रतिपक्ष हैं याने उनका सत्व स्वरूपसे हैं तब पररूपसे असत्व है । तो यो विधिरूप और निषेध रूपसे अनन्त धर्म सद्भावकी कल्पना बनती है । तो वहाँ वह अनन्त भङ्गी न कहलायेगी । पदार्थके उन अनन्त धर्मोंमेसे किसी भी एक धर्मके सम्बन्धमें ७-७ भङ्ग होते हैं । तो यो सप्तभगी अनन्त धर्मोंके बन जाते हैं । तो अनन्त सप्तभगियाँ इष्ट ही हैं । जैसे एकत्व धर्मके सम्बन्धमें जब भङ्ग लगायेंगे तो उसका प्रतिपक्ष है अनेकता और क्रम विवक्षित होनेपर अब एक साथ विवक्षित होने पर अवक्तव्य फिर इसके अन्य सयोगी भङ्ग । यो सप्तभङ्ग हो गए ।

प्रत्येक वस्तुधर्मके प्रसङ्गमे सात ही भङ्ग हो सकनेके कारणपर प्रकाश

सभी धर्मोंमे सप्तभगकी उत्पत्ति होती है क्योंकि जो समझने वाले अथवा प्रतिपाद्य जन हैं उनमें प्रश्न सात प्रकारसे ही हो सकते हैं । प्रश्नके ही वशसे सप्तभगीका नियम बनता है । अब यहाँ कोई यह जानकारी चाहे कि सात प्रकारके ही वस्तु धर्मके सम्बन्धमे प्रश्न क्यो होते हैं ? तो उत्तर उनका यह है कि किसी भी प्रतिपाद्य पुरुषकी जिज्ञासायें सात प्रकारकी ही घट सकती हैं और वे सातो जिज्ञासायें इस कारण हुआ करती है कि वस्तु धर्मके सम्बन्धमें ७ प्रकारसे ही सशयकी उत्पत्ति बनती है । और ७ प्रकारसे ही सशयकी उत्पत्ति क्यो बनती है ? इसका उत्तर यह है कि विषयभूत वस्तुके धर्म ७ प्रकारसे ही बनते हैं ।

प्रथम व द्वितीय भङ्ग माननेकी अनिवार्यतापर प्रकाश

जैसे सर्वप्रथम यह जिज्ञासा हुई कि पदार्थ क्या सत् है ? क्या वहा सत्व वस्तुधर्म है ? तो इसके समाधानमें उत्तर आता है कि हाँ वस्तु सत् है अपने स्वरूपकी दृष्टिसे । यदि सत्व वस्तु धर्म न रहे तो इसके मायने यह है कि सत्व तो रहा नहीं । तब वस्तुमें वस्तुपना ही न रहेगा पदार्थ ही न रहेगा कुछ । जैसे कि खर विषाण, आकाश फूल आदिक ये कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि यहाँ सत्व ही कुछ नही है । तो जब कोई वस्तु अपने स्वरूपसे सत् है यह न माना जाय तो वह पदार्थ ही न ठहरेगा । इस कारण प्रथम

को जिनको कि क्रमसे कहा जा सकेगा उनको कहनेका साधन बन ना न केवल विधि कल्पनाका भंग है और न केवल प्रतिषेध कल्पनाका भंग है। तब तृतीय भंग कहना ही पड़ेगा कि क्रमसे विवक्षित होनेपर वस्तु उभयरूप है।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्तिकी भांति शेष चार भंगोकी भी प्रतीतिसिद्धता—अब यहाँ कोई यह हठ करले कि चलो तीन भंग ही मान लो वस्तु कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है और कथंचित् उभयरूप है, इसके आगेके भंगो की कोई आवश्यकता नहीं। यह विचार भी अयुक्त है, क्योंकि उन दोनों धर्मोंको एक साथ ही कह सके, ऐसा कोई वचन सम्भव नहीं है। तब यह अवक्तव्यपनेका विषय बन गया। तब मानना होगा कि वस्तु कथंचित् अवक्तव्य ही है। अब यदि कोई यहां यह हठ करने लगे कि चलो चार वाक्य ही मान लो जिनका कि इस कारिकामें स्पष्ट वर्णन भी है, शेष तीन भंगोकी क्या आवश्यकता है? यह मन्तव्य भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सत् अवक्तव्य, असत् अवक्तव्य और उभय अवक्तव्यको विषय करने वाले अन्य तीन वाक्य भी आवश्यक हो जाते हैं, यों सप्तभंगीकी सिद्धि होती है।

अपेक्षाविवरण सहित सप्तभङ्गीका निर्देश—इन सात रूपोमे पहिली बात विधिकल्पना, दूसरी बात प्रतिषेध कल्पना, तीसरी बात क्रमसे विधि और प्रतिषेध दोनोकी कल्पना, चौथी बात एक साथ विधि और प्रतिषेधकी कल्पना पाँचवी बात विधिकल्पना और साथ साथ विधिप्रतिषेध कल्पना, छठा भंग बनता है प्रतिषेधकल्पना और उसके साथ-साथ विधि प्रतिषेध कल्पना और सातवें भंगमे क्रमसे और एक साथ विधिप्रतिषेध कल्पना बनती है तो चूंकि कल्पनायें सात प्रकारकी हैं सो नय योग भी सात प्रकारसे हैं इस कारणसे सात वाक्य अथवा सप्तभंगीका होना युक्तिसंगत ही है।

सप्तभंगीके लक्षणमें प्रयुक्त अविरोधेन तथा एकवस्तुनि इन दो पदो की सार्थकताका कथन—उक्त प्रकारसे सप्तभंगीकी सिद्धि हुई, लेकिन कोई प्रत्यक्ष आदिकसे विरुद्ध एक सतमें विधि प्रतिषेधकी कल्पना करने लगे तो वह सप्तभंगी न बन सकेगी क्योंकि अविरुद्ध रूपसे ही विधि प्रतिषेधकी कल्पनाको सगत बताया गया है। अथवा कोई ऐसा सोचने लगे कि नाना पदार्थोंके आश्रयसे विधि और प्रतिषेधकी कल्पना की जाय वह सप्तभंगी हो जायगी, यहाँ सर्वथा सत् है, सर्वथा असत् है, सर्वथा उभय है, यों ७ भंग बना लिए जायेंगे। सो यह भी युक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि एक ही वस्तुमें ७ भंगोंकी कल्पना है। तब यह बात भली प्रकार सिद्ध हुई कि एक ही वस्तुमें अविरुद्ध रूपसे प्रश्नके वशसे विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करना सप्तभंगी है।

एक ही वस्तुमे अनन्त धर्मोकी अपेक्षा अनन्त सप्तभंगियोके होनेकी भी अभीष्टताका प्रतिपादन—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि इस तरह तो

मान लिया जाय तो समस्त प्रत्यक्षादिक व्यवहार नष्ट हो जायेंगे, फिर किसी भी पुरुष के इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था न बन सकेगी इससे मानना होगा कि वस्तुके धर्म ७ प्रकारके हैं तभी वस्तुमे किसी भी जानकारीके उत्सुक पुरुषके ७ प्रकारके ही संशय हो सकते हैं और ७ प्रकारके संशयकी सम्भावना होनेसे जिज्ञासा भी ७ प्रकारकी होती है और ७ प्रकारकी जिज्ञासा होनेसे प्रश्न भी ७ प्रकारके ही हो सकते हैं। तो ७ प्रकारके प्रश्नो के समाधानमें यह सप्तभङ्गी पद्धति बनी है। तो यो सप्तभङ्गीकी पद्धतिसे जो वस्तु स्वरूपकी चर्चा आती है वह अरहन्त देवके शासनकी चर्चा है। यहाँ किसी प्रकारकी बाधा रंचमात्र नही होती अतएव प्रभुका शासन किसी भी प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधित नही होता।

विवक्षित स्वरूपसे एक वस्तुमे दो सत्त्वोकी असंभवता होनेसे प्रथम व तृतीय भङ्गके संयोगवाले भङ्गकी अनुपपत्ति—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जैसे निरूपित सप्तभङ्गीमे पहिले और दूसरे धर्म बताये हैं कि पदार्थ स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है और इसीके आधारपर आगे संयोगी भङ्ग बनाये हैं, जैसे पदार्थ सत् असत् रूप है यह तृतीय भङ्ग बनाया फिर एक साथ निरूपित न हो सकने के कारण अवक्तव्य धर्म बताया है तो यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जैसे पहिले और दूसरे भङ्गको मिलाकर तृतीय भङ्ग बनाया गया है तो ऐसे ही प्रथम और तृतीय इन भङ्गोका संयोगी भङ्ग क्यो नहीं बना लिया जाता? जैसे प्रथम भङ्ग है स्यात् अस्ति नास्ति तो संयोगी भङ्गोमे ऐसा भङ्ग क्यो न बन जायगा कि स्याद् अस्ति स्यात् नास्ति। प्रथम भङ्ग है अस्ति और तृतीय है अस्ति नास्ति, इन दोनो भङ्गोका संयोग करके यह भङ्ग बना लिया जायगा। समाधान इसका यह है कि एक वस्तुमें दो सत्त्व नही रहा करते। स्याद् अस्ति, स्याद् अस्ति नास्ति, इस प्रकारके धर्ममे दो सत्त्व आ पड़ते हैं एक तो अस्ति ही कहा गया दूसरा तृतीय धर्ममे भी अस्ति कहा है। तो एक पदार्थमे दो सत्त्व सम्भव नही हैं, क्योकि विवक्षित स्वरूपसे जो सत्त्व है वह वही है अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे सत्त्व बताना यह प्रथम भङ्गमे कहा है। अब तृतीय भङ्गमें जो अस्ति नास्ति है वह क्रमसे अस्ति स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे अस्ति और पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्ति तो यहाँ भी अस्ति कहा है। अब इनका संयोग करनेपर अस्ति दो बार पड़ा लेकिन एक वस्तुमे दो सत्त्वका क्या अर्थ? अतः प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर भङ्ग नहीं बताया गया।

एक वस्तुमे अनेक गुणोंकी अपेक्षासे अनेकरूप सत्त्वकी कल्पना होने पर भी विवक्षित धर्मकी अपेक्षासे दो सत्त्वोंकी असंभवता—यदि ऐसा सोचा जाय कि विवक्षित स्वरूप सत्त्वसे भिन्न अन्य स्वरूपसे सत्त्व भी तो कोई दूसरा सम्भव है। जैसे नित्यत्वकी दृष्टिमें जो माना उसके अतिरिक्त एकत्वकी दृष्टिमें जो समझा जाय वह भी तो है। या जीवमे अनन्त धर्म हैं। ज्ञानस्वरूपसे असत्त्व है, लेकिन ज्ञान-

भंग मानना आवश्यक है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है। इसी प्रकार पदार्थमें कथंचित् असत्त्व है क्योंकि जैसे वह अपने स्वरूपसे सत् है वैसे वह पररूपसे सत् नहीं है। यदि स्वरूपादिकसे जैसे सत् है उस तरह पररूपादिकसे भी सत् मान लिया जाय, पररूपकी अपेक्षासे वस्तुमें असत्त्व न माना जाय तो अब वस्तुका प्रतिनियत स्वरूप तो रहा नहीं. तो पदार्थ अपने स्वरूपसे भी है और परस्वरूपसे भी है। तो जब स्वपररूप दोनोंसे उसमें सत्त्व आ गया तो यह अमुक पदार्थ है अन्य नहीं है ऐसा प्रतिनियत स्वरूप नहीं घटित हो सकता। जब प्रतिनियत स्वरूप न रहा तो वस्तुमें प्रतिनियतता न रही कि यह घड़ा घड़ा ही है अन्य कुछ नहीं। तो मानना होगा कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। इसमें प्रथम भंग न माना तो पदार्थ ही न रहा, द्वितीय भंग नहीं माना तो पदार्थका प्रतिनियम ही न रहा कि यह यह ही है अन्य नहीं है, इस कारण स्यात् अस्तित्व और स्यात् नास्तित्व ये दो भंग मानना आवश्यक है।

शेष तृतीयादिक सप्तभङ्गोंकी प्रसिद्धता—अब इसके बादके भङ्गोंकी बात सुनो। जब सत्त्व वस्तु धर्म सिद्ध हो गया और असत्त्व भी धर्म हो गया तो अब क्रमसे जब विवक्षा की जायगी इन दोनों धर्मोंकी, स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति जन कि दोनों भङ्गोंकी सिद्धि की गई है उनको जब क्रमसे विवक्षित किया जाता है तो यह भी वस्तुमें धर्म बन गया कि यह वस्तु उभयरूप है सत्‌रूप है असत् रूप है। अपने स्वरूपसे सत् स्वरूप है, पर स्वरूपसे असत् स्वरूप है यदि यह उभय धर्म न माना जाय तो क्रमसे पदार्थके सम्बन्धमें सत्त्व और असत्त्वका व्यवहार किया जाता है वह शब्द व्यवहार फिर न हो सकेगा और यह शब्द व्यवहार चल ही रहा है। इसी प्रकार जब उन दोनों भङ्गोंका अथवा वस्तुके सत्त्व और असत्त्व इन दोनों धर्मोंको एक साथ विवक्षित किया जाता है तो वहाँ अवक्तव्यपना प्रसिद्ध होता है। सो अवक्तव्यत्व वस्तुका धर्म बना। यदि इस भङ्गको अंगीकार न किया जाय तो अवक्तव्यपनेका शब्द व्यवहार होना ही न चाहिए किन्तु होता है। तो यह अवक्तव्यपना भी वस्तुका धर्म है। इसी प्रकार शेष तीन भङ्ग भी प्रमाण प्रसिद्ध हैं। यदि वे भङ्ग न होते तो उस प्रकारका शब्द व्यवहार न बन सकता था। किन्तु व्यवहार होता है तो यह व्यवहार विषय रहित तो नहीं है। जिस विषयको लेकर व्यवहार चलता है वह विषय है ही।

सविषय व्यवहारसे प्रसिद्ध सप्तभङ्गीकी पद्धतिसे प्रयुक्त आर्हत शासनकी निर्बाधता—सप्त भङ्गोंमें जो व्यवहार चलता है उससे प्रसिद्ध होता है कि उन ७ भङ्गोंका विषयभूत धर्म है। इस कारणसे ७ भङ्गोंमेंसे किसी भङ्गका लोप नहीं किया जा सकता। यह व्यवहार निर्विषय नहीं है क्योंकि इस व्यवहारमें भी वस्तुकी जानकारी, प्रवृत्ति, वस्तुकी प्राप्ति और वस्तुका निश्चय समझा जाता है। इसी प्रकार रूपादिक व्यवहार भी इसी आधारपर चलते हैं। यदि रूपादिक व्यवहारोंको भी निर्विषय कह दिया जाय, रूपादिकके व्यवहार होते हैं मगर उनका विषय कुछ नहीं है ऐसा

यह कथन नही किया गया कि एक साथ अर्पित उन दोनो धर्मोंका कथन किया गया हो। किन्तु एक साथ विवक्षा में आनेपर उन दोनो धर्मोको सर्व प्रकारसे कहा ही नही जा सकता। अतएव अवक्तव्यत्व धर्म बना तो इस अवक्तव्यत्वके चौथे भगके द्वारा कोई धर्मान्तर ही बताया गया। न सत्व बताया गया न असत्व बताया गया। किन्तु दोनोके प्रतिपादनकी अशक्यताका वर्णन किया गया ?

सप्तभगीमे वर्णनकी पद्धति व प्रतीति—यहाँ यह नही कह सकते कि अवक्तव्यके साथ सत्व असत्व और उभयकी अप्रतीति हो जानी चाहिए अथवा अन्य धर्मकी सिद्धि न होनी चाहिए। यह बात यो नही कह सकते कि वहाँ अवक्तव्यकी अन्य रूपसे ही प्रतीति हो रही है। सत्वरूपसे नहीं, असत्वरूपसे नही, किन्तु प्रतिपादन की अशक्यतारूपसे इस धर्मकी प्रतीति है। इस कारण अवक्तव्यत्व नामका अन्य धर्म है ही, तब उसके साथ प्रथम द्वितीय और तृतीय भगोका मेल करके सयोगी भग बनाया जाना युक्तिसगत है। तब किस तरहसे प्रतीति होती है इन सात भगोमे सो भी सुनो ! प्रथम भगमें तो प्रधानरूपसे सत्वकी प्रतीति है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है, द्वितीय भङ्गमें प्रधानरूपसे असत्वकी प्रतीति है कि पदार्थमे अन्य पदार्थोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे असत्व है। तृतीय भङ्गमे क्रमार्पित सत्व और असत्वकी प्रतीति है। ये पदार्थ स्वरूपसे सत् हैं पररूपसे असत् हैं, चतुर्थ भङ्गमे अवक्तव्यत्व धर्म की प्रतीति है अर्थात् यह सब कुछ एक साथ कहे जानेके लिए अशक्य है। पञ्चम भङ्गमे सत्व सहित अवक्तव्यपनेकी प्रतीति है। छठवें भङ्गमें असत्व सहित अवक्तव्यपने की प्रतीति है। ७ वें भगमे क्रमसे प्रतीत हुए सत्व असत्व धर्मसे युक्त अवक्तव्यत्व धर्म की प्रतीति है। क्योकि प्रथम आदिक भगोंमें अन्य शेष धर्मका गौण रूपसे निराय बना हुआ है। तो ये ७ भग प्रधानताकी दृष्टिसे कहे गए हैं। यदि इन भगोमें जो एक विषय आया है धर्म, उसका ही एकान्तसे प्रतिपादन किया जाय तो वह अप्रमाण हो जायगा, कुनय हो जायगा। इस कारणसे अन्य धर्मका गौण भावसे प्रतीति रखना और उस धर्ममें जो विषय किया गया धर्म है उसकी प्रधानतासे प्रतीति रखना इस पद्धतिसे इन सप्तभगोके नयवादके व्यवहारकी प्रसिद्धि होती है।

स्याद वक्तव्य नामका आठवाँ भङ्ग बनानेकी शका और उसका निराकरण—अब यहाँ शकाकार कहता है कि वस्तुमे जैसे अवक्तव्यको अन्य धर्म मान लिया इसी तरहसे वक्तव्य भी एक धर्म मान लीजिए याने वस्तु अवक्तव्य है, बोलने मे नही आ सकता। वस्तुके उन धर्मोंका प्रतिपादन एक साथ नहीं किया जा सकना यो वस्तुमें अवक्तव्यपना है। तो आखिर वक्तव्यपना भी तो है। किन्ही भी भगोके रूपमें वस्तुका प्रतिपादन भी तो किया जा सकता है। तो वक्तव्य नामका एक धर्म और मानना चाहिए। तब सप्तभगीके स्थानमें अष्टम भगोका प्रयोग करना चाहिए। ७ भग तो ये ही हैं जो अब तक बनाये गए और ८वा भग बन गया स्याद् वक्तव्य

स्वरूपसे सत्त्व है उस कालमें दर्शन चारित्र आदिक स्वरूपसे भी तो सत्त्व है। तो अन्यस्वरूपसे भी दूसरा सत्त्व सम्भव है। फिर कैसे कहा गया कि एक वस्तुमें दो सत्त्व सम्भव नहीं होते ? उसके समाधानमें यह समझना चाहिए कि दूसरा सत्त्व सम्भव है। पर पर्यायदृष्टिसे अथवा विशेष दृष्टिसे अथवा विशेषदृष्टिसे उसका जब वर्णन करते हैं तो उसका प्रतिपक्षभूत असत्त्व भी आ जाता है। तो अब यहाँ दूसरी सप्तभंगी सिद्ध हो गयी। इस कारण यह बल हुना नहीं दी जा सकती कि वस्तुमें जो एक विवक्षित सत्त्व कहा गया है उसके अतिरिक्त अन्य गुणोंकी अपेक्षासे सत्त्व मानने की बात तो सही है किन्तु जहाँ अन्य गुणकी अपेक्षासे सत्त्व माना वहाँ उस हीकी सप्तभंगी बन जाती है। अतः यह निश्चित हो गया कि जिस धर्मको लेकर सप्तभंगी कहा जा रहा है। अस्तित्व धर्म बताया जा रहा है उस प्रसंगका अस्तित्व दो बार भङ्गमें न आना चाहिए इनमें दृष्टिभेदके अन्तरसे तो दुबारा धर्मको कहा जा सकता मगर उसी दृष्टिको लेकर अन्य भंगमें मिलाकर दो सत्त्व नहीं बताये जा सकते और इसी तरह दो असत्त्व भी नहीं बताये जा सकते।

एक वस्तुमें एक अपेक्षासे दो असत्त्वोंकी असंभवता होनेसे द्वितीय तृतीयके संयोगके भंगकी अनुपपत्ति—कोई ऐसा सोचे कि पहिले और तीसरे भंग मिलकर भंग नहीं बनते तो न बनें दूसरे और तीसरेका मिलाकर बना लिए जायेंगे। दूसरा भंग है स्याद् नास्ति और तीसरा भंग है स्याद अस्ति नास्ति। तो इस नास्तिका, द्वितीय भंगका अस्ति नास्तिके साथ याने तृतीय भंगके साथ संयोग कर दिया जायगा। तो यह भी शंका भी समीचीन नहीं है। कारण—जैसे कि एक वस्तुमें दो सत्त्व सम्भव नहीं है इसी प्रकार एक वस्तुमें दो असत्त्व भी सम्भव नहीं हैं।

शंकासमाधानपूर्वक अन्तिम सप्तभंगीके अन्तिम सप्तभंगीके अन्तिम तीन भङ्गोंकी उत्पत्तिका प्रतिपादन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि फिर तो प्रथम और चतुर्थ भङ्गका द्वितीय और चतुर्थ धर्मका तथा तृतीय और चतुर्थ धर्मका संयोग मिलाकर जो तीन धर्म कहे वे भी न कहे जा सकेंगे। जैसे पहिले और तीसरे धर्मका संयोग नहीं बना दूसरे और तीसरे धर्मका संयोग नहीं बना ऐसे ही अन्य धर्मोंका भी संयोग न बने फिर यह भंग किस तरह बन सकेगा ? समाधान इस शंकाका यह है कि प्रथम धर्म है स्याद अस्ति, चतुर्थ धर्म है स्याद अवक्तव्य तो चौथा जो अवक्तव्यरूप धर्म है उसमें सत्त्व और असत्त्वका विचार नहीं बन रहा। अवक्तव्यरूप धर्ममें तो यह दृष्टि है कि वहाँ दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते, उनका युगपत् प्रतिपादन किया जाना अशक्य है। इसी आधारपर अवक्तव्यत्व धर्म है। सो इसका विषय सत्त्व और असत्त्वसे निराला है। अत. इस अवक्तव्यत्व भंगके साथ सत्त्वका, असत्त्वका और क्रमसे अर्पित सत्त्व असत्त्वका संयोग कराये जा सकता है। अतः शेष संयोगी भंग ३ बननेमें कोई बाधा नहीं आती। अवक्तव्यत्व शब्दके द्वारा

यहाँ शंकाकार कहता है कि स्यात् शब्दकी तरह कथंचित् शब्दके द्वारा भी अनेकान्त का प्रतिपादन हो गया, तब फिर सप्तभंगीमें सत् आदिकका वचन कहना निरर्थक है। जैसे कि सप्तभंगीका रूप इस प्रकार है कि स्यात् जीव सत् तो स्यात् शब्दके कहते ही एकदम सब बच हो जाता है। यह स्यात् ऐसा प्रकाशक शब्द है कि जो वक्तव्य है वह स्यात् शब्दके सुनते ही प्रतिपादित हो जाता है। फिर सत् आदिकका वचन कहना निरर्थक है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सामान्यसे अनेकान्तका ही तो बोध हुआ स्यात् शब्दके द्वारा। पर किस प्रकारका अनेकान्त है? कौन सा धर्म है, ऐसी विशेष जानकारीकी इच्छा रखने वाले पुरुषोंके लिए सत् आदिक विशेषोंका प्रयोग करना आवश्यक है। सामान्यसे प्रतिपादन होनेपर भी विशेषकी चाह रखने वालोंके लिए विशेषका प्रयोग करना ही चाहिए। जैसे वृक्ष ऐसा सामान्यरूपसे कह दिया तो उसमें विशेष जानकारीके लिये वट आदिक विशेष शब्दोंका प्रयोग करना होता है। तो स्यात् शब्द यद्यपि ऐसा सूचक शब्द है कि उससे ही अनेकान्त ध्वनित हो जाता है किन्तु वे अनेक अनन्त धर्म किस प्रकारके हैं इनका वर्णन करानेके लिये विशेष शब्द बोला जाता है। और, साथ ही यह समझना चाहिए कि विशेष धर्मका प्रतिपादन किए बिना स्यात् शब्द क्या कहता है, किसका प्रकाश करता है, यह भी प्रकट नहीं हो सकता। अतः सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके शब्दोंकी योजनासे ही वाक्य बनता है। स्यात् शब्द द्योतक भी है और वाचक भी है। तो वाचक पक्षकी बात अब तक वर्णन की गई अब द्योतक पक्षको लेकर भी यदि विचार करें तो वहाँ सत् आदिकका वचन कहना तो न्यायप्राप्त ही है।

द्योतकत्वके नाते भी विशेष धर्मके प्रयोगके साथ साथ स्यात् शब्दके वचनकी आवश्यकता द्योतकका अर्थ इतना ही तो है कि किसी कही हुई चीजका द्योतन करदे। सत् आदिक वचनके द्वारा कहा गया जो अनेकान्त तत्त्व है उसका स्यात् शब्दके द्वारा अथवा कथंचित शब्दके द्वारा प्रकाश होना है, यदि कथंचित शब्द द्वारा अनेकान्तका प्रकाश न हो तो सर्वथा एकान्तकी शंकाका निराकरण न हो सकेगा। और जब अनेकान्तकी प्रतिपत्ति न हो सकेगी, तो जैसे एवकार शब्दका प्रयोग किसी वक्तव्यका अवधारण करनेके लिए होता है यानी 'ही' शब्दका प्रयोग कहाँ होता है? जहाँ जो बात कही गई है उस बातका भले प्रकार निश्चय कराया जाता हो तो 'ही' उसके निश्चयका प्रकाश करता है। इसी प्रकार जो धर्म कहा गया है इस धर्मका द्योतन करता है कथंचित् शब्द। तब कथंचित् शब्दके साथ-साथ सत् आदिकका वचन कहना भी युक्तिसंगत ही है। शंकाकार कहता है कि कथंचित् शब्द न भी कहा जाय तो भी चूंकि वस्तुकी अनेकरूपताको सिद्ध किया जा रहा है उस सामर्थ्यसे स्वयं ही सिद्ध हो जायगा कि यह बात किसी अपेक्षासे कही जा रही है। फिर कथंचित् शब्द कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? जैसे कि एवकार शब्दका प्रयोग न भी कहा जाय तब भी उसका अवधारण जान लिया जाता है। अनेक वाक्य

अर्थात् वस्तु धर्म कहा भी जा सकता है। फिर ७ प्रकारके ही धर्म हों और सप्तभंगी के इस तरहसे ७ धर्म ही विषय हों यह बात तो सिद्ध नहीं हुई। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि पद्धतिसे तो सप्तभंगीको ही प्रमाण सिद्ध है। अब यहाँ शंकामें जो वक्तव्य धर्मकी बात कही गई है याने सत्त्वरूपसे कहा जाने योग्य धर्म भी है तो जब भी वक्तव्यत्व धर्म लेते हैं तो उसका प्रथम उत्तर तो यह है कि अवक्तव्य धर्मको छोड़कर जो शेष भंग बताये गए हैं वे सब वक्तव्यत्व धर्ममें ही आ गए। स्यात् अस्ति कहा तो वस्तु धर्म वक्तव्य ही बना। तो वक्तव्य इन प्रयुक्त भंगमें शामिल हो है। सामान्यरूपसे वह सब धर्म वक्तव्य है। अब कहा कि वक्तव्य नाम करके ही पद्धति रूपसे एक धर्म और बढ़ाना चाहिए तब तो इसमें अनवस्था आ जायगी। अथवा मान लो दोनों धर्मोंकी सिद्धि है। वक्तव्यपना भी है और अवक्तव्यपना भी है लेकिन इन दोनों धर्मोंके साथ विधि और प्रतिषेधकी कल्पना बनेगी सो उनमें सत्त्व असत्त्वकी तरह एक नई सप्तभंगी बन जायगी स्याद् वक्तव्य, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् उभय आदिक रूपसे सो इस क्रममें भी सप्तभंगी बनेगी। तो अब अष्टभंगी होनेका अवकाश तो न रहा और न ७ प्रकारके धर्मके नियमका घात बन सका। इस कारण यह बात युक्तिसंगत ही कही गई है कि वस्तु धर्मके विषयभूत धर्म ७ हैं, अतएव ७ प्रकारसे ही संशय हो सकता है और उस कारणसे ही ७ प्रकारकी जिज्ञासा बन सकती है और ७ प्रकारके इसी कारण प्रश्न बन सकते हैं। सो ७ प्रकारके प्रश्न एक वस्तुमें ७ प्रकारके भंगोंके नियमका कारण बनता है। इस कारण यह बात आचार्य संतोंने समीचीन ही कही है कि वाणी सप्तभंगी रूप है और वह सत्त्वादिक धर्मोंको विषय करने वाली है।

सप्तभंगीकी स्याद्वादामृतपूरितता—सत्त्वादिक धर्मको विषय करने वाली सप्तभंगी वाणीमें स्याद्वादरूप अमृत भरा हुआ है। यहाँ स्यात् वचनके अर्थको कथंचित् शब्दसे कहा गया है। उस कथंचित् शब्दके द्वारा जो अनेकान्तका द्योतक है अथवा अनेकान्तका वाचक है उस कथंचित् शब्दके द्वारा सप्तभंगीमें एकान्तका निराकरण किया गया है। जिस धर्मका कथन किया गया है उस धर्मका वहाँ एकान्त नहीं है इस बातका प्रकाश स्यात् शब्द द्वारा होता है। स्यात् शब्दके कहनेसे जो बात कही गई वह तो प्रकट है ही, किन्तु यह भी ध्वनित होता है कि इसका प्रतिपक्षरूप धर्म भी इस वस्तुमें है जिसकी गौणरूपसे इस भंगमें सिद्धि की गई है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक हैं, उनमें जब किसी एककी मुख्यता होती है तो प्रतिपादन तो उस मुख्यका है किन्तु अन्य गौणधर्मका भी वहाँ प्रकाश रहता है। इस कारण सप्तभंगीकी वाणीमें स्याद्वादका अमृत होनेसे ही उत्कृष्टता है और हितरूपता है जिसके उपदेशसे यह जीव कभी भी उन्मार्गमें पतित नहीं हो सकता।

स्यात् शब्दके प्रयोगके साथ विशेषधर्मके प्रयोगकी आवश्यकता—

फिर वहाँ वह धारा न रहेगी, एक सतान न रहेगा। एक स्वात्मामें जो अवग्रह आदि ज्ञान हो रहे हैं वहाँ भी सतानभेद हो जायगा। जैसे अन्य-अन्य जीवोंमें जो ज्ञान चलते हैं उन सब ज्ञानो सतानभेद हैं एक पुरुषने कुछ जाना दूसरे पुरुषने कुछ जाना, ऐसे अनेक पुरुषोंने जो कुछ जाना है वह सब ज्ञान एक सतानमें तो नहीं कहलाता और इसी कारण एक पुरुषके ज्ञानका स्मरण दूसरे पुरुषको नहीं हो पाता। लेकिन यहाँ एक स्वात्मामें जो अवग्रह ईहा आदिक ज्ञान होते हैं वे तो एक सतानमें हैं अर्थात् एक जीवमें है और उस जीवके वहा अवग्रह ईहा आदिक परिणमन हैं। यदि इन अवग्रह आदिक ज्ञानोका एकान्तभेद कर दिया जाय तो अन्य जीवोकी तरह निज प्रवाहमें सतानभेद हो जायगा। अर्थात् उनके आधारभूत जो जीव हैं उनमें फिर अवग्रह आदि का अन्वय न बन सकेगा।

एक सतानमे, एक आधारमे दर्शन अवग्रह आदिकी प्रतीतिसिद्धता— यदि शकाकार यह कहे कि सतान भेद होता है तो होने दो अवग्रह ईहा आदिक वे भिन्न-भिन्न जगह हैं, एक जगह नहीं, एक सतानमें नहीं। यदि यह बात सिद्ध होती है तो होने दो। सो शकाकार ऐसा कह नहीं सकता क्योंकि अनुभव ही यह बता रहा है कि अवग्रह आदिक ज्ञानोसे जो कुछ जाना गया है वह सब एक सतानमे जाना गया है, ऐसा अनुभव होता है कि उसने जो कुछ विषय और इन्द्रियके सन्निधानके समय सम्बन्धके समय देखा वही वर्ण और आकार आदिक सामान्याकारमें जाना और वही उसके द्वारा प्रतिनियत विशेष आकाररूपमे निश्चित् किया गया और वही उसके द्वारा उस विशेषाकार रूपमें अवधारित किया गया और वही उसके द्वारा ऐसा नर्णीत हुआ कि ज्ञानान्तरमें भी स्मृतिका वह कारण बन जाय और उसका ही कालान्तरमें स्मरण भी किया गया। उसके ही द्वारा वही 'तदेव इद" आदिक आकार रूपसे प्रत्यभिज्ञात हुआ, और जो इस प्रकार है, जो यो कार्य करने वाला है वह उस प्रकार ही होता है यो तर्क द्वारा भी समझा गया और कार्य वगैरह देख करके वही उसके द्वारा अनुमान किया गया और उस हीको शब्द योजनासे दूसरेको समझाया है। तो इस तरह इन सब प्रतिभासोके सम्बन्धमे एक सतानमे ही निर्णय हो रहा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि अवग्रह ईहा आदिक अत्यन्त भिन्न हैं, इनकी सतान जुदी-जुदी है। ये सब एक सतानमें हैं एक जीवमें ही ये सब प्रकट होते हैं।

वासनाप्रबोधसे अनुसन्धानका अवबोध बताकर शकाकार द्वारा जीव तत्त्वके निराकरणका विफल प्रयास— अब यहाँ शकाकार कहता है कि अवग्रह ईहा आदिकके सम्बन्धमें जो ऐसा बोध चलता है कि उसे ही देखा, उस हीमे मैंने सुना उस हीको मैंने समझा उस हीका मैंने स्मरण किया, उस हीको मैंने तर्क ज्ञानसे जाना उस हीको मैंने अनुमान प्रमाणसे निश्चित् किया आदिक जो एक सतान सम्बन्धी निर्णय होता है वह उस प्रकारकी वासनाके उठनेसे होता है। चूँकि वहाँ प्रत्यभिज्ञान

बोले जाते हैं। वे सब अपने अर्थका निश्चय ही तो कराते हैं। प्रत्येक वाक्योंमें एव शब्द बोलनेकी कहाँ प्रक्रिया है ? समाधानमें कहते हैं कि उक्त शंका इस कारण ठीक नहीं है कि शिष्यजनोंके प्रति, जिनके प्रयोजनके लिए वर्णन किया जा रहा है जो स्याद्वाद न्यायके समझनेमें प्रवीण नहीं हैं उनको स्यात् कथंचित् शब्दके प्रयोग बिना स्याद्वाद न्यायका परिचय नहीं हो सकता है, इस कारण स्याद् वचन कहना वहाँ अवश्यभावी ही होता है। हाँ जो पुरुष स्याद्वादकी नीतिके समझनेमें कुशल हैं उनके लिए कथंचित् शब्दका प्रयोग न भी किया जाय तब भी अभीष्ट है। सब कुछ अनेकान्तात्मक पदार्थ है। उसका जब प्रमाणसे साधन कर दिया गया तो वहाँ इतना ही कह दिया जाय कि सर्व सत् तो इतनेमें ही यह बात समझमें आ जाती है कि समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक है, किन्तु जिनको प्रथम बोध कराया जा रहा है ऐसे शिष्यजनों के प्रति पूर्वापर समस्त अर्थको समझानेके लिए स्यात् कथंचित् आदिक शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक है। इस प्रकार सप्तभंगीमें स्यात् सामान्य शब्दका प्रयोग और सत् आदिक विशेष शब्दोंका प्रयोग करनेपर ही सप्तभंगीका स्वरूप सिद्ध होता है।

दर्शनक्षण, अवग्रहक्षण आदि क्षणोंके अलावा अन्य किसी जीवके अभावका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—यहाँ क्षणिकवादी शंका करता है कि यह बताना कि जीवादिक पदार्थ सत् ही हैं कथंचित्, यह बात अशुद्ध है, क्योंकि जीव पदार्थ अलगसे कुछ भी नहीं है। जो दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक प्रतिभास विशेष होते हैं वे ही पदार्थ हैं, उनको छोड़कर जीवादिक पदार्थ अन्य कुछ नहीं पाये जाते। विशेष और विषयीका जो सन्निपात होता है अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्बन्ध होना है तत्क्षण जो सामान्य प्रतिभास है वह तो दर्शन है उसके पश्चात् जो वस्तुके सम्बन्धमें कुछ जानकारी बनी वह अवग्रह है इसके पश्चात् उस वस्तुमें अन्य शंकाओं का व्युच्छेद करता हुआ जो परिज्ञान होता है वह ईहा है। उसका ही पूर्ण निश्चय होना अवाय है, फिर कभी न भूल सकेगा इस प्रकारका विशेष परिज्ञान होना धारणा है आदिक रूपसे जो जैन शासनमें विवरण किया है वह प्रत्येक क्षण अर्थात् दर्शनक्षण, अवग्रहक्षण ये ही स्वयं परिपूर्ण तत्त्व हैं। इनको छोड़कर जीव अन्य कुछ नहीं है अतः जीव असत् है इसको कथंचित् सत कहना असिद्ध है।

दर्शन अवग्रह आदिक परिणमनोंकी एक स्वजीव आधारमें सिद्धि करते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि अवग्रह ईहा आदिक ये प्रतिभास तो हैं किन्तु इनको यदि स्वलक्षणके भेदसे एकदम भिन्न भिन्न पदार्थ ही मान लिया जाय कि जब इनका लक्षण जुदा-जुदा है तो ये परिपूर्ण पदार्थ ही जुदे-जुदे हैं। इस तरह इनमें भेदका एकान्त कर दिया जाय तब तो अवग्रह जिस वस्तुमें एक धारासे चल रहे हैं कि ईहा, अवाय आदिक ज्ञान
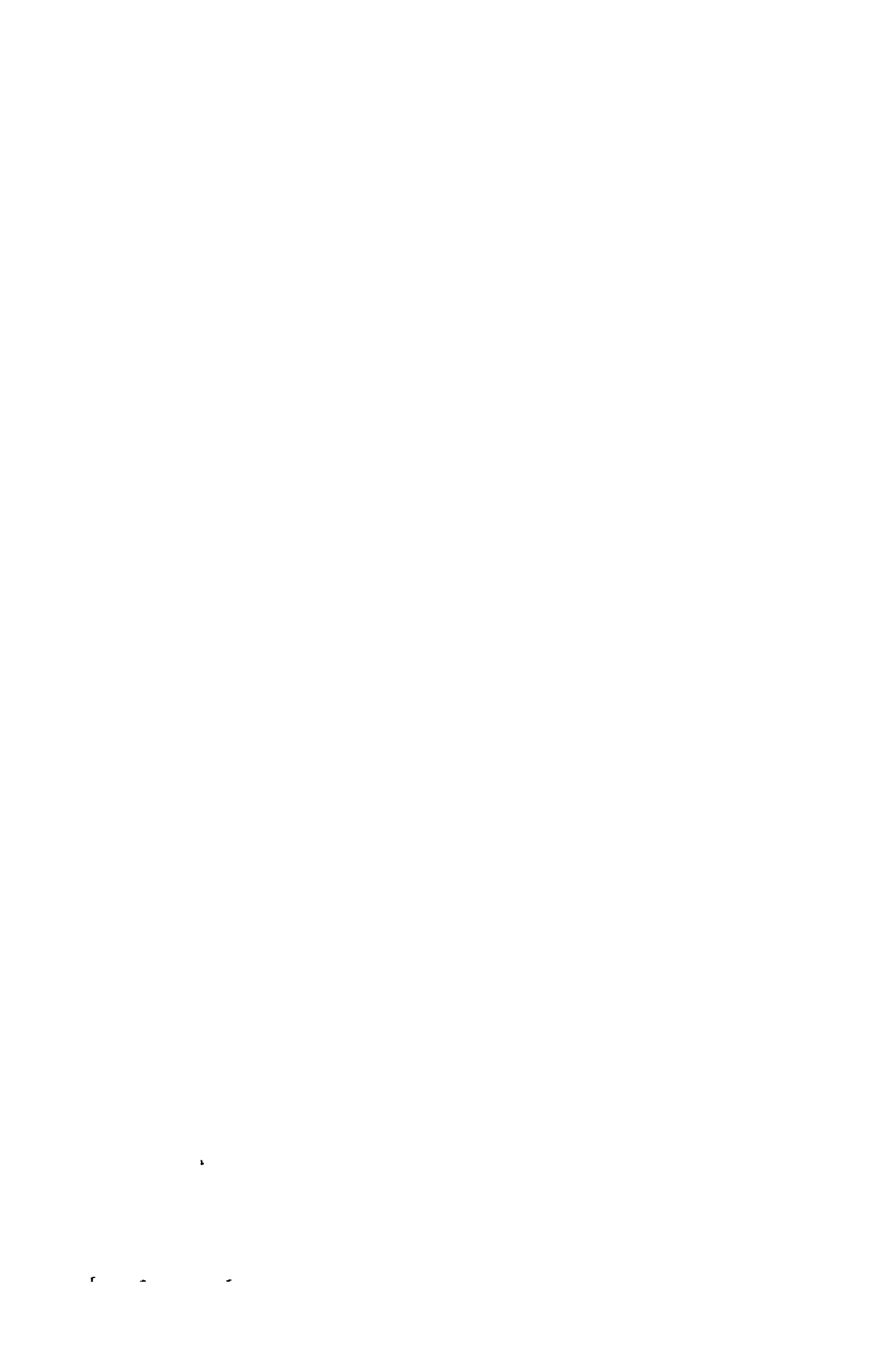
की बुद्धि उस प्रकारकी वासनाके प्रबोधसे जग रही है अतएव केवल संस्कारवश ही यह धारणा बनती है कि उन सब ज्ञानोंमें कोई एक ही जीव है, जिसकी कि ये परिणतियाँ हैं, वे सब प्रतिभासक्षण भिन्न-भिन्न हैं और पृथक पृथक तत्त्व हैं। शंकाकार का यह कथन आशंका परिश्रममात्र है क्योंकि वासनाप्रबोधके स्वरूपपर विचार करने से यह शंका निर्मूल हो जायगी।

दर्शन अवग्रहादिसे वासनाको भिन्न माननेपर उनके अनुसन्धानकी अनुपपत्तिका प्रसङ्ग —उक्त शंकाके उत्तरमें यह पूछा जा रहा है कि अनुसंधान वासना जिसको शंकाकार कह रहे हैं तो वह अनुसंधीयमान अर्थात् प्रत्यभिज्ञानके द्वारा विषय किए गए दर्शन आदिकसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि कहो कि दर्शन, अवग्रह आदिकसे वह वासना भिन्न है तो अन्य संतानमें जैसे दर्शन, अवग्रह आदिककी वासना नहीं जगती उसी प्रकार स्वसंतानमें भी अनुसंधानका ज्ञान न बन सका। अब तो इस वासनाको भी अवग्रह, ईहा आदिकसे भिन्न मान लिया गया है। तो जैसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंके ज्ञानमें वासना नहीं बना करती, कोई कुछ जान रहा कोई कुछ जान रहा, उनका ज्ञान भिन्न-भिन्न है, उन सब ज्ञानोंमें एकताकी वासना नहीं बनती उसी प्रकार एक संतानमें भी उत्पन्न हुए दर्शन, अवग्रह आदिकमें भी वासना नहीं बनेगी, क्योंकि जैसे अन्य-अन्य पुरुषोंके ज्ञानोंमें भिन्नता है उसी प्रकार यहाँ भी अवग्रह आदिक ज्ञानोंको सर्वथा भिन्न मान लिया गया।

दर्शन अवग्रहादिसे वासनाको अभिन्न माननेपर भी निरंशवादमें अनुसंधानकी अनुपपत्तिका प्रसंग —यदि शंकाकार यह कहे कि दर्शन आदिकसे वह अनुसंधान वासना अभिन्न है तब तो जैसे वे दर्शन अवग्रह आदिक भिन्न हैं नाना हैं तो जितने दर्शन आदिक हैं उतनी ही वे वासनायें बन जायेंगी, क्योंकि जो भिन्नसे अभिन्न होते हैं वे अभिन्न नहीं कहलाते किन्तु भिन्न ही कहलाते हैं। दर्शन, अवग्रह आदिक अनेक प्रकारके जुदे-जुदे ही पदार्थ मान लिए गए हैं। तो अब उन-उन पदार्थोंसे जो अभिन्न होगा वह उन ही रूप तो हो गया। अब सबमें अभेदरूपता न आ पायेगी, किन्तु जितने ही वे प्रतिभास माने गए हैं उतने ही वे उन उनकी वासना बन जायगी। और ऐसा स्वयं क्षणिकवादियोंने कहा है कि भिन्नसे अभिन्न जो हो वह अभिन्न नहीं कहलाता। तो जब वे वासनायें भी उतनी प्रकारकी बन गईं, तब वासना के प्रबोधसे दर्शन अवग्रह आदिक प्रतिभासोंमें एक अनुसंधान ज्ञान कैसे बन सकता है? इस कारण यह कहना कि दर्शन अवग्रह आदिक ज्ञानोंमें अनुसंधानकी वासना बननेके कारण एक संतान जैसा बोध होता है, वस्तुतः वे दर्शन, अवग्रह आदिक प्रतिभास जुदे-जुदे ही हैं—और वे स्वयं परिपूर्ण पदार्थ हैं। उनसे भिन्न जीव नाम का कोई सत् नहीं है। यह कथन क्षणिकवाद सिद्धान्त मानने वालेका अयुक्त है।

दर्शन अवग्रह आदि प्रतिभासोंमें वासनाको कथंचित् अभेद माननेमें

निरन्तरताकी अविशेषता है तो सतानका भेद भी कैसे सिद्ध होगा अथवा समझिये कि एक जीवने जो दर्शन अवग्रह स्मरण आदिक चल रहे हैं वे भी परस्पर भिन्न हैं और निरन्तरतासे चल रहे हैं और सुगतका ज्ञान भी निरन्तरतासे चल रहा है अथवा अन्य जीवोका ज्ञान भी निरन्तरतासे चल रहा है तो वहाँ इस बातका भेद डालने वाला क्या है कि एक जीवमे निरन्तरतासे चलने वाले ज्ञानोमें तो सतति मान ली गई और अनेक पुरुषोके निरन्तर चलने वाले ज्ञानक्षणोमे सतति नही मानी जाती इस भेदका नियम करने वाला तो अभेद परिणाम ही है। तादात्म्यको छोड़कर अन्य कोई उपाय ऐसा नहीं है जो वहाँ यह भेद डाल सके कि यह तो भिन्न सतानका ज्ञानक्षण है और यह एक सतानमे होने वाला ज्ञानक्षण है।

ज्ञानक्षणोंमे, सन्तानियोमे सर्वथा भेद सिद्ध करनेका शकाकारका असफल प्रयास अब शकाकार कहता है कि भाई सतानियोका अर्थात् ज्ञानक्षणोका तो परस्परमें भेद परिणाम ही है, वहाँ अभेद परिणाम नहीं किया जा सकता। यदि उन अवग्रह स्मरण आदिक ज्ञानोमे अभेद परिणाम कर दिया जायगा तो सकर होने का प्रसग हो जायगा। सब एकमेक हो जायगा। फिर उनमें स्वलक्षण भी न रह सकेगा और यह बोध भी न हो सकेगा कि यह अवग्रह है, यह स्मरण है आदिक दोष आनेके कारण यह मानना होगा कि ज्ञान क्षणोमे तो भेद परिणमन ही है, अभेद परिणाम नही है। इस शकाके समाधानमें कहते हैं कि इन सब ज्ञानक्षणोमे और अर्थ क्षणोमे जिस स्वरूपसे अभेद है आत्माके साथ उस स्वरूपसे सकरपना माना ही गया है। जैसे यह अर्थक्षण और यह आत्मा सत्त्वकी अपेक्षा एक है, द्रव्यत्वकी अपेक्षा एक है, यह समस्त ज्ञानक्षण चेतनत्वकी अपेक्षा एक है यदि जिस स्वरूपसे अभेद है उस स्वरूपसे साकर्य न माना जाय तो हर्ष विषाद आदिक नाना प्रकारके अनुभव बन न सकेंगे, और ऐसा अनुभव होता है कि जैसे वायु या धूप आदिकके विषयमें मेरे पहिले हर्ष होता था उस हीमे अब मुझे द्वेष डर आदिक हो रहा है। जो धूप शीत ऋतुमें हर्षकारी हो रही थी वही धूप अब गर्मीके दिनोमें दुःखकारी हो रही है। तो एक पदार्थके विषयमे भी हर्ष विषाद आदिकका पूर्वापर-अनुभव होता है। मैं ही पहिले हर्षवान था और वही मैं अब विषाद द्वेष आदिक वाला हो रहा हू अन्य कोई नही। इसी प्रकार जो क्रमसे नाना प्रकारके अनुभवोका परिज्ञान होता है-वह बाधा रहित है।

जीवतत्त्वके माननेपर अनुसन्धान एक सन्तान आदि सब व्यवस्थाओंकी सिद्धि—अनुसन्धान, एकसन्तान, व्यवस्था आदि सब बात इसी बात पर ही तो निर्भर है कि यह जीव एक है और है वह चैतन्य स्वरूप, निरन्तर परिणमने वाला, सो प्रति समय ज्ञानका परिणमन करता चला आता है, नवीन-नवीन कर्म इसमे उत्पन्न होते रहते हैं। तो एक जीवके ज्ञान परिणमन होनेके कारण वहाँ प्रत्यभिज्ञान बनता है कि वही मैं पहिले हर्षवान था, वही मैं अब विषादवान हो रहा हू, इससे ही

वह हो मैं सुखी होता हूँ। इनसे वर्तने वाले सुख आदिकका आत्माके साथ तादात्म्य न माननेपर व मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिकका भी तादात्म्य न माननेपर अर्थात् वे एक आत्मामें परिणमन हुए हैं ऐसा तादात्म्य न माननेको एकान्त करनेपर उनकी संतति न बन सकेगी। जैसे कि मैं सुख हूँ वही मैं दुखी हूँ, यह संतति नहीं बनती अनेक जीवोंमें जैसे इन पर्यायोंकी संतति नहीं बनती, उस ही प्रकार एक जीवमें भी दर्शन, अवग्रह आदिकसे तादात्म्य न माननेपर अर्थात् एक आत्माके साथ इसका तादात्म्य है, ऐसा स्वीकार न करनेपर संतति न हो सकेगी।

अव्यभिचारी कार्यकारणभाव, नैरन्तर्य व समर्प्यसमर्थकभावके कारण सुखादिकोकी व मतिज्ञानादिकोंकी एक संतति सिद्ध करनेका शङ्काकार द्वारा प्रयास—यहां शंकाकार कहता है कि सुख आदिक और मतिश्रुत आदिकका निरन्तर वर्तना चलता रहता है उनके बीच काल आदिकका व्यवधान नहीं है कि प्रतिभास किसी समय रुक गया हो और कुछ क्षण बाद फिर प्रतिभास शुरू हुआ हो। तो काल आदिकका व्यवधान न होनेसे वहाँ अव्यभिचारी कार्यकारण भाव है इस कारण तथा वहाँ समर्प्य समर्थक भाव है अतएव भेद नहीं जाना जाता। यों एक संतति बन जाती है। जैसे सुख दुःख निरन्तर चलते ही रहते हैं। कोई बीचमें ऐसी स्थिति नहीं आती कि सुख या दुःखका इनमेंसे किसी भी परिणतिका अभाव हो, निरन्तर चलता है। ऐसे ही ज्ञान प्रतिभास भी निरन्तर चलता है। उस धाराके बीच किसी समय कोई ज्ञान न हो यह नहीं बनता। सो यों अव्यभिचारी कार्यकारण भाव वहाँ बन गया और साथ ही वहां पूर्व क्षण उत्तर क्षणको अपना स्वरूप समर्पित करके नष्ट होता है। सो यों प्रत्येक क्षण प्रत्येक ज्ञान अगले समयके ज्ञानक्षणको अपना स्वरूप सौंप कर नष्ट हुआ करता है, इस कारण वे सब ज्ञानक्षण भिन्न-भिन्न होकर भी उनका भेद नहीं समझा जा पाता। यों उनकी एक संतति होती है। पर अनेक पुरुषोंमें न तो अव्यभिचारी कार्यकारण भाव है और न समर्प्य समर्पक भाव है इस कारणसे वहाँ एक संतति होनेका प्रसंग नहीं आता। एक पुरुषका ज्ञानक्षण जब नष्ट हो तब दूसरे पुरुषके ज्ञानक्षणको अपना स्वरूप सौंप दे यह बात नहीं हुआ करती। अतः यह दोष न देना चाहिए कि जैसे भिन्न भिन्न ज्ञानक्षणोंका भिन्न भिन्न पुरुषोंमें संतान नहीं बनता इसी प्रकार इन भिन्न-भिन्न ज्ञानक्षणोंका एक संतानमें पतन नहीं होता, यह बात नहीं कही जा सकती।

जीव सत्त्व माने विना शंकाकारोक्त कारणोंसे ज्ञानक्षणोंकी एकसंतति सिद्ध करनेकी असमर्थता—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यहां सुख दुःख आदिकका और मतिश्रुत आदिक ज्ञानोंका निरन्तर वर्तना चल रहा है ऐसे ही सुगत आदिकोंमें भी निरन्तरता है, सभीके ज्ञानोंमें निरन्तरता है सो निरन्तरताको सर्वत्र समान है, चाहे वे सुगतके ज्ञानक्षण हैं या अन्य साधारणजनोंके ज्ञानक्षण हों जब उनमें

अभाव हो जायगा। तब जैसे एक अंशमें परिहारकी स्थिति नहीं होती उसी प्रकार स्थूल और चित्र विविक्तमें परस्पर परिहारकी स्थिति नहीं होती वहाँ एकस्वरूपता आ जाती है। फिर भेद नहीं हो सकता। तो तत्त्वोंमें लाक्षणिक परस्पर भिन्नता न हो तो ग्राह्य ग्राहकभेद और श्वेत आदिक प्रतिभास अवयव परमाणु सम्वेदन, इन सबमें एक परमाणु स्वरूप होनेकी प्राप्ति आ जायगी।

पदार्थस्थितिकी परस्परपरिहारपूर्वकता—पदार्थकी स्थिति अन्यके परिहारपूर्वक रहती है। जैसे जीव परिहार अजीव स्थितिको बनाता है, घटपरिहार पटस्थितिको बनाता है, नीलपरिहार अनीलस्थितिको बनाता है। जो कोई भी लोग जो मन्तव्य मानते हैं उसके विरोधका परिहार उस मन्तव्यको सिद्ध करता है। तो इस तरह यह सिद्ध होता है कि पदार्थमात्र सत्रूप ही नहीं है किन्तु वह प्रतिपक्षके अभावरूप भी है। यदि ऐसा न माना जाय तो जो यह भेद नजर आता है—कोई पदार्थ स्थूल है और चितकबरा भी है जैसे कि मोटी गाय, और हो चितकबरी तो वहाँ दो बातें अलग-अलग प्रतीत होती हैं कि यह मोटी है और चितकबरी है। तब इस तरहका दर्शन न होना चाहिए क्योंकि परस्पर परिहार तो माना नहीं जा रहा। पदार्थ सत्रूप ही है, सर्वथा सत् है इस प्रकारका आग्रह किया जा रहा है। तो वहाँ यह भेद नजर न आ सकेगा क्योंकि स्थूलतामें सबल आदिकका परिहार है और सबलमें स्थूल आदिकका परिहार है, यह तो समझा ही नहीं जा रहा। तो जहाँ अन्यका परिहार नहीं माना जाता कथंचित् असत्त्व नहीं माना जाता तो वहाँ तो सब कुछ एक हो गया और जैसे एक अंशमें एक परमाणुमें कोई दो स्वरूप नहीं देखे जा सकते इसी प्रकार सब पदार्थोंमें भी परस्पर विविक्तता नहीं नजर आ सकेगी। एक परमाणु स्थूलरूपसे अथवा चितकबरे रूपसे देखा नहीं जा सकता है क्योंकि वह निरंश है, सूक्ष्म है, एक अंशरूप है, एकमें यह भेद नहीं नजर आ सकता। तो ऐसे ही जब परस्पर परिहार न माना जाय वस्तुमें अन्य वस्तुका असत्त्व न माना जाय तो वे सब एक एक अंशरूप हो जायेंगे; फिर वहाँ कुछ भी स्वरूप न बन सकेगा। इससे सिद्ध है कि सर्व पदार्थोंमें सम्वेदनोंमें अन्य सजातीय विजातीयका अभाव है। जैसे एक यह मैं आत्मा हूं तो इस मुझ आत्मामें सजातीय अन्य सर्व आत्माओंका परिहार है और विजातीय सकल पुद्गल आदिकका परिहार है। तो ऐसे ही प्रत्येक पदार्थमें सजातीयका परिहार सिद्ध होता है।

वस्तुत्वके प्रतिपादनमें स्याद्वाद शासनकी निर्दोषता—उक्त विवरणसे यही निर्णय हुआ कि जितने भी चेतन हो, अचेतन हो, कोई ज्ञान हो, कोई अंश विशेष हो अथवा एक ही पदार्थमें कल्पित अनेक शक्तियाँ हों उनका स्वरूप सभी कुछ परस्पर विविक्त स्वरूप सिद्ध होता है। क्योंकि किसी भी अपने स्वभावका अन्य स्वभावके साथ मिश्रण नहीं होता। इससे सिद्ध है कि यह सारा लोक अन्योन्याभाव

मैंने पहिले दर्शन किया था और इसे ही मैंने अब ज्ञान किया है आदिक जो अपने परिणामोंमें एकत्वका प्रतिभास हो रहा है उससे सिद्ध है कि जीव सत् ही है। अब जीव सत् सिद्ध हो गया तो जैसे एक जीवमें बिना व्यवधानके अवग्रह आदिक और सत् आदिक स्वभावका समग्र परिणमन है उसी प्रकार सर्व चेतन अचेतनमे भूत भविष्य वर्तमानमें उस स्वभावका कभी अभाव नहीं होता है इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जीवादिक तत्त्व कथंचित् सत् रूप ही हैं। मेरे सत्त्वमें किसी भी प्रकारका कोई बाधक प्रमाण नहीं होता इसी प्रकार क्षणिकवादियोंके प्रति ऊहापोहपूर्वक जीवादिकका सत्त्व सिद्ध किया है।

सर्वथा सत्त्ववादका प्रतिषेध —इस प्रसंगमे अब सांख्य सिद्धान्तके अनुयायी कहते हैं कि उसे सत् ही मानो। अर्थात् सर्व पदार्थ सत् ही हैं। किसी भी प्रकार असत् नहीं हैं। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सर्व पदार्थ सत् ही हैं, असत् नहीं है यह बात यों नहीं बनती कि पदार्थमे यदि पररूपकी अपेक्षा असत्त्व न माना जाय तो सभी पदार्थ परस्परमें एकमेक बन जायेंगे। किन्तु ऐसा कहाँ है ? ये सभी पदार्थ हैं ऐसा इनका अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि ये स्वरूपसे हैं किन्तु पर रूपसे नहीं हैं। तो यों प्रत्येक पदार्थमें असत्त्वकी भी सिद्धि है। ऐसे जीव अजीव सभी पदार्थ उनके भेद प्रभेद, प्रत्येक जीव प्रत्येक द्रव्योंमें अपने स्वभावकी व्यवस्था है। यदि पदार्थ सभी सत् ही हों, उनमें असत्त्व किसी अपेक्षासे न माना जाय तो पदार्थमें अपने अपने स्वभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती। तो ये जीव और अजीवकी सब व्यक्तियाँ अर्थात् प्रत्येक जीव, प्रत्येक अजीव ये सजातीय विजातीय अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्त हैं। अर्थात् एक जीव अन्य जीवके स्वरूपसे सत् नहीं है। और कोई जीव समस्त पुद्गल आदिक अजीवोंके स्वरूपसे सत् नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपनेसे अभिन्न, अन्य पदार्थसे भिन्न ही रहता है। और इतना ही क्या, यह भी निरखिए कि क्षणिकवादियोंके द्वारा माने गए चित्रज्ञान क्षणमे भी जो कहीं ग्राह्य ग्राहकका प्रतिभास हो रहा है वह परस्पर परिहारकी स्थितिके कारण ही तो हो रहा है। सम्वेदनमे जो यह बोध हो रहा है कि यह तो ग्राहक है और यह ग्राह्य है। यह ज्ञान तो पदार्थका ग्रहण करने वाला है। और ये पदार्थ ग्राह्य (ज्ञेय) हो रहे हैं अथवा एक ही सम्वेदन ज्ञानमें यह तो ग्राह्याकार है और यह ग्राहक कार है, इस प्रकारका जो बोध होता है यह सब ही तो होता है कि ग्राह्याकार रूपसे ग्राहकाकार नहीं है और ग्राहकाकार नहीं है और ग्राहकाकारसे ग्राह्याकार नहीं है। तो यों परस्पर परिहारकी स्थितिसे ही ग्राह्याकार और ग्राहकाकारकी व्यवस्था बनी है और एक ही पदार्थके विषयमें श्वेतादिक वर्णोंका ज्ञान और अवभास परमाणुका सम्वेदन इसमें भी जो व्यवस्था बनी है कि यह तो निरंश परमाणु पदार्थ है और यह श्वेतादिका प्रतिभास है सो यह स्वरूप व्यवस्था एक दूसरेसे परिहार पूर्वक रहनेके कारण ही बनी है अन्यथा अर्थात् वहाँ अवयवोंका बहुतपना न माना जाय तो स्थूल चित्र विचित्र जैसा कि देखा जा रहा है उसका

प्रतीतिमे नही आता। इस कारण यह जगत सर्वथा भावाभावात्मक है, यह मतव्य युक्ति सगत नही है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे, अन्वय और व्यतिरेककी दृष्टिसे सदसदात्मक है अतएव प्रत्येक पदार्थ, स्यात् सत् है यात् असत् है। सत्का अधिकारी कोई अलग पदार्थ हो, असत्का अधिकारी कोई अलग पदार्थ हो ऐसी व्यवस्था युक्तिसगत नही है।

वस्तुमे सर्वथा जात्यन्तररूपताकी असिद्धि अब यहाँ कोई दार्शनिक कहता है कि जब भावस्वभाव और अभावस्वभाव दोनोके निर्णयमे इतनी समस्यायें आ रही है तब तो पदार्थको भावाभावस्वभावमे रहित कोई अन्य जातिका ही जान लेना चाहिए अर्थात् वस्तु न भावस्वभावरूप है न अभावस्वभाव रूप है। किन्तु दोनो ही स्वभावोसे रहित कोई जात्यन्तररूप है। इस शकाके समाधानमे कहते है कि वस्तु सर्वथा जात्यतररूप माननेकी बात भी साररहित है। पदार्थको सर्वथा जात्यतर रूप माननेपर इस पदार्थमे जो भावाश और अभावाश निबधनक विशेषका ज्ञान होता है फिर इस ज्ञानका अत्यन्ताभाव हो जायगा। अर्थात् पदार्थके सम्बन्धमें हम आपको सद्भावको भी बोध होता है और अन्य पदार्थका असत्त्व है इसमे इस तरह अभावका भी बोध होता है, किन्तु सर्वथा जात्यतर रूप पदार्थको मान लेनेपर फिर इस भावाश का बोध न हो सकेगा। इस जानकारीक अत्यन्ताभाव हो जायगा। पर अत्यन्ताभाव तो नही है। तो बोध होता ही है इस प्रकार कि यह अपने स्वरूपसे है पररूपसे नही है। सत् असत् उभयात्मक वस्तुमें अपने स्वरूपसे सत्त्व और पररूपसे असत्त्व यह बराबर प्रतीतिमे आ रहा है। तो यो उस वस्तुकी विशेष जानकारी होनेसे जो कि सुनय और प्रतीतिसे बराबर प्रसिद्ध है यह सिद्ध होता है कि वस्तु जात्यंतर रूप नही है किन्तु वह सदसदात्मक है। जैसे कि दही और गुड मिलकर कोई विलक्षण स्वाद तो आया। न दहीरूप वह स्वाद रहा और न गुड रूप रहा। किन्तु उसे दही गुड दोनोंसे अत्यन्त रहित एक सर्वथा जात्यतररूप नही माना जा सकता, क्योकि उस स्थितिमें भी विवेक करनेपर दधि अशकी और गुड अंशकी विशेष प्रतिपत्ति होती है तभी तो लोग उस पानकको उस दधि गुड मिले हुएको पीकर बता देते है कि इसमे गुड ज्यादह है अथवा कम है। तो उस प्रतिपत्ति ही तो हो रही है। उन दोनोसे बिल्कुल ही विलक्षण सर्वथा जात्यतर कुछ नहीं माना जा सकता।

अनेकौषधिपानककी तरह सर्वथा जात्यन्तरताकी व सर्वथा एकाश प्रतीतिकी वस्तुमे असिद्धि—अनेक औषधियोको मिलाकर जो कोई पानक बनाया जाता है तो उसे भी उन सब औषधियोसे अत्यन्त विलक्षण सर्वथा जात्यन्तर नही माना जा सकता, क्योकि वहाँ भी एक एक औषधिकी प्रतिपत्ति सम्भव है। किसी अशमें किसी रूपमे वहाँ सब कुछ समझा जाता है इस कारण जात्यतर रूप ही है पदार्थ इस प्रकार भी कहा नही जा सकता। तो सर्वथा उभयरूप माननेपर जात्यतर

मात्र है। एकमें अन्यका अभाव है। यदि लोक यह पदार्थ समूह अन्योन्याभावरूप न हो तो सर्वथा एकपना हो जायगा फिर तो सभी वस्तु अनेक कहा कहलायेंगे ? सब एक हो गया क्योंकि किसीमें किसी अन्यका अभाव नहीं है। और, यहां जो अ, एकत्व का प्रसंग आया सो एकताका ही प्रसग क्या ? एकत्व तो अर्थात् अन्वय तो विशेषकी अपेक्षा रखता है याने व्यावृत्तिकी अपेक्षा रखता है। सो अब अन्यत्व यहाँ माना नहीं जा रहा तो जब व्यावृत्ति न रही तो उस अन्वयका भी अभाव हो जायगा तो जगत एक बन जायगा। इतना ही प्रसग नहीं आता किन्तु जगत शून्य हो जायगा। क्योंकि व्यावृत्तिसे निरपेक्ष याने कथंचित् असत् स्वरूप न माना जाय तो ऐसा स्वतंत्र मनू अन्वय एकत्व कभी भी प्रतिभासमान होता हो नहीं, इस कारण हे प्रभो ! आपके शासनमें जो यह बात प्रसिद्ध की गई कि वस्तु कथंचित असत् ही है, यह बात भली प्रकार सिद्ध है और इष्ट है।

सर्वथा भावाभावरूप मन्तव्यका निराकरण—अब कोई दार्शनिक कहता है कि सत् और असत्के सम्बन्धमें इतने विवाद किए जा रहे हैं। कोई सवथा सत् ही मानते हैं कोई सर्वथा असत् ही मानते हैं और उनके निराकरणमें यह मान लीजिए कि पदार्थ सर्वथा सत् असत् उभयरूप है। क्योंकि वहाँ सद्भाव और असद्भाव दोनोको प्रमाणसे सिद्ध किया गया है। तब न भाव, अभावका निराकरण किया जा सका। कई पदार्थ केवल अभाव रूप ही है और इसी कारण भावरूप पदार्थोंका जानने वाला प्रमाण भाव विषयक है और अभावरूपसे जानने वाला प्रमाण अभाव नामका माना गया है। तब इस समस्त जगतको सर्वथा भावाभावरूप उभयरूप स्वीकार कर लेना चाहिए। उक्त शकाके उत्तरमे कहते हैं कि सवथा भावाभावरूपकी कल्पना करनेवाला दार्शनिक भी तत्त्ववेदी नहीं है, क्योंकि युक्तियोके द्वारा सर्वथा भावस्वरूप और अभावस्वरूपका निराकरण हो जाता है। इस सवथा उभयात्मकके मतव्यमे यही तो प्रकट किया गया है कि कोई पदार्थ सर्वथा भावरूप है और कोई पदार्थ सर्वथा अभाव रूप है। सो यहाँ भी आखिर दोनो एकान्त ही तो हुए, पर न तो कोई भाव एकान्त है ऐसा कि जो प्रतिपक्ष रहित हो और न कोई अभाव एकान्त है ऐसा कि जो प्रतिपक्ष रहित हो। निरपेक्ष भाव एकान्त और अभाव एकान्त नहीं माना जा सकता। कुछ है तो वहीं ही वह नहीं है। इस प्रकार उस ही एक वस्तुमे विधि और प्रतिषेध दोनो सिद्ध होते हैं। इस कारण सर्वथा भावाभाव रूप पदार्थ न मानना चाहिए किन्तु कथंचित् भावाभावात्मक पदार्थ है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। देखिये ! द्रव्यनय की अपेक्षासे ही समस्त पदार्थ सत् समझा गया है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे ही अर्थात् व्यतिरेक विशेषकी दृष्टिसे ही सब पदार्थ असदात्मक प्रतीतिमें आते हैं। यदि इससे उल्टा समझा जाय तो उसकी उपपत्ति और प्रतीति नहीं बनती, अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे सबको असत् कहा जाय यह सम्भव नहीं है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अर्थात् व्यतिरेक विशेषकी दृष्टि रखकर 'सर्व सत्' कहा जाय यह भी

ऐसे हे प्रभो ! जो आपके शासनमे कहा गया है वह पूर्णरूपसे युक्तिसगत है।

विरोधादिक दोषरहित वस्तुत्वको सिद्ध करनेमे स्याद्वाद शासनकी क्षमता—वस्तु जिस स्वरूपसे असत् माननेपर ८ दोष आते हैं। वे किस प्रकार हैं सो सुनो ! प्रथम तो जिस स्वरूपसे असत् होनेका विरोध है। जैसे शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्शका परस्पर विरोध है। दूसरी बात विरुद्ध दो चीजें एक आधारमे नही टिक सकती। जैसे शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श, ये दोनो एक वस्तुमे नही रह सकते। अगर वह ठंडा है तो गर्म नही है अगर गर्म है तो ठंडा नही है। इसी प्रकार जिस स्वरूपसे सत् है उसी स्वरूपसे असत् हो इसका आधार एक वस्तु नही हो सकता। पुन: वैयधिकरण दोष है। एक साथ सत् और असत् दोनो हो वैठें जब कि जिस स्वरूपसे सत् माना है उसी स्वरूपसे असत् मान लिया गया तो उसमें सकर और व्यतिकर दोष आते हैं। जिस स्वरूपसे सत् है उसी स्वरूपसे असत् माननेपर परस्पर एक दूसरे विषयमे गमन हो गया इस कारणसे सशय दोष हुआ। अब वस्तुमे निश्चय नही बन सकता कि सत्त्व तो कैसे है-और असत्त्व कैसे है इस कारण सशय दोष आ जाता है। और जब एक ही वस्तुमें कैसे सत्त्व है, कैसे असत्त्व है यह निश्चय न बन सका तो वहाँ अप्रतिपत्ति दोष आता है और इसी कारण वहाँ अभाव दोष भी आता है तब जिस स्वरूपसे सत्त्व है उस स्वरूपसे असत्त्व रह नही सकता और उसी स्वरूपसे असत्त्व है तो सत्त्व नही रह सकता। तो न सत्त्व रहा न असत्त्व रहा। इस प्रकार अभाव दोष आ गया। यो ८ प्रकारके दोषोके निवारणकी अगर इच्छा है कि वस्तु निर्दोष सिद्ध हो जाय तो माननो होगा कि सभी वस्तुवें कथचित उभयात्मक हैं अर्थात् स्वरूपसे सत् हैं, पररूपसे असत् हैं। हाँ इस उभयको भी सर्वथा नही मान सकते कि सर्व प्रकारसे उभय हो। जिस स्वरूपसे सत् है उसी स्वरूपसे असत् है। इसी प्रकार उभयात्मक नही मान सकते क्योकि स्यात् शब्दके प्रयोगसे यह भी सिद्ध होता है कि उस उभयात्मकतामें जात्यतरता है। यो वस्तुके सत्त्वकी सिद्धिमें दो भग बने थे—कथचित् सत् है और कथचित असत् है और यह उभय नामका भग बना। यहाँ आचार्य समतभद्रदेव प्रभुके शासनकी अविरुद्धता दिखा रहे हैं कि आपके मतमे कथचित् सत् ही है कथचित असत् ही है, कथचित् उभय ही है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है।

सर्वथा अवाच्यत्वका निराकरण— अब एक दार्शनिक कहता है कि जब न पूरे तौरसे सत् ही कहा जा सका न असत् ही कहा जा सका और न सर्वथा उभय भी बताया जा सका तब तो यह दर्शन मानना चाहिए कि वस्तु है ऐसा भी मैं नही कहता हूँ, वस्तु नही है ऐसा भी नही कहता हूँ, और जो कुछ कहता हूँ उसे भी नही कहता हू तब तो ऐसा दर्शन मान लिया जाना चाहिए। उसके उत्तरमें कहते हैं कि इस प्रकार का अभिप्राय रखने वाला एकाकार भी विपरीत बुद्धिमें चल रहा है। देखिये ! यदि

की जानकारी भी नहीं बन सकती। जैसे कि पानकको सर्वथा उभयरूप मान लिया जाय और उसमें उन अंशोंका कुछ भी सद्भाव न माना जाय तो जात्यन्तरकी प्रतीति भी नहीं बन पाती और ऐसा भी नहीं कह सकते कि दो पदार्थोंके मेलमें यह जात्यतर नहीं होता है किन्तु वे दोके दो ही पदार्थ हैं, यों भी नहीं कह सकते। जैसे दधि गुड़ का मेल बननेपर वहां कोई आग्रह करे कि भले ही मेल हो गया किन्तु दधि गुड़ अलग अलग ही हैं वहां वह जात्यतररूप पानक न हो ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि वहां यह अनुभव होता है कि यह पानक स्वादिष्ट है यह पानक सुगंधित है। तो यदि वहां अलग-अलग ही चीज पड़ी हुई है उनके मेलमें कोई जात्यन्तरता नहीं आई है तो यह बोध नहीं हो सकता कि यह पानक स्वादिष्ट है अथवा सुगंधित है। दूसरे यह आपत्ति आयगी कि अनेक औषधियोंके संयोगसे जो कुछ भी पानक तैयार होता है उसमें जैसे रोगको दूर करनेका सामर्थ्य है वह सामर्थ्य न रह सकेगा। जैसे कि अलग-अलग एक एक औषधिके उपयोगसे रोग दूर नहीं होता, इसी प्रकार अनेक औषधियोंके मेल प्रयोग से भी रोग दूर नहीं हो सकता। सदसदात्मक पदार्थमें सत् आदिक अंश ही केवल प्रतीतिमें आते हों ऐसा भी नहीं है। वहां भी प्रमाण दृष्टिसे उभयात्मक ज्ञानमें आरहा है। जैसे कि दधि गुड़ मिलाया जानेपर दधि गुड़ात्मक उस पानकमें केवल दधि और केवल गुड़ अंश ही प्रतीतिमें आ रहा है। केवल सद् आदिक अंश ही प्रतीतिमें माने जायें तो फिर जात्यतरभूत पानक, अंशी पूर्ण पदार्थ प्रतीतिमें न आ सकेगा और जब जात्यन्तरकी प्रतीति नहीं मानी गई तब अनवस्था आदिक दोष आ जायेंगे। किस प्रकार सो सुनो।

विवक्षानुसार सत्त्व असत्त्वके न माननेपर अनेक आपत्तियोंका दिग्दर्शन —जिस स्वरूपसे पदार्थका सत्त्व माना गया है उस स्वरूपसे ही पदार्थका असत्त्व मान लिया जाय तो वह प्रत्येक उभयरूप मान लेनेसे अब वहां व्यवस्था न रहेगी। जिस पररूपसे पदार्थका असत्त्व माना गया है उस ही पररूपसे पदार्थका सत्त्व माना जाय तो वहां भी सत्त्व और असत्त्वकी उभयरूपता मान लेनेसे सर्वथा दोष आयगा। और यदि उस प्रकार नहीं माना जाता, सत्त्वको असत्त्वकी पद्धतिसे न माना जाय और असत्त्वको सत्त्वकी पद्धतिसे न माना जाय और असत्त्वको सत्त्वकी पद्धतिसे न माना जाय तब वहां सर्वथा उभयात्मकका आग्रह करने वाले दार्शनिककी प्रतिज्ञाका विरोध हो जाता है। उसकी प्रतिज्ञा है कि सर्व कुछ पदार्थ उभयस्वभावरूप हैं इसपर वस्तुस्वरूपकी दृष्टि रखनेसे एक ही पदार्थका उभयस्वभावरूप तो न रहा। पदार्थ अपने स्वरूपसे असत् है। अपने जिस स्वरूपसे पदार्थका सत्त्व है उस ही स्वरूपसे पदार्थका असत्त्व मान लिया जाय तो वहां विरुद्ध, संकर, व्यतिकर, संशय, और अप्रतिपत्ति एवं अभाव आदिक सभी दोष वहां उपस्थित हो जाते हैं, इस कारण मानना होगा कि पदार्थ जिस स्वरूपसे सत् है उस ही स्वरूपसे असत् नहीं है। किन्तु अन्यरूपसे असत् है। इस तरह पदार्थ कथंचित सत्रूप है और कथंचित असत्रूप है।

व्यर्थ है। वस्तु शब्दमय ही है।

शकाकारोक्त शब्दमयता व सर्वथा अभिलाप्यताकी असिद्धि—उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि शब्दमयताका दर्शन भी बिना विचारे कहा गया है क्योंकि जैसे सामान्यरूपसे वस्तु अभिधेय होता है उसी प्रकार विशेषरूपसे भी वस्तु अभिधेय हो जाय, सर्वप्रकारसे वस्तु अभिधेय हो तो वहाँ प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद नही ठहर सकता क्योंकि वाच्य विषयकी अपेक्षा उनमें भेद हो सकता था, किन्तु जहाँ सब कुछ शब्दमय है और सभी ज्ञान शब्दमय हैं और शब्दमय पद्धातसे ही ज्ञान है, वस्तु स्वरूप है, यह मान लिया गया है वहाँ किसीको प्रत्यक्ष कहना किसीको परोक्ष कहना यह भेद न बन सकेगा। शकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष और परोक्षमें भेद चक्षु आदिक शब्द आदिक सामग्रीके भेदसे बन जाते हैं। शब्द आदिक सामग्रीसे अप्रत्यक्षता और चक्षु आदिक सामग्रीसे प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाती है। इसके समाधानमे कहते हैं कि अब तो जैसे प्रत्यक्षसे वस्तु विशेषका ज्ञान किया जाता है उसी प्रकार शब्दादिकसे भी वस्तु विशेषका ज्ञान मान लिया गया है। तब उस जानकारीमे कोई भेद ही सिद्ध नही होता। तब प्रत्यक्ष और परोक्षमे भेद न बन सकेगा। प्रत्यक्षके विषयभूत विशेषको यदि शब्दका अविषयभूत मान लेते हो तो लो अब यहाँ प्रत्यक्षका विषयभूत विशेष अनभिधेय बन गया वह तो शब्दोद्वारा नही कहा गया फिर यह प्रतिज्ञा करना कि ज्ञान पदार्थ सब कुछ शब्दोसे ही बींधा है इस प्रतिज्ञाका फिर खण्डन हो जाता है। यदि यह हो कि प्रत्यक्षात्मक शब्दका विषयभूत होनसे प्रत्यक्षका विषयभूत विशेष भी अभिधेय हो जाता है शब्द द्वारावर्णित हो जाता है तो इसके समाधानमें यह आपत्ति आ जाती है कि फिर उस ही प्रकार अनुमान आगम ज्ञानात्मक शब्द जिसका विषय है ऐसे प्रत्यक्ष और परोक्षको बात आ जाय अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोमे अभिधेयताकी अविशेषता हो गयी वह भी शब्दो द्वारा कही गई और अप्रत्यक्ष भी शब्दो द्वारा कहा गया। तब प्रत्यक्ष और परोक्षमें स्पष्ट विशेष प्रतिभास सिद्ध हो गया। तो प्रत्यक्ष परोक्षमे भेद इसी विशेषतापर तो कहा जाता था कि जो स्पष्ट प्रतिभास हो सो प्रत्यक्ष है और जो अस्पष्ट प्रतिभास हो सो परोक्ष है अब जब दोनोमें स्पष्ट विशेष प्रतिभास हो गया तो अपेक्षा भेद न रहा। प्रत्यक्ष और परोक्षमे भेद माननेपर प्रत्यक्ष और परोक्षात्मक शब्दमें भी भेद आ जायगा तो शब्द भी अनेक बन बैठेंगे। तब शब्दद्वैत कैसे सिद्ध हो गया। पदार्थ अनेक हैं, ज्ञान अनेक हैं और शब्द भी अनेक हैं। तो इस तरह भी शब्दाद्वैत मतकी सिद्धि नहीं होती।

उपाधिभेदसे ही भेद बताकर शब्दके अद्वैतत्त्वका शकाकार द्वारा समर्थन—शकाकार कहता है कि शब्द तो अद्वैत ही है। केवल प्रत्यक्ष उपाधि सहित है तो वह स्पष्ट विशेष प्रतिभास वाला बनता है और यदि शब्दादिक उपाधि सहित शब्द है अर्थात् यह आगम ज्ञानात्मक शब्द है या अनुमान ज्ञानात्मक

वस्तुको सद्भाव और असद्भाव दोनों प्रकारसे वर्जित कर दिया जायगा अर्थात् न रूपसे कहा जा सकता न असत्त्वरूपसे कहा जा सकता। तो इसका अर्थ यह होगा कि सारा जगत मूक बन जाना चाहिए। जब कुछ भी नहीं कहा जा सक रहा, नहीं कहा जा सक रहा यह भी न कहा जा सका तो फिर सारा लोक मूक बन जायगा, क्योंकि अब तो न विधिका व्यवहार चलाया जा सका और न प्रतिषेधका व्यवहार चलाया जा सका और न प्रतिषेधका व्यवहार चलाया जा सका क्योंकि शब्द द्वारा वस्तुको अभिलाप्य ही नहीं माना जा रहा। यदि शंकाकार यह कहे कि विधि प्रतिषेधका व्यवहार निर्विकल्प प्रत्यक्षसे हो जायगा तो यह बात भी नहीं मानी जा सकती। विशेषकी तरह सामान्यरूपसे भी अनभिलाप्य स्वभाव वाला पदार्थ मान लिया गया, उसको निर्विकल्प ज्ञान निश्चित नहीं कर सकता है। जब सर्व प्रकारसे ही अकथित हो गया पदार्थ, शब्दों द्वारा कहा ही नहीं जा सकता, न विशेषरूपसे कहा जा सकता न सामान्यरूपसे कहा जा सकता तो ऐसे तत्त्वको निर्विकल्प ज्ञान भी निश्चय नहीं कर सकता, न उससे विधि प्रतिषेधका व्यवहार बन सकता। और देखिये ! वस्तु अगर अपरिज्ञात है, जानी नहीं जाती है तो वह प्रमाणका विषय नहीं बन सकता। तब वस्तुको प्रमाणका विषयभूत न कहा जाय यह तो बन नहीं सकता। वस्तु प्रमाणका विषय है विधि और प्रतिषेधका व्यवहार वहाँ होता है। देखिये ! प्रमाण ग्रहण किए गए पदार्थ भी अनिश्चित होनेपर अग्रहीतकी तरह हो जाते हैं जैसे कि मूर्छा दशाको प्राप्त किसी चेतनके द्वारा पहिले जो कुछ ग्रहण किया गया था अब वह अग्रहीतकी तरह हो जाता है। निर्विकल्प दर्शनसे प्रतिभासित होने वाली वस्तु व्यवस्थित नहीं रह सकती जिस कारणसे कि बोलता हुआ भी कोई उसे देख सके।

वस्तुको सर्वथा अभिलाप्य माननेकी शंका— अब यहाँ शब्दाद्वैतवादी आशंका करता है कि देखिये, ऐसा लोकमें कोई भी ज्ञान नहीं है जो शब्दके जाने बिना होता हो। अनुभव भी बताता है कि हम जिस किसी भी पदार्थको निरखते हैं तो वह पदार्थ शब्दसे बीधा हुआ समझमें आता है। जहाँ जाना कि यह चौकी है तो चौ और की ये शब्द भीतरमें उठ ही बैठते हैं। तो शब्दका अनुगम किए बिना लोकमें कोई भी ज्ञान नहीं होता। सर्व वस्तु शब्दसे ही बींधी हुई प्रतिभासमें आती है और इस तरह सिद्ध होता है कि सर्व पदार्थ शब्दमें ही प्रतिष्ठित हैं। यदि यह वचन रूपता, यह सरस्वती वाणी, शाश्वती वाग्रूपता ज्ञानका उल्लंघन करदे तो बोध हो न सकेगा। क्योंकि प्रकाशका कारणभूत तो यह वचनरूपता ही है। वचन योजनाके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती। इस प्रकार शब्दाद्वैत सिद्धान्तमें जो बताया [illegible] सब कुछ मात्र शब्द ही है ज्ञान तक भी शब्दसे बीधा हुआ है और पदार्थ [illegible] ज्ञानमें आता है वह शब्दयोजना सहित ही ज्ञानमें आता है। इससे सिद्ध है [illegible] सारा [illegible] शब्दमय है। तत्त्वके बारेमें, वस्तुके सम्बन्धमें ऐसे सत्त्व असत्त्व आदिक की कल्पना करना और वह शब्दरहित है, अनभिलाप्य है, ये सब कल्पनायें करना

सत्य और असत्यका भेद नहीं रह सकता। जो सत् हैं वे सभी अक्षणिक हैं ध्रुव हैं। क्योंकि क्षणिकमे न तो क्रमसे अर्थक्रिया बनती है और न एक साथ अर्थक्रिया बनती है आदिक मन्तव्य सिद्ध करनेकी तरह जो सत् है वह क्षणिक ही है, क्योंकि सर्वथा नित्यमे न क्रमसे अर्थक्रिया बनती है और न एक साथ अर्थक्रिया बनती है, इत्यादिक वाक्यमे भी असत्यना आ जायगी। जब सर्वथा अनभिधेय मान लिया तो वहाँ यह भेद नहीं किया जा सकता कि मेरे मतव्य वाला वाक्य तो सही है और दूसरेके मतव्य वाला वाक्य असत्य है। अथवा उल्टा प्रसग आ जायगा। कहो अपने मतव्य वाला वाक्य असत्य बन जाय और दूसरेका मतव्य वाला वाक्य सत्य बन जाय। क्योंकि अब तो वस्तु अनभिधेय मान ली गई अथवा अक्षणिकमे क्षणिकपना आ जायगा और क्षणिकमें अक्षणिकपना आ जायगा क्योंकि अब तो सत्य वाक्य भी अर्थको नही छूते हैं, क्योंकि वस्तु अनभिधेय है लोग तो किसी भी वाक्यका कोई अर्थ बनावेंगे। सो यों किसी भी अनुमान वाक्यको यदि अनभिधेय मानते हो तब तो किसी भी अनुमान वाक्यसे कथचित् अर्थका स्पर्श करने वाला मानते हो कि जो यह सामान्य अर्थ का प्रतिपादक है तो इस तरह यदि किसी अनुमान वाक्यको कथचित अर्थमे सस्पृष्ट हीं मान लेते हो अब फिर वस्तु सर्वथा अनभिधेय है यह बात नही ठहर सकती।

स्वपक्षको अभिधेय बनाकर वस्तुको सर्वथा अनभिधेय बतानेका आश्चर्य – अब देखो ! कि यह क्षणिकवादी स्वपक्षका तत्त्वरूप सिद्ध करनेके लिए जो कुछ भी बात तो बता रहा है वाक्यकी रचना तो कर रहा और प्रतिज्ञा कर रहा कि वस्तु सर्वथा अनभिधेय है, कहा ही नही जा सकता। स्वय कह कहकर तो अपने पक्ष की सिद्धिका यत्न कर रहा है और परपक्षकी असिद्धिका यत्न कर रहा है, तिसपर भी प्रतिज्ञा यह की जा रही है कि वस्तु सर्वथा अनभिधेय है यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यदि सर्वथा अनभिधेय रहता है वस्तु तो सर्वथा अभिधेय रहित अनुमान वाक्यसे किसीको सत्य स्वीकार करा देना और किसीको असत्य स्वीकार करा देना यह बात सम्भव नही हो सकती। साध्यके कथनसे किसी पक्षका कहा जाना परम्परासे भी समर्थ नही हो सकता। वह साध्यका ज्ञान नही करा सकता, क्योंकि अब तो वस्तुको सर्वथा अनभिधेय मान लिया गया है साध्यका परम्परासे कहनेवाला' हेतुवचन स्वय असत्य ही है। अर्थात् जब अनभिधेयताका आग्रह कर लिया गया है तब न तो हेतुवचन बन सकता और न साध्य वचन बन सकता। तब देखिये ! कितना अपने पक्षका आग्रह है कि हेतु वचनके द्वारा की गई वस्तुकी सिद्धिको तो मान रहा है, वस्तु सिद्ध कराना चाहता है और यह स्वीकार नही कर रहा कि उस वचनके द्वारा कोई वाच्य बन जाता है, इस हेतु वचनसे साध्य कहा जाता है इस बातको स्वीकार नही कर रहा तब इसे अपने-पक्षका राग मात्र ही कहना चाहिए और इस तरह अनवस्था भी रहती है कि स्ववचनसे तो तत्त्वकी सिद्धि हुई और पर वचनसे तत्त्वकी सिद्धि नहीं हुई ऐसी व्यवस्था यहाँ नही बनाई जा सकती। सो जब अपने मतव्यकी सत्यता असत्यताको

शब्द है। इस प्रकार शब्दादिककी उपाधि सहित वही शब्द फिर अस्पष्ट सामान्य प्रतिभास वाला हो जाता है। तो शब्द यद्यपि एक है, मगर उन शब्दोंमें उपाधि साथ हो जानेसे शब्दोंका भेद प्रतीत होने लगता है पर वस्तुतः शब्द अद्वैत ही है। जैसे कि पीत और लाल आदिक उपाधिके सम्बन्धसे स्फटिक मणिमें पीत लाल आदिकका प्रतिभास होने लगता है, पर स्वयं स्फटिक तो स्वच्छ ही है। वही पीत लाल आदिकरूप नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्षकी उपाधिके कारण और शब्दादिक की उपाधिके कारण शब्दमें भेद प्रतीत होने लगता है यह स्पष्ट प्रतिभासरूप प्रत्यक्ष गोचर शब्द है और यह अस्पष्ट प्रतिभासरूप परोक्ष गोचर शब्द है ऐसा उन शब्दोंमें उपाधिके कारण होता है। वस्तुतः शब्द अद्वैत ही है।

उपाधि भेदमात्रसे शब्दभेदकी कल्पना आदि शंकाकारके मन्तव्योंका निराकरण—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस तरहके प्रत्यक्ष और शब्दादिककी उपाधियोंको भी शब्दात्मक मानते हो या नहीं ? यदि प्रत्यक्ष और परोक्ष उपाधि भी शब्दात्मक ही है, जिसके कारण शब्दोंमें भेद डाला जाता हो, तो जब भेद करने वाला तत्त्व स्वयं शब्दात्मक है तब वहाँ भेद कैसे सिद्ध हो सकता है। और जब भेद सिद्ध न होगा शब्दमें तो प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद नहीं ठहर सकता। स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास सभी एक हो जायेंगे। यदि कहो कि प्रत्यक्ष और शब्दादिककी उपाधियाँ शब्दात्मक नहीं हैं तो शब्दाद्वैतका खण्डन हो जाता है। अब यह प्रतिज्ञा कहाँ ठीक रह सकी कि सर्व कुछ लोकमें शब्दाद्वैतमय ही है। तो ये प्रत्यक्ष और शब्दादिककी उपाधियाँ तो शब्दरूप नहीं हैं। यदि कहो कि प्रत्यक्ष और परोक्षकी उपाधियाँ अवस्तु रूप हैं सो भला जो अवस्तुरूप होगा वह स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासके भेदका कारण नहीं हो सकता। अवस्तु तो किसी भी अर्थक्रिया का साधन नहीं बन सकती। जब प्रत्यक्ष और शब्दादिक उपाधियोंको अवस्तुरूप मान लिया तो वह असत् ही कहलाया। अब उनके द्वारा यह भेद न बन सकेगा कि लो प्रत्यक्ष उपाधिके कारण यह स्पष्ट प्रतिभास बना और शब्दादिक उपाधिके कारण यह अस्पष्ट प्रतिभासमें अभेद मान लेते हो कि चलो अब अनेक यत्न करनेपर भी बात सिद्ध नहीं होती तो स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास भी एकमेक रह जायेंगे तो उन प्रतिभासोंमें अभेद स्वीकार कर लेनेपर बात वही आयी कि अब प्रत्यक्ष और परोक्षमें कोई विशेष नहीं ठहरता।

सर्वथा अभिलाप्यकी असिद्धिकी तरह सर्वथा अनभिलाप्य पक्षकी भी असिद्धि—इस प्रसंगमें जो कुछ कहा जा रहा उस सबका साराश यह है कि यदि सर्वथा अवाच्य स्वीकार करते हो वस्तुको कि वस्तु है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, वस्तु नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, और जो कुछ भी कहा जा रहा यह भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पदार्थको सर्वथा अवाच्य स्वीकार कर लेनेपर फिर

अवाच्य ही है। कथंचित सत् अवाच्य किस प्रकार है सो सुनो। वस्तु यदि सर्वथा असत् हो तो वह अनभिधेय भी नहीं बन सकता। जो अवस्तु है याने स्वरूप आदिक चतुष्टय की अपेक्षा जैसे वस्तु सत् है त्यों ही स्वरूप आदिकको अपेक्षा वस्तुको असत् कह दिया जाय तो सब प्रकारसे असत् वस्तुमें अनभिधेयपना भी नहीं ठहर सकता इस कारण वस्तुको कथंचित सत् अवाच्य ही बताया गया है। इसी प्रकार वस्तु कथंचित् असत् अवाच्य किस प्रकार है कि यदि वस्तुको सर्वथा ही सत् मान लिया जाय कि जैसे वस्तु स्वरूपसे सत् है वैसे ही पररूपसे भी सत् मान लिया जावे दोनोसे ही वह सत् है तो भी उसमें अनभिधेयताका स्वभाव नहीं बन सकता। उस वस्तुका अभिधेयपना भी हुआ करता है। अतः वस्तु कथंचित् असद् अवक्तव्य है। इसी प्रकार वस्तुको जब स्वरूप और पररूपसे निरखते है तो वह सदसदात्मक है। और वैसे ही जब एक साथ इन धर्मोंको निरखते हैं तो अवाच्यपना सिद्ध है। यों कथंचित् सदसदवक्तव्यत्व सिद्ध होता है। इस तरह शेषके ये तीन भंग भी युक्तिवशसे सिद्ध हो जाते हैं। तो इस कारिकामें कहे गए चार धर्म है, पर चारों धर्मोंकी सिद्धि होनेसे जिसको नहीं कहा है वह भी सिद्ध हो जाता है। लेकिन इसमें ऐसे सभी धर्म जो कि प्रतिज्ञा में नहीं हैं। वस्तुस्वरूपमें नहीं हैं उनका समर्थन नहीं बनता। किसी ही प्रतिज्ञात धर्मकी सामर्थ्य से गम्यमान अन्य धर्मोंमें भी प्रतिज्ञातपना सिद्ध होता है। तो जैसे चारों धर्म कहे गए हैं उनसे ही सम्बंधित और युक्तिसे अबाधित शेष ३ भंग लगाना चाहिए। इस तरह सप्तभंगी रूप प्रतिज्ञा निर्बाध सिद्ध हो जाती है। और नैगम आदिक नयोंके प्रयोगसे यहाँ सप्तभंगीमें ७ सख्या ही अबाध सिद्ध होती है अब प्रथम और द्वितीय भंगमे नयका योग दिखाते है कि किस नयसे, किस अभिप्रायसे वस्तु सत् है और किस अभिप्रायसे वस्तु असद् कहा गया है।

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ;
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

स्वरूपचतुष्टयसे सत्त्व व पररूपचतुष्टयसे असत्त्व माननेपर ही वस्तु व्यवस्था—स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे सभी वस्तु सत् ही हैं ऐसा कौन न मानेगा ? और, पररूपचतुष्टयकी अपेक्षासे वस्तु असत् ही है ऐसा भी कौन स्वीकार न करेगा ? ऐसे तो वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती। समस्त पदार्थ चाहे चेतन हो अथवा अचेतन हो सभी द्रव्य पर्याय आदिक भ्रान्त हो अथवा स्वयं इष्ट हो अथवा अनिष्ट हो। स्वरूप आदिक चतुष्टयकी अपेक्षासे सत् ही है ऐसा मानना होगा और इसी तरह पर रूपादिक चतुष्टयकी अपेक्षासे असत् ही है ऐसा मानना पड़ेगा। कोई भी पुरुष चाहे लौकिक हो अथवा परीक्षक हो अथवा स्याद्वाद शासनका मानने वाला हो या सर्वथा एकान्त वादका कहने वाला हो, यदि वह कुछ भी बुद्धिमान है तो इस प्रकारसे मानेगा ही कि वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे सत् है और पररूपकी अपेक्षासे असत् है,

व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती तब तो सारा जगत मूक ही बन जायगा। वह कुछ कर ही न सकेगा। वस्तुमें अनुमान वाक्यसे वाच्यपना है ऐसा जब स्वीकार नहीं किया जा रहा तो वचन द्वारा की गई सिद्धि भी तो सम्भव नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि यदि शब्दको वाचक और अर्थको वाच्य नहीं माना जाता तब न अनुमान प्रयोग सही बन सकता और न अपने पक्षकी सिद्धि और परपक्षकी असिद्धि किसी प्रकार की जा सकती है? अतः वस्तु कथंचित् अवाच्य है न कि सर्वथा अवाच्य है यह स्वीकार कर लेना चाहिए वाच्यकी जो दृष्टियाँ हैं उन सब दृष्टियोंको एक साथ लेनेमें वह अवाच्य होता है किन्तु सर्वथा अवाच्य नहीं।

सर्वथा अवाच्यत्वकी असिद्धि तथा कथंचित् अवाच्यत्वकी सिद्धि—शब्द द्वारा पदार्थको वाच्य न माननेपर पदार्थको क्षणिक सिद्ध करने वाला अनुमान वाक्य वस्तुकी क्षणिकताको सिद्ध न कर सका और यदि कहा जाय कि अनुमान वाक्यसे पदार्थ वाच्य नहीं होता तो इसका अर्थ यह हुआ कि अनुमान वाक्यसे की जाने वाली सिद्धि भी न हो सकेगी। फिर कैसे वस्तुको क्षणिक सिद्ध किया जायगा या अपना मन्तव्य सिद्ध किया जायगा? और वाच्यता न माननेपर वाक्य मात्रसे यदि किसी मन्तव्यकी सिद्धि करली जाती है तो अनिष्ट अर्थात् प्रतिपक्षीके वचनसे भी अपने मन्तव्यकी सिद्धि होनेका प्रसंग हो बैठेगा। अपने वाच्यसे रहित भी स्व वचनसे उसकी सिद्धि मान ली जाय और परवचनसे अपने तत्त्वकी सिद्धि न मानी जाय यह भी व्यवस्था नहीं बन सकती। जब शब्द किसी भी वाच्यको कहता ही नहीं है तो उसके लिए जैसे अपने वचन वैसे प्रतिवादीके वचन। अब वहाँ यह विवेक न बन सकेगा कि अपने वचनसे तो मन्तव्यकी सिद्धि होती और परवचनसे मन्तव्यकी सिद्धि नहीं होती। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि मेरा वचन तो क्षणिक वस्तुके दर्शनकी परम्परामें उत्पन्न हुआ है पर दूसरेका वचन नहीं हुआ है वस्तु दर्शनकी परम्परामें। तो यह तो केवल अपने सिद्धान्तका आग्रह मात्र है ऐसी तीव्र आसक्ति है अपने मन्तव्य में कि वहाँ परीक्षाको ताकमें रख दिया है। यह तो परीक्षाप्रधान पुरुषका चिन्ह नहीं है क्योंकि अब तो सभी वचन विवक्षाके विषयभूत बन गए। कुछ भी वचन बोले जायें, अपना जो सिद्धान्त है उस सिद्धान्तको कह देगा, इस कारण वस्तुतत्त्व सर्वथा अभिधेय नहीं है। तो सर्वथा अनभिधेय भी नहीं है। किन्तु कहना चाहिए कि वस्तु तत्त्व कथंचित अवाच्य ही है। जैसे कि कथंचित् सत् ही है कथंचित् असत् ही है और कथंचित उभय ही है इसी प्रकार कथंचित अवाच्य ही है। यो स्याद्वाद शासनमें वस्तु तत्त्वका स्वरूप कहा गया है।

कारिकामें शेष अर्थात् अन्तिम तीन भङ्गोंकी ध्वनि—इस कारिकामें च शब्दका प्रयोग होनेसे शेषके तीन भङ्ग भी लगा लेना चाहिए कि वस्तु कथंचित् सत् अवाच्य ही है, वस्तु कथंचित् असत् अवाच्य ही है और वस्तु कथंचित् सत् असत्

परद्रव्यता हो जानेसे और उस परद्रव्यसे भी सत्व मान लेनेपर अपने आश्रयके कारण भी द्रव्यमें नियम नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इन दो द्रव्योमे सयोग नहीं है। तो द्रव्यके प्रतिनियमका व्याघात अर्थात् यह यह ही है अन्य नहीं है ऐसी द्रव्यको समझ लेनेकी बात न बन सकेगी। वह बात अब भी ज्योंकी त्यों खडी हुई है और फिर जब यह आपत्ति सामने आयी है तो इसी तरह परद्रव्यसे जैसे पदार्थ असत्व है इसी प्रकार स्वद्रव्यसे भी असत्व मान लिया जाय तो समस्त द्रव्योका अन आश्रयपना सिद्ध हो जायगा। अब तो गुण किसी भी द्रव्यमे न ठहर सकें। तो यो इष्ट द्रव्यका ही आश्रय करे गुण सत्व उसका विरोध बन जायगा।

स्वपर क्षेत्रकालोपादानापोहनके बिना भी वस्तुत्वव्यवस्थाकी असिद्धि द्रव्यके इस कथनके प्रकारसे जैसे स्वक्षेत्रसे सत्व है ऐसे ही परक्षेत्रसे भी सत्व मान लिया जाय तो किसी भी पदार्थका प्रतिनियत क्षेत्रपनेकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती कि यह अपने ही प्रदेशमे है, अन्यके प्रदेशमे नहीं है और इसी तरह जैसे परक्षेत्रसे वस्तुका असत्व है यो ही स्वक्षेत्रसे भी असत्व मान लिया जाय तब वस्तुमे क्षेत्र ही सिद्ध न हो सकेगा। वस्तु क्षेत्र रहित प्रदेश रहित हो जायगा इसी प्रकार वस्तु जैसे स्वकालसे सत् है इसी तरह परकालसे भी सत् मान लिया जाय तो वस्तुमे प्रतिनियत कालकी भी व्यवस्था न बन सकेगी। यह वस्तु इस ही परिणमनरूप है, अन्य परिणमनरूप नहीं है यह व्यवस्था न बन सकेगी। और, इसी प्रकार जैसे वस्तु परकालसे असत् है ऐसे ही स्वकालसे भी असत् मान लिया जाय तब तो समस्त परिणमन असम्भव हो जायेंगे अर्थात् कोई परिणमन ही न रहे। जैसे परकी पर्यायसे वस्तु असत् है इसी प्रकार स्वकी पर्यायसे भी वस्तु असत् मान लिया गया। फिर कुछ परिणमन कैसे ठहर सकेगा? समस्त वस्तु निरवयव हो जायेंगे? फिर कैसे यह व्यवस्था बनायी जायगी कि यह अपना इष्ट तत्व है और यह दूसरेका?

प्रभुके स्याद्वादशासनकी निर्दोषता तात्पर्य यह है कि मूल सिद्धान्त यह है कि स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् है। इसे स्वीकार न करनपर न अपने मतव्य का समर्थन किया जा सकेगा और न परके मतव्यका परिहार किया जा सकेगा कारण हे प्रभो! आपके शासनमें जो यह बात बतायी गई है कि स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षासे वस्तु सत् है और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे वस्तु असत् है, यह बात युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध वचन होनेके कारण आप निर्दोष हैं यह बात सिद्ध होती है। वचनोसे ही निर्दोषताकी परीक्षा होती है। जैसे रोगी पुरुषके वचन यह सिद्ध कर देते हैं कि अब यह पुरुष रोगसहित है और जब उस पुरुषके रोग नहीं रहता तो उसके निकलने वाले वचन यह सिद्ध कर देते हैं कि अब यह पुरुष नीरोग और निर्दोष हो गया है। तो इसी तरह आपकी युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वचन यह प्रमाणित

क्योंकि प्रतीति ही इस प्रकारकी हो रही है प्रतीतिका लोप करनेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता है। अब यदि स्वयं इस प्रकारकी प्रतीति करते हुए भी वस्तु तत्व ऐसा अनुभवमें आ रहा है इतनेपर भी यदि कुनयके अभिप्रायके कारण विपरीत बुद्धि हो गई और वह ऐसा स्वीकार नहीं करता है तो फिर वह किसी भी इष्ट तत्वकी व्यवस्था नहीं बना सकता इसका कारण यह है कि वस्तुमें वस्तुतत्व स्वरूपके ग्रहण और पर-रूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही बनता है। वस्तु है यह बात तभी सम्भव है जब कि वहां स्वरूपका तो ग्रहण किए हुए हो और पररूपका परिहार किए हुए हो। ऐसी बात व्यवहारमें आने वाले इन सब पदार्थोंमें घटित हो रही है। जो कुछ भी देखा जा रहा है वह सब अपमें स्वरूपसे तो सत् है और परपदार्थोंके रूपसे असत् है। तभी ये सब नजर आ रहे हैं। यह खम्भा अपने ही स्वरूपसे सत् है, बाकी, भींट किवाड़, दरी, चटाई आदिक सब पररूपोंसे निराला है तभी तो यह एक पदार्थ है। तो पदार्थ का स्वरूप स्वरूपके ग्रहण और पररूपके परिहारकी व्यवस्थासे ही बना हुआ है।

स्वपररूपोपादानापोह न माननेपर विडम्बनाका दिग्दर्शन—जैसे पदार्थ स्वरूपसे सत् है यों ही पररूपसे भी सत् बन जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि चेतन अपने स्वरूपसे सत् है तो जो अचेतन है उनके स्वरूपसे भी सत् हो गया। तब चेतनमें अचेतनताका प्रसंग हो गया, अचेतनमें चेतनताका प्रसंग हो गया, क्योंकि अब तो सब कुछ ही पदार्थका स्वरूप बन बैठा। इसी प्रकार यह भी निर-खिये कि जैसे पदार्थ पररूपसे असत् है इसी तरह स्वरूपसे भी असत् हो जाय तो सर्वथा शून्यपना आ गया लो वस्तुमें पररूपका स्वरूप नहीं है और स्वयका भी कोई स्वरूप नहीं है। परसे असत् है ऐसा स्वयं भी असत् है तब फिर पदार्थ रहा ही क्या? जैसे स्वद्रव्यकी दृष्टिसे वस्तु सत् है यों ही परद्रव्यसे भी सत् बन बैठे तो द्रव्यमें प्रति-नियम भी नहीं रह सकता यह दवात दवात ही है यह नियम कैसे बनेगा, क्योंकि यह दवातके स्वरूपसे भी सत् है और चौकी चटाई आदिक स्वरूपसे भी सत् बन गया। तो अब यह दवात ही है अन्य कुछ नहीं है, यह नियम आयगा कहांसे?

स्वपररूपोपादानापोहन न माननेपर संयोगविभागादिसे द्रव्य प्रति-नियम व्यवस्थाका अभाव—शंकाकार कहता है कि संयोग विभाग आदिकके कारण जो कि अनेक द्रव्योंके आश्रय होते हैं, उन संयोग विभागोंके द्वारा द्रव्यका प्रतिनियम बन जायगा। द्रव्यकी प्रतिनियमताका विरोध न आयगा। अर्थात् अपने स्वरूपका संयोग है, अन्य गुणोंका विभाग है अथवा संयोग विभाग ये अनेक द्रव्योंके आश्रय रह रहे हैं, फिर भी उन संयोग विभागोंके कारण ही याने किसका सम्बन्ध है, किसका नहीं है, इस विधिसे ही द्रव्योंका प्रतिनियम बन जायगा। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि संयोग विभाग आदिक अनेक द्रव्योंके गुण हैं तो अनेक द्रव्य होमें स्वद्रव्यपना बन जायगा। स्वयके अतिरिक्त संयोग विभाग आदिकका आश्रय न रखने वाले द्रव्यान्तरमें

प्ररूपण किया जा सकेगा कि प्रत्येक सत् अपने स्वरूपसे है और पररूपसे नही है । अन्यथा अर्थात् जो वास्तविक प्रतीति हो रही है उस प्रतीति बलपर यदि वस्तुका प्ररूपण न किया जाय तब तो नाना जो मनमाने विवाद हैं उनका निवारण न किया जा सकेगा । यदि प्रतीतिके अनुसार वस्तु स्वरूपका निर्णय नही किया जाता है तब फिर कोई भी विवाद दूर नही हटाया जा सकता है । वस्तु प्रतीतिके बलपर वस्तुस्वरूप मान लेनेसे अनवस्था दूषण नही आता । वस्तुकी जैसी निर्बाध प्रतीति हो रही है उस ही प्रकार वस्तुका स्वरूप है । वह स्वरूप उस वस्तुसे अन्य ही प्रतीत नही होता । जिस कारणसे कि वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करनेके लिए स्वरूपान्तरकी अपेक्षाकी जाय । वस्तुका स्वरूप वस्तुमे ही तन्मय है । स्वरूप कोई अलग पदार्थ नही है जिससे कि स्वरूपान्तरकी अपेक्षा की जाय और यदि स्वरूपादिक का स्वरूपान्तर ही माननेकी हठ करते हो तो मान लीजिए । स्वरूपादिकका स्वरूपान्तर मान लेनेपर भी अनवस्था दोष नही आता, क्योकि जिस ही समय स्वरूपान्तर मे अज्ञानकारी है उसी समय प्रथम स्वरूपमे व्यवस्था बनती है और जिस ही जगह स्वरूपका अपरिचय है वहाँ ही उसकी अनवस्था बनती है स्वरूपका कोई लक्षण भी तो हुआ करता है । जो लक्षण है वही स्वरूपका स्वरूप है । तब वह स्वय ही उस स्वरूपसे सत् है । वस्तुका स्वरूप वस्तुमय है । तब वस्तुके स्वरूपका स्वरूपका स्वरूप भी तन्मय है । कोई अन्य चीज नही है । एक वस्तुके जाननेपर कोई अन्य चीज नही है-यह जान लिया, इस ही ज्ञानमे दृढ परिचय है । अतएव एक वस्तुके जाननेपर स्वरूप जान लिया गया । स्वरूपके जान लेनेपर सर्वस्वरूप जान लिया गया । तो वस्तु स्वरूप से सत् है । पररूपसे असत् है, यह तो प्रतीति सिद्ध ही बात है ।

जीवके उपयोगमे, ज्ञानोपयोगमे, ज्ञानविशेषोमे स्वपररूपव्यवस्था—अब जीवद्रव्यके स्वरूपपर विचार करिये । जीवका सामान्यमे उपयोग स्वरूप है । उपयोग कहते हैं चैतन्य शक्तिके व्यापारको । उपयोग लक्षण वाला ही जीव माना गया है । सूत्रजीमे भी कहा गया है कि 'उपयोगो लक्षणं' जीवका उपयोग स्वरूप है और वह उपयोग ज्ञानदर्शनरूप है । तो जीवका उपयोग तो स्वरूप हुआ और उससे भिन्न हुआ अनुपयोग, वह है पररूप । तो जीव उपयोगकी अपेक्षा सत् है और अनुपयोगकी अपेक्षा असत् है, यही अर्थ हुआ । जीव स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत है । अब जीवके उपयोगका भेद किया जाय तो उपयोग दो प्रकारके कहे गए हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानका स्वरूप है स्वार्थाकार व्यवसाय अर्थात् स्व और अर्थके आकारका स्वरूपका निश्चय होना ज्ञानका स्वरूप है । जैसे आत्माका स्वरूप ज्ञान है ऐसे ही ज्ञान का स्वरूप है स्वार्थाकार व्यवसाय । अब वहाँ तीसरा स्वरूप और क्या माना जायगा? वस्तुका स्वरूप जान लिया और स्वरूपका लक्षण पहिचान लिया । अब आगे अन्य स्वरूपकी न जिज्ञासा है और न सिद्धिकी आवश्यकता है । दर्शनका लक्षण अनाकार ग्रहण है । आकारका जहा व्यवसाय नही है किन्तु सामान्य प्रतिभास है वह दर्शनका

करते हैं कि प्रभु आप ही निर्दोष हैं।

स्वरूपसे सत्त्व है इस धर्मका शंकाकार द्वारा खण्डन— अब यहाँ नैयायिक प्रश्न करता है कि स्वरूपसे सत्त्वका विधान बनानेपर तो यह बताइये कि स्वरूप में भी तो स्वरूप और पररूप होना चाहिए। अब तो स्याद्वादशासनमें एक यह ही पद्धति अपना ली गई है कि जो है वह अपने स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है। तो सत् स्वरूपसे है पररूपसे नहीं है तो उस स्वरूपको भी बताइये जिस स्वरूपसे सत् सिद्ध किया जा रहा है उस स्वरूपका भी स्वरूप कुछ होगा जिससे कि स्वरूपका अस्तित्व बन सके या नहीं है दूसरा कोई स्वरूप ? यदि स्वरूपका कोई स्वरूप है। स्वरूपान्तर है तो अनवस्था दोष होता है। स्वरूपका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए अन्य स्वरूपसे सत् बताना होगा। फिर अन्य स्वरूपका भी अस्तित्व जाननेके लिए अन्य स्वरूपान्तर मानना होगा। इस तरह अनवस्था दोष होगा, व्यवस्था न बन सकेगी। यदि कहो कि स्वरूप आदिकका स्वरूपादिक अन्य नहीं हुआ करता तो व्यवस्था फिर कैसे बने कि स्वरूप है इससे स्वरूपसे है पररूपसे नहीं, यह व्यवस्था तो नहीं बनायी जा सकती। क्योंकि स्वरूपका स्वरूपान्तर कुछ माना ही नहीं है, जिससे कि स्वरूपका सत्त्व सिद्ध किया जा सके। स्वरूपान्तर यदि नहीं है तो वह व्यवस्था नहीं बनती और स्वरूपान्तर यदि माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे व्यवस्था नहीं बन सकती। बहुत स्वरूपान्तरकी कल्पना करते करते यदि किसी जगह बहुत दूर जाकर स्वरूपान्तरका अभाव माननेपर भी किसी स्वरूपकी व्यवस्था बना ली जाय तब फिर यहाँ ही अपने घरमें मान लेने जैसी प्रक्रियामें क्या फायदा है ? फिर तो सीधा वस्तुका सत्त्व मान लो। वहाँ स्वरूपसे सत् है। पररूपसे असत् है, इस प्रकारका वाग्जाल बनानेकी क्या आवश्यकता है ? जैसे स्वरूपका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए स्वरूपान्तर मानते मानते किसी जगह स्वरूपान्तरके बिना ही स्वरूपका अस्तित्व मान लेना पड़ा तो ऐसा ही एकदम इस ही समय वस्तुका सत्त्व माननेके लिए स्वरूपसे सत् है पररूपसे असत् है, इसके कहनेकी भी क्या आवश्यकता है ? जैसे प्रतीति हो रही है न्याय दर्शनमें जिस तरहसे द्रव्य गुण आदिक भेद प्रभेद की कल्पना है उसके अनुसार, वस्तु व्यवस्था बना ली जाय फिर स्याद्वादकी और इन प्रथम द्वितीय भंगोंकी क्या आवश्यकता है ?

स्वरूप सत्त्वकी स्पष्ट प्रतीति होनेसे शंकाकारके दुराग्रहका दिग्दर्शन— उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि स्वरूपमें स्वरूपान्तर है या नहीं ? ऐसा विकल्प उठाकर स्वरूपसे सत्त्व पररूपसे असत्त्व इस प्रणालीका निराकरण करने वाला शंकाकार वस्तुस्वरूपकी परीक्षाके अभिमुख नहीं है। केवल अपने सिद्धान्तके आग्रहका ही अनुरागी है। यदि वस्तु स्वरूपकी परीक्षा करने बैठें तो विदित होगा कि वस्तुकी प्रतीति इसी प्रकार हो रही है और इसी प्रकार वस्तु स्वरूपका

गया है सकल प्रत्यक्ष। तो विकल प्रत्यक्षके दो भेद हैं, अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान। इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा न रखकर रूपी पदार्थोंका स्पष्ट ग्रहण होना। इस प्रकार द्रव्य और अर्थके आकारका ग्रहण होना सो तो अवधिज्ञानका स्वरूप है और इन्द्रिय मनकी अपेक्षा न रखकर स्व और विकल्पका ग्रहण होना अथवा मनमें आयी हुई वस्तुका ग्रहण होना सो मनःपर्ययज्ञानका स्वरूप है। प्रत्येक ज्ञानोंमें स्वरूप का व्यवसाय और विषयभूत पदार्थोंका व्यवसाय होता है इस कारण स्वार्थाकार व्यवसाय ज्ञानका स्वरूप है यह लक्षण प्रत्येक ज्ञानोंमें घटित होता है। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानका नाम है और उसका स्वरूप है सर्व द्रव्य पर्यायोंका साक्षात्कार कर लेना। इस स्वार्थाकार व्यवसायसे जो कुछ अन्य है वह सब पररूप है। जिस ज्ञानका जिस दर्शनका जो स्वरूप बताया गया है उस स्वरूपसे भिन्न जो लक्षण है वह पररूप है। और इस प्रकार स्वरूप और पररूपसे उन स्वरूपके सत्त्व और असत्त्वका भी परिचय मिलता है। तथा अन्य पदार्थोंका भी स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे सत्त्व और असत्त्वका परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषके सम्बन्धमें भी स्वरूप और पररूप हुआ करता है। यह विद्वान पुरुषोंको स्वयं समझ लेना चाहिए, क्योंकि जहाँ तक जिज्ञासा चले वहाँ तक विशेषकी प्रतिपत्तियाँ होती चली जायेंगी और ऐसी विशेष प्रतिपत्तियाँ अनन्त हो सकती हैं। यहाँ तक स्वद्रव्यादिकको अपेक्षा अस्तित्व और परद्रव्यादिककी अपेक्षा नास्तित्वका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंमें स्वपररूपव्यवस्था—प्रयोगके स्वपररूपत्वके निरूपणके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव इन विशेषोंका भी स्वरूप पररूप समझा जा सकता है। जैसे द्रव्यकी अपेक्षा सत् असत् कहना है तो द्रव्यका दर्शन अभेद और भेद दो पद्धतियोंसे होता है। जबकि अभेद पद्धतिसे द्रव्यका स्वरूप निरखा जा रहा हो तो अभेद स्वरूपसे द्रव्यस्वरूप है और भेद स्वरूपसे वह द्रव्य नहीं है। तो अभेद स्वरूप यहाँ स्वरूप बना और भेदस्वरूप पररूप बन गया, और जब ही उस ही द्रव्य को भेददृष्टिसे गुण पर्याय आदिक नाना रूपोंमें देखने लगते हैं तो उस समय वे सब अनेक द्रव्य भेदस्वरूपसे हैं। अभेदस्वरूपसे नहीं है तब यहाँ भेदस्वरूप तो बन गया स्वरूप तो बन गया स्वरूप और अभेद बन गया पररूप। इसी प्रकार क्षेत्रके भी दो भेद करके सामान्य क्षेत्र और प्रदेशरूप क्षेत्र तो जब हम अखण्ड-क्षेत्रका निर्णय कर रहे हैं तब सामान्य क्षेत्रकी अपेक्षा वह सत् है और प्रदेशभेदात्मक क्षेत्रसे असत् है तो इस प्रसंगमें अभेदस्वरूप तो स्वरूप बना और प्रदेशभेदरूप पररूप हो गया। इसी प्रकार जब कालकी अपेक्षासे हम सत् असत्का निर्णय करते हैं तो काल भी अभेद-रूप और अभेदरूप दो पद्धतियोंसे देखा जाता है। कालका अर्थ यहाँ परिणमन है। तो परिणमनको जब हम सामान्य परिणमनसे देखते हैं तो सामान्य परिणमनकी दृष्टिसे सत् है और विशेष परिणमनकी दृष्टिसे असत् है। तो यहाँ सामान्य परिणमन स्वरूप हुआ और विशेष परिणमन पररूप हुआ। इसी प्रकार अब हम भावमें स्वरूप

स्वरूप है। अब उस स्वरूपके और भेद किए जायें तो ज्ञानके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। परोक्षका स्वरूप है अवैशद्य। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्षज्ञान माने गए हैं। इनमें अविशद प्रतिभास होता है स्पष्ट प्रतिभास नहीं है। तो परोक्षका स्वरूप है अस्पष्ट परिज्ञान होना और प्रत्यक्षका स्वरूप है वैशद्य अर्थात प्रत्यक्षज्ञान द्वारा वस्तुका स्पष्ट प्रतिभास होता है। तब जिसका जो स्वरूप है उसको छोड़कर अन्य पररूप बन जाते हैं। जैसे परोक्षका स्वरूप है स्पष्ट प्रतिभास। तो पररूप हो गया स्पष्ट प्रतिभास। इसी प्रकार प्रत्यक्षका स्वरूप है स्पष्ट प्रतिभास। तो इसका पररूप हो गया अस्पष्ट प्रतिभास। यद्यपि यह कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है किन्तु उसका अस्तित्व समझा जा रहा है, जिसका परिचय किया जा रहा है बुद्धिमें वह एक विवक्षित तत्त्व होगया। अब उसकी सिद्धि स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं है, यह झलक तो यहाँ भी हागी।

दर्शनोपयोगविषयोमें स्वपररूप व्यवस्था—दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शनके निमित्तसे जो वस्तु परिज्ञान होता है उससे पहिले जो तत्क्षणमें सामान्य प्रतिभास है उसका नाम चक्षुदर्शन है अर्थात चक्षु इन्द्रियके द्वारा जो कुछ भी आलोचन होता है ग्रहण होता है वह चक्षुदर्शन है, चक्षु इन्द्रियको छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ और मनके निमित्तसे जो कुछ वस्तुका परिज्ञान किया जाने वाला है उसके लिए अथवा उससे पहिले जो सामान्य प्रतिभास है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिदर्शनका स्वरूप है अवधिके द्वारा आलोचन करना। अवधिज्ञानसे जो पदार्थ जाना जा रहा है उसके लिये अथवा उससे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास है वह अवधि दर्शन कहलाता है। तो जिस गुणका जो लक्षण है वह उसका स्वरूप है, शेष लक्षण पररूप कहलाते हैं।

ज्ञानोपयोगविशेषोमें स्वपर रूपव्यवस्था—इस प्रकरणमें ज्ञानके दो भेद किए गए थे—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उनमेंसे परोक्षके भी और प्रत्यक्षके भी भेद प्रभेद करके उनका स्वरूप जाना जा सकता है। परोक्षके दो भेद हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो स्वार्थाकार ग्रहण है वह मतिज्ञानका स्वरूप है। और मात्र मनके निमित्तसे जो स्वार्थाकार ग्रहण है वह श्रुतज्ञानका स्वरूप है। यहाँ संज्ञी पञ्चेन्द्रियका विचारपूर्वक जो उपयोग चलता है उस श्रुतज्ञानकी बात कही गई है। वैसे मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान सर्व संसारी जीवोंके होते हैं। एकेन्द्रिय आदिक के भी होते हैं। वहाँ मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें कुछ और विशेष जो परिज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। यह लक्षण व्यापक है और वही यहाँ घटित किया जाता है। प्रत्यक्षज्ञानके दो प्रकार हैं—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। प्रत्यक्षज्ञान कहते उसे हैं कि जहाँ इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना अपने विषयभूत पदार्थका स्पष्ट परिचय हो जाता है। तो जहाँ कुछ ही पदार्थोंका परिचय होता है वह तो है विकल प्रत्यक्ष और जहाँ समस्त विश्वका अनिवार्यरूपसे परिचय एक साथ होता है वहाँ माना

द्रव्य क्षेत्र काल, भावको अपेक्षासे तो शुद्ध द्रव्यकासत्व है और जहाँ सकल द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव नही है कुछ ही द्रव्य क्षेत्र काल, भाव है ऐसे कतिपय भावोकी अपेक्षा लेकर असत्त्वकी व्यवस्था निरखते है तो शुद्ध द्रव्य समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे सत है और कतिपय सद्भावकी अपेक्षासे असत् है, क्योकि जहा कतिपय सद्भाव निरखा जाता है वही शुद्ध द्रव्य न देखेगे वह व्यवहार द्रव्य बन गया। तो यो शुद्ध द्रव्यमे भी अपेक्षासे सत्त्व असत्त्वकी व्यवस्था बन जाती है। तब सिद्धान्त मे यह वचन है कि सत्ता प्रतिपक्ष सहित होता है पूर्णतया युक्तिसगत है। इस तरह सत्ता सामान्यमे भी स्वरूप और पर स्वरूपकी व्यवस्था है। स्पष्ट ही किया गया कि सत्ता भी असत्ता करके सहित है शुद्ध सत्ता अशुद्ध सत्ताकी अपेक्षासे असत् है और शुद्ध सत्ताकी अपेक्षासे सत् है। तब इस ही प्रकार जो सकल क्षेत्र है, आकाश है, जो आदि अनन्त है उसमें भी सत्त्वको सिद्ध करनेके लिए स्वपर सत्त्वकी व्यवस्था बनती है। जैसे सामान्य आकाश समस्त क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् है और प्रतिनियत क्षेत्रकी अपेक्षासे असत् है तो शुद्ध क्षेत्रमे सकल क्षेत्र तो स्वरूप है और प्रतिनियत, क्षेत्र पररूप है इसी प्रकार अनादि अनन्त कालके सत्त्वके लिए समस्त काल स्वरूप तो स्वरूप है और प्रतिनियत काल पररूप है। इस तरह शुद्ध तत्त्वमे भी सत्त्व असत्त्वकी व्यवस्था बन जाती है। स्वरूप चतुष्टयमे ही सत्त्व असत्त्वकी व्यवस्था बनानेसे जो दोष कहे हैं उनका निष्कर्ष यह लेना है कि स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे तो वस्तु सत् है और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षा लेकर वस्तु असत् है।

स्वरूपसत्त्वको छोडकर अन्य भङ्गोकी अनुपपत्तिका शकाकार द्वारा कथन—अब शकाकार कहता है कि निजके सत्त्वका ही नाम परका असत्त्व है तो निजके सत्त्वमें ही परके असत्त्वकी प्रतीति होनेसे वस्तुमे स्वरूप सत्त्व और पररूपासत्त्व का भेद नही है। वस्तु जो है सो ही है उसीको स्वरूपसत बोलते हैं उसीको परका असत्त्व बोलते हैं। चीज तो मूलमे एक ही है। इस कारण सत्त्व असत्त्वका भेद नही बनता। जब सत्त्व असत्त्वका भेद नही बनता तो प्रथम और द्वितीय ये दो भग नही घटित होते। उनमेंसे कुछ भी एक बोल दिया जाय उसमे ही स्वरूप सिद्ध हो जाता है। तो जब प्रथम और द्वितीय भग नही बनें तो तृतीय आदिक भग भी नही बन सकता, क्योंकि अन्य भग बननेका आधार तो प्रथम और द्वितीय भग है। जब दोनो को क्रमसे निरखते हैं तो उभय बना दिया। जब एक साथ निरखते हैं तो अवक्तव्य बना दिया। इसी प्रकार अन्य भी भङ्ग बन जाते हैं। तो जब प्रथम द्वितीय भङ्ग ही नही बनते तब तृतीय आदिक भङ्गोका अभाव होनेसे सप्तभङ्गी घटित ही नही होती।

स्यात् सत्त्व, स्यादसत्त्व, स्यादुभय आदि धर्मोको सिद्ध करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन युक्तिसगत नही है कि प्रथम द्वितीय भङ्ग नही बनते स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षासे स्वरूपमे भेद प्रतीत

पर रूपका निर्णय करने चलते हैं तो भाव भी भेद पद्धति और अभेद पद्धतिसे बोले जाते हैं। तो जब हम अभेद पद्धति स्वरूप हुआ और भेदपद्धति पररूप हुआ। यों प्रत्येक द्रव्य पर्यायमें हम स्वरूप और पररूपको समझ सकते हैं।

शुद्धद्रव्य व व्यवहार द्रव्यकी अपेक्षासे जीवादिद्रव्यषटककी स्वपररूपव्यवस्था – अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जीवादिक द्रव्य ६ हैं। और, जब छहों द्रव्योंको एक साथ जानना चाह रहे – जैसे कहते हैं कि लोक षट्द्रव्यात्मक है। तब छहों जीवादिक द्रव्योंका स्वद्रव्य क्या रहा और परद्रव्य क्या रहा जिससे कि हम जीवादिक ६ द्रव्योंका सत्त्व और असत्त्व बना सकें, क्योंकि जब ६ जीवादिक द्रव्योंका पक्षमें रखा, उनका हम वर्णन करना चाह रहे हैं। तो ६ द्रव्योंको छोड़कर अन्य द्रव्य तो कोई होता ही नहीं है जिससे कि हम किसीको पररूप मान सकें तो जब कोई पररूप न रहा तो पररूपसे असत्त्व सिद्ध न किया जा सकेगा और जहाँ पररूपका असत्त्व न बन सका तो वहाँ स्वरूप भी कैसे कहेंगे ? तो इस तरह जीवादिक ६ द्रव्योंका स्वरूप स्वद्रव्य और परद्रव्य नहीं बनता। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि उन छहों द्रव्योंका भी हम शुद्ध द्रव्य और व्यवहार द्रव्य ऐसे दो भेद करके शुद्ध सद्द्रव्यको अपेक्षासे तो छहों द्रव्योंका सत्त्व प्रतीत होगा और व्यवहार द्रव्यकी अपेक्षा रखकर वहाँ छहों द्रव्योंका असद्भाव सिद्ध होगा इस तरह छहों द्रव्योंके सम्बन्धमें भी शुद्ध सद्द्रव्य तो स्वरूप बनेगा और व्यवहार द्रव्य पररूप बनेगा। शुद्ध सद्द्रव्यका अर्थ है जहाँ केवल सत् सत् यही निर्णय बसा हुआ है। किसी विशेष व्यक्तिरूप सत्का परिचय नहीं है ऐसे सद्द्रव्यको शुद्ध सद्द्रव्य कहते हैं। और, व्यवहार द्रव्यका अर्थ है जहाँ व्यक्ति भिन्न-भिन्न कुछ कुछ द्रव्योंका परिचय है वह व्यवहारद्रव्य रहता है। तो जब छहों द्रव्योंको पक्षमें रखा कि इनका स्वरूप और पररूप बताना है तो उनका स्वरूप है शुद्ध सद्द्रव्य, और पररूप है व्यवहार द्रव्य। अर्थात् जहाँ केवल सत् सत्की दृष्टि रखकर विचार किया जा रहा है वहाँ वह छहों द्रव्योंका स्वरूप है और जहाँ किसी किसी भिन्न भिन्न व्यक्ति रूपसे द्रव्य देखा जा रहा है जिसे आवान्तर सत् कहते हैं वह अपेक्षासे छहों द्रव्योंका परद्रव्य बनेगा। यों छहों द्रव्योंका भी स्वरूपसे सत्त्व और पररूपसे असत्त्वकी प्रतिष्ठा होती है।

अनेक उदाहरणों सहित शुद्ध द्रव्यके स्वरूपसत्त्व पररूपासत्त्वका प्ररूपण—यहाँ शंकाकार कहता है कि शुद्ध द्रव्यमें स्व और परद्रव्यकी व्यवस्था कैसे बन जायगी ? क्योंकि शुद्ध द्रव्य तो समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावस्वरूप हैं और समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको छोड़कर अन्य द्रव्यादिक कोई भी नहीं है। तो अब कुछ अन्य चीजें भी नहीं मिली, कोई परद्रव्य ही नहीं मिला तो स्व द्रव्य और पर द्रव्यकी व्यवस्था कैसे हो जायगी ? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यमें सत्त्व और असत्त्व निरखनेके लिए स्वरूप तो है सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। सो समस्त

क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका एक अधिकरण नहीं बन सकता। अर्थात् एक वस्तुमे विरुद्ध दो धर्म नहीं ठहर सकते जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शका एक अधिकरण न हो सकेगा। वहाँ भिन्न ही अधिकरण मानना होगा। इसी प्रकार समस्त सद्भूत पदार्थों मे सत्व और असत्व युक्तिसे विरुद्ध सिद्ध होते हैं। इस शंकाके समाधानमे कहते हैं कि परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक वस्तुमें प्रवस्थान होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि कथंचित् विवक्षित होनेसे उनमें विरोध नहीं रहता। और एक ही वस्तु सत्स्वरूप है असत्स्वरूप है इस प्रकारकी जानकारी भी पायी जाती है। जो वस्तुमे एकत्व होना, अनेकत्व होना जहाँ ये दो धर्म परस्पर विरुद्ध हैं, अपना स्वरूप न्यारा-न्यारा रखते हैं फिर भी विवक्षासे एक वस्तुमे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है और आगम ज्ञान व प्रत्यक्ष ज्ञानमें जो कि एक वस्तुका ही विषय कर रहा हो अर्थात् आगम ज्ञानसे भी एक वस्तु जाना जा रहा हो और वही वस्तु प्रत्यक्षसे भी जाना जा रहा हो। तो ज्ञान तो वे दो हैं — आगम ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान और एक आत्मामे जाना जा रहा है, तो इन दोनों ज्ञानोंका समवाय भी एक आत्मामे है। फिर भी कारणके भेदके कारण इस ज्ञानका स्वरूप सिद्ध न हुआ है इस कारण इन दोनो ज्ञानोंमें स्वभावभेद है। आगमज्ञानमे तो शब्द कारण है। प्रत्यक्षज्ञानमे इन्द्रियाँ कारण हैं तो इन्द्रियसे प्रत्यक्ष ज्ञान निष्पन्न होता है और शब्दसे आगम ज्ञान निष्पन्न होता है तो इन दोनो ज्ञानोंमें स्वभावभेद हो गया ना। तो जहाँ स्वभाव भेद है वहाँ अनेकान्तताकी बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। इतनेपर भी आत्मद्रव्यकी अपेक्षा इन दोनों ज्ञानोंमे एकत्व है। अर्थात् यह एक जीव आगम ज्ञानसे और प्रत्यक्षज्ञानसे एक वस्तुको जान रहा है तो यो इन दोनो ज्ञानोंमें स्वभावभेद होनेसे अनेकता है जिसपर भी कथंचित् एकत्व माना गया है कि क्योंकि इनमें भेद नहीं पाया जाता। तो इस तरहसे सिद्ध है कि एक वस्तुमे विरुद्ध नानाधर्म रह सकते हैं।

शाब्दिक ज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानमें एकात्मसमवेतता तथा स्वभावभेद होनेपर भी कथंचित् एकत्वकी सिद्धि होनेसे सत्की अनेकान्तात्मकताकी प्रसिद्धि—यहाँ कोई यह नहीं कह सकता है कि शब्दज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानमे स्वभाव भेद सिद्ध नहीं है। बराबर स्पष्ट प्रतिभास और अस्पष्ट प्रतिभास स्वभावका यहाँ भेद पाया जाता है। आगमज्ञानमे अस्पष्ट प्रतिभास है, और प्रत्यक्षज्ञानमें स्पष्ट प्रतिभास है और ऐसी बराबर प्रतीति हो रही है तो प्रतीतिका लोप नहीं किया जा सकता और न यह कहा जा सकता कि प्रत्यक्षज्ञान और आगमज्ञान एक वस्तुका विषय नहीं करते। और न यह भी कह सकते कि प्रत्यक्षज्ञान और आगमज्ञान एक आत्मद्रव्यके आश्रयमे नहीं है। यदि ये दोनो ज्ञान एक वस्तुको विषय करने वाले न होते और एक वस्तुको विषय करने वाले न होते और एक आत्मद्रव्यके आश्रय न होते तो उस ज्ञानमे और उस विषयभूत वस्तुमे प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकता था। जैसे कि यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है कि जो ही मैंने सुना है वही मेरे द्वारा देखा जा रहा है।

होता है। और इस तरह एक वस्तुके सत्त्व और असत्त्वका भेद सम्पन्न हो जाता है। यदि सत्त्व असत्त्वका भेद वस्तुमें न माना जाय तो स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षा से जैसे पदार्थ सत् बताया जाता है उसी प्रकार पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे भी सत्त्व बन जायगा, अथवा जैसे पररूपकी अपेक्षा से वस्तुमें असत्त्व कहा जाता है उसी प्रकार स्वरूप अपेक्षासे भी वस्तुमें असत्त्व बन जायगा। तो सकल जगत शून्य हो जायगा। तो वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व जब दोनोंकी प्रतीति होती है तो यह असंगत कहा जा रहा है कि प्रथम और द्वितीय भंग नहीं बनते। अपेक्षा भेदसे धर्म भेदकी प्रतीति निर्बाध सिद्ध है। जैसे बेरकी अपेक्षासे बेलमें स्थूलपना है तब उस ही बेलमें बैंगनकी अपेक्षा से सूक्ष्मपना हो जाता है इस प्रतीतिमें कोई बाधा नहीं आ रही। तो अपेक्षा भेदसे धर्म भेदकी प्रतीति होती है। इसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। यदि समस्त आपेक्षिक धर्मोंको अवास्तविक कह दिया जाय तब नील है और यह उससे भी गहरा नील है। यह सुख है, यह उससे और यह इससे भी अधिक सुर्ख है आदिक प्रतीतिमें भी वास्तविकता न रहेगी। और प्रत्यक्षमें भी परमार्थता न रहेगी कि यह इससे भी अधिक विशद है और इस प्रकार फिर ज्ञानाद्वैतका प्रवेश भी न हो सकेगा। क्योंकि वहाँ ग्राह्याकार जब सिद्ध न हो सका तो ग्राहकाकार भी कहाँसे सिद्ध होगा? इससे सिद्ध है कि वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनोंके भेदकी उपपत्ति होती है। जब सत्त्व और असत्त्वकी एक वस्तुमें सिद्धि हो गयी तब यह निर्णय रखना चाहिए कि पदार्थ सदसदात्मक हैं अर्थात् कथंचित उभयस्वरूप है। सर्वथा पदार्थोंको उभय स्वरूप न मानना चाहिए। कथंचित सत है और कथंचित असत् है इस प्रकार न माना जाय तो सभी वस्तु प्रत्येक सारे कार्योंको करदे, किन्तु देखा यह जा रहा कि सभी पदार्थ सब कार्योंको नहीं कर पाते। प्रत्येक पदार्थमें अपने अपने अनुकूल ही अर्थक्रिया है। इससे सिद्ध है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। लोकमें भी यह सब देखा जा रहा है। पट आदिक पदार्थ घटादिककी तरह अर्थक्रिया नहीं कर सकते कि वह पट घटकी तरह पानी भर ला सके तो इससे सिद्ध है कि पट अपने ही स्वरूपसे है और वह अपने ही अनुकूल अर्थक्रिया कर सकेगा। घटके स्वरूपसे पट नहीं है तभी पट घटकी अर्थक्रिया नहीं कर सकता। सभी पदार्थ उभयात्मक है। इस प्रसंगमें दृष्टान्त बहुत ही सुगम है और इतना तो सभी प्रवादी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि अपने माने हुए तत्त्वका तो सत्त्व है और दूसरेके माने गए तत्त्वका असत्त्व है। वहाँ यही बात तो आयी कि अपने माने हुए तत्त्वका स्वरूपसे सत्त्व है और अनिष्ट जो परका माना गया तत्त्व है उस रूपसे असत्त्व है। तो स्वपररूपोपादानापोहमें कोई भी विवाद नहीं करता। तो ये ही सब दृष्टान्त बन गये। तो पदार्थ कथंचित सत् और कथंचित असत् है इसमें किसी भी प्रकारका विवाद नहीं उत्पन्न होता।

एक वस्तुमें सत्त्व असत्त्व आदिक नाना धर्मोंकी सिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों कहना, युक्तिके विरुद्ध है,

पूर्वोत्तरपर्यायोमे द्रव्यदृष्टिसे एकत्वकी व पर्याय दृष्टिसे अनेकत्वकी सिद्धि –इस प्रसगमें शकाकार यह कहता है कि उपादान और उपादेयको स्वरूपमे एक मान लिया जाय तो जब उनमे एकता ही हो गयी तो समान कालमे उपादान और उपादेय प्राप्त हो गए। जो स्वरूपसे एक रूप हैं वे हर समय एक साथ हैं। तो यो उपादान और उपादेय एक साथ प्राप्त हो जायेंगे। इसके उत्तरमे स्याद्वाद शासनवादी कहता है कि यहाँ यह दोष नही दे सकते कि जैसे दाहिना बायाँ सींग सर्वथा समान कालमें हैं तो उनमे उपादान उपादेयभाव नहीं बनते। सो ऐसी बात यहाँ नही है। दाहिने बायें सीगकी तरह उपादान उपादेयमे सर्वथा समानकालता नही है इसी कारण उन दोनो पर्यायोंमे पूर्व और उत्तर पर्यायमे उपादान उपादेय भावका विरोध नही होता, क्योंकि उन पूर्वोत्तर पर्यायोमे द्रव्य सामान्यकी अपेक्षासे एकत्व माना ही गया है। जैसे मिट्टीका घडा बना और घडा फूटकर कपाल हो गए तो वहाँ दो पर्यायें हैं –घट और कपाल। कपाल पर्याय होनेका उपादान है घट पर्याय। तो घट और कपालमे मिट्टीकी दृष्टिसे एकता है अन्यथा कोई भी उपादान किसी उपादेयका उपादान बन बैठता। तो जैसे घटके समयमे कपाल नही है। कपालके समयमें घट नही है। किन्तु घट और कपाल—दोनो ही कालमें मिट्टी है तो मिट्टीकी अपेक्षासे घट और कपालमे एकता है। हाँ विशेषकी अपेक्षासे याने पर्याय दृष्टिसे यह घट है, यह कपाल है ऐसा मात्र उन पर्यायोकी दृष्टिसे है, वहा उन परिणामोमे उपादान उपादेयभूत पर्यायोमें एकत्व नही है। यह बात तो सही है, पर उनमें सर्वथा नानत्व हैं या सर्वथा एकत्व है यह बात नहीं कही जा सकती। द्रव्यदृष्टिसे उन पूर्वोत्तर पर्यायोंमे एकत्व है। पर्याय दृष्टिसे उन पूर्वोत्तर पर्यायोमे एकत्व नहीं है, क्योंकि पहिली पर्यायमे होने वाला भाव (स्वभाव) पीछे होने वाली पर्यायमे नही है और पीछे होने वाली पर्यायमे होने वाली पर्यायमें होने वाला स्वभाव पूर्वपर्यायमे नही है इस कारण पर्याय अपेक्षासे उन पर्यायोमें उन उपादान उपादेयभूतमे एकत्व नही है।

प्रतिभासविशेषके कारण पूर्वोत्तर परिणामोमें क्रम अक्रमकी एकत्व न अनेकत्वकी सिद्धि—अब यहा शकाकार कहता है कि इस तरह तो पूर्वोत्तर परिणामोमे एकत्व बनेगा ही नही क्योकि जहाँ क्रम है वहाँ ही यह कहा जा सकता है कि यह पूर्व पर्याय है, यह उत्तर पर्याय है। तो अक्रम माननेपर तो यह न कहा जासकेगा कि यह पूर्व पर्याय है और यह उत्तर पर्याय है। उपादानभूत पूर्व पर्याय है उपादेयभूत उत्तरपर्याय है यह बात तो सही है, पर यह जो मान लिया गया है कि इन पर्यायमें अक्रमता है याने द्रव्य अपेक्षासे एकत्व है सो एकत्व होना, अक्रम होना पूर्व और उत्तर पर्यायमें विरोध बनता है। इस शकाके समाधानमें कहते हैं कि पूर्व और अपर परिणामोमें अक्रमका विरोध है यह बात युक्तिसगत नही है, क्योंकि जब प्रतिभास विशेष दृष्टिके कारण निरपेक्ष क्रम भी मान लिया गया अर्थात् क्षणिकवादमें पर्याय मात्र ही

और जैसा ही मुझमें यह सुना है वह ही मैं दिख रहा हूँ। ऐसी प्रतीति हो रही है जो प्रत्यभिज्ञानसे सम्बन्धित है। किसी प्रकारकी बाधा नही आ रही है। इससे यह सिद्ध है कि आगमज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानमें दोनोंका आधार आत्मद्रव्य है और इन दोनो ने एक वस्तुको विषय किया है, क्योंकि इनमें विच्छेद भी नही पाया जाता। अब शंकाकार कहता है कि उपादानक्षण और उपादेयक्षणमे यह ही वह है ऐसा अनुसंधान सिद्ध हो जाता है इस कारणसे उन ज्ञानोमें विच्छेद नही भी पाया जा रहा है फिर भी एकत्वकी सिद्धि नही होती। हाँ एक संतानपनेकी ही सिद्धि हो रही है। एकत्व यो सिद्ध नही हो रहा कि इसमे द्रव्यका अभाव है। जो ज्ञानक्षण है और अर्थ क्षण है वह ही वास्तविक सद्भूत पदार्थ है। तो उनमें स्वरूपएकत्वकी सिद्धि नही की जा सकती। इसके समाधानमे कहते हैं कि यदि स्वरूपका एकत्व न माना जाय तो उन ज्ञानक्षण और अर्थक्षणोमें उपादानका और उपादेयताकी उपपत्ति नही बन सकती। इस कारण मानना होगा कि वे आगमज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान एक आत्मद्रव्यमें हुए हैं। एक वस्तुको विषय करने वाले हैं और इस तरह उन दोनो ज्ञानोमें स्वभावभेद है स्वभाव भेद होनेपर भी उनमे कथंचित् एकत्व माना हो गया है अतः सिद्ध है कि एक वस्तुमें विवक्षासे विरुद्ध धर्मोंका अवस्थान हो सकता है।

स्वरूपैकत्वके अभावमे उपादानभावकी व उपादेयभावकी अनुपपत्ति- उपादानभूत और उपादेयभूत परिणामोमे द्रव्यदृष्टिसे स्वरूपकी एकता माननी ही होगी। यदि द्रव्यकी अपेक्षासे उनमे एकत्व न स्वीकार किया जाय और भिन्न–भिन्न ही पदार्थ मान लिए जायें उन परिणामोंमे जिनने पूर्व परिणामको उपादान माना हो और उत्तर परिणामको उपादेय माना हो तो सुनो वहाँ क्या आपत्ति आयगी ? इस मतव्यमे अब उपादान कार्यके सम्बन्धमे अपना स्वरूप न रख सकेगा, क्योंकि उपा दान तो पूर्वक्षणमें हुआ और वही नष्ट हो गया। और उपादेय अर्थात् कार्य जब हुआ उस समयमें उपादान हैं नही तो अब कार्यके समय उपादान अपने स्वरूपको नहीं रख सकता और वहाँ कार्यकी उत्पत्ति मान ली जाती है अर्थात् उपादानभूत परिणाम के अभावमें उपादेयभूत कार्यका मान लिया गया तो इसी प्रकार बहुत काल हो जाय उपादानसे निवृत्त हुए उस समय भी बात तो यही सामने रही कि कार्यके समयमे उपादान अपना स्वरूप नही रख रहा। तो वहाँ भी कार्यकी उत्पत्ति बन जाय। यह नियम न बन सकेगा जब कि उत्तर समयमें ही कार्यका कारण होता है पूर्व उपादान। उपादान अगले समयोंमें कभी भी किन्हीं भी कार्योंका कारण बन जाय और यों बहुत से क्षण पहिले गुजर गए वे सभी नष्ट क्षणमें कार्यके कारण कहलाने लगेंगे। तो जब कार्य समयमे जब उपादान नहीं है और कार्य उत्पन्न हो गया तो वहाँ यह भेद न बन सकेगा कि इस कार्यका उपादान कारण यह है। न जाने कितने ही उपादान कारणों से यह कार्य हो गया हो तो ऐसी आपत्ति आ जायगी और जब द्रव्य दृष्टिसे उन परिणामोमें एकता स्वीकार की जाती है तब वहाँ यह आपत्तिका प्रसंग नही होता है।

द्रव्य माना गया है और वहाँ ही यह व्यवस्था मानी गई है कि पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का कारण होता है उपादान होता है तो वहाँ क्रम माना गया ना ! पूर्वद्रव्य और उत्तर और उसे माना है निरपेक्ष मानने जब एकता नही है, स्वभाव नही है, द्रव्य ही नही है तो उन दोनोका होना तो स्वतन्त्र है। जैसे पृथक-पृथक पाये जाने वाले पदार्थों में निरपेक्षता है, कोई किसीका सत्त्व लेकर सत् नहीं है, इसी प्रकार इन उपादान उपादेयभूत पर्यायोमें भी कोई अपेक्षा लेकर सत् नही माना है क्षणिकवादमे, किन्तु निरपेक्षक्रम माना गया है और वह प्रतीत होता है प्रतिभास भेदकी वजहसे। घट घट ही है, कपाल कपाल ही है। घटका प्रतिभास और किस्मका है। कपालका प्रतिभास अन्य प्रकारसे है तो प्रतिभास भेदकी वजहसे जब निरपेक्ष क्रम भी मान लिया जाता तब यदि प्रतिभासकी एकता हो रही हो तो उस एकत्वके कारण अक्रम क्यों न मान लिया जायगा ?

पूर्वोत्तर पर्यायोमे क्रम व अक्रमकी प्रतीतिका उदाहरण जैसे घट और कपालमें क्रम प्रतीत होता है, क्योंकि घटका प्रतिभास अन्य है कपालका प्रतिभास अन्य है। तो यहाँ ही मिट्टीकी अपेक्षासे एकत्व भी तो प्रतिभासमें आ रहा। मिट्टीको निरखकर घटको भी कहेंगे वही चीज ना है, कपालको भी कहेंगे कि वही मिट्टी तो है तो एक मिट्टीकी दृष्टिसे प्रतिभासमे एकत्व भी तो नजर आया, उस कारण फिर इनमें अक्रम क्यो न मान लिया जायगा ? यदि यह हठ करो कि प्रतिभासका एकत्व भी है तो भी वहाँ अक्रम नही माना जाता याने घट और कपालमें जो मिट्टीका प्रतिभास हो रहा है उस मिट्टीका प्रतिभास होनेकी दृष्टिसे उन दोनोमें एकता है, वह भी मिट्टी है, कपाल भी मिट्टी है, तो ऐसे प्रतिभासका एकत्व होनेपर भी यदि मिट्टीका अक्रम नहीं माना जाता कि वह सर्वत्र है, सर्वकाल है, ऐसा एक साथ नही माना जा रहा तब फिर प्रतिभास विशेषकी वजहसे क्रम भी कैसे मानने योग्य हो जायगा ? क्रम मानने का हेतु तो यही होता था कि वहाँ प्रतिभास विशेष हो रहा है तो इसमे उल्टी बात होने दो याने प्रतिभास विशेष न हो, प्रतिभासकी एकता हो तो अक्रम मानना चाहिए लेकिन अब प्रतिभासकी एकता होनेपर भी अक्रम नही माना जा रहा तो प्रतिभास भेद होनेपर भी क्रम भी न माना जाय। सभी वस्तुओका उस ही प्रकारसे स्वरूप है जैसा कि प्रतिभासमें आ रहा है। क्रम और अक्रम जब दोनो ही प्रतिभासमे आ रहे हैं, स्पष्ट परिचयमें आ रहे हैं तो उनमें विरोध नही माना जा सकता। जैसे घट और कपाल इनमें क्रम नजर आ रहे हैं पहिले घट, पीछे कपाल और मोटी दृष्टिसे अक्रम नजर आ रहे हैं, पहिले भी मिट्टी अब भी मिट्टी। तो क्रम और अक्रम ये दोनो प्रतिभासमें आ रहे हैं तो वहाँ विरोधका अवतार नही है।

वस्तुके क्रमाक्रमात्मक होनेमे सहानवस्थालक्षण विरोधका अभाव— विरोध होता है अनुपलब्धि लक्षणात्मक अर्थात न पाया जाय उस ही को तो विरोध

पदार्थके एकानेकाकारात्मकत्व, क्रमाक्रमस्वरूप, सामान्य विशेषात्मकत्वका परिचय उक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि कोई भी लौकिक पुरुष अथवा परीक्षक पुरुष जानता है कि पदार्थ एक होकर भी अनेकाकाररूप है अर्थात् एकरूप और अनेकरूप है अक्रम व क्रमस्वरूप है, अन्वय व्यतिरेक स्वरूप है। सामान्य विशेषात्मक है और जिसका सत् और असत् परिणाम है अर्थात् नित्यानित्यात्मक है। स्थिति, उत्पाद और विनाश स्वरूप है। अपने ही शरीरमे व्यापी है। यदि चैतन्य पदार्थको जान रहा है तो वह चैतन्य पदार्थ अपने शरीरमे व्यापक है। जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके सब प्रदेशमे है और अचेतन पदार्थकी अपेक्षा लगाये तो उसका जो कुछ भी काय है स्वरूप है वह अपनी ही उस कायमे व्यापक है। अर्थात् उसके जो अवयव हैं उन अवयवोमे व्यापकर रहने वाला है। तीन कालमे रहता है। ऐसे अपने आपके स्वरूपको और परस्वरूपको कथंचित् प्रत्यक्ष करता है अथवा अनुमान आदिकसे परोक्षरूपमे जानता है जानकार। जैसे कि केश मच्छर आदिकका विवेक करने वाले अथवा इनमे व्यामोह रखनेकी बुद्धि वाले पुरुष उनका कथंचित् साक्षात्कार करते है और कथंचित् परोक्षरूपसे जानते हैं। यह आत्मा उस प्रकारके एक चैतन्यस्वरूपको धारण किये हुये है सो जो कि एकात्मक है। क्रमरूप है, अन्वयरूप, सामान्य स्वरूप सत्य परिणामात्मक जो सदा रहने वाले ऐसे एक चैतन्यको धारण करता है वही आत्म वस्तु सुखादिक नाना भेदोका जो कि परस्परमे अपने सजातीयसे विविक्त स्वरूप हैं और अन्य विजातीयोसे विविक्त स्वरूप है ऐसे सुखादिक भेदोको भी धारण करता है अर्थात् यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा एक एक हीको धारण करता है अर्थात् या तो एक चैतन्यको भी धारण करता है या सुखादिकको इसमेसे किसीका भी एकान्त माननेपर कहीं भी किसी भी प्रकार नियम न रह सकेगा।

एकानेकाकारात्मकताका निरीक्षण - उक्त समस्त वक्तव्यका साराश यह है कि देखिये—सभी लौकिकजन अथवा बुद्धिमान परीक्षक पुरुष यह तो निरख ही रहे हैं कि आत्मा वह एक है। जो पहिले था वही अब है और अपने बारेमे नाश होनेका भ्रम भी नहीं है कि मै सर्वथा नष्ट हो भी जाऊगा। अनुभव होता है तो आत्माको एक और अक्रमरूप अर्थात् सर्व पर्यायोमे वही वही तो है अन्वयरूप तथा सामान्यात्मक, जिसमे चैतन्य स्वरूप ही तो है ऐसे नित्य स्थिति स्वरूप अपने आपको द्रव्यदृष्टिसे प्रत्यक्ष करते है। अर्थात् स्व सम्वेदन ज्ञानके द्वारा स्पष्ट समझते है कि इसी प्रकार बाह्य पदार्थ जिनका कि सन्तानान्तर नाम है उनको भी द्रव्यकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष करता है और ये ही लौकिक व परीक्षक जन लिंगस शब्दसे और अन्य सन्तो से इस ही स्व और परको परीक्षारूपसे जानते हैं। अब उप ही स्वपर वस्तुको पर्याय दृष्टिसे भी निरख रहे हैं। पर्यायदृष्टिसे निरखनेपर स्वय व पर सब अनेकाकार विदित हो रहा है। जहाँ भिन्न अनेक पर्याये दृष्टिमे लायी जा रही है वे सब व्यतिरेक रूप नही हैं। प्रतिक्षण नष्ट होने वाली है। वे सब विशेषरूप है। सामान्यरूप

हार करके दोनो हैं, लेकिन दोनोका सद्भाव तो एक आत्मामे पाया ही जा रहा है। तो क्रम और अक्रमके एक साथ रहनेका सत्व और असत्वके एक साथ रहनेका परस्पर परिहार स्थितिरूप विरोध बताकर विवाद नही उठाया जा सकता। हां जो धम एक वस्तुमे असम्भव है अथवा कुछ सम्भव है कुछ असम्भव है उनमे एकत्व या एकाधिकरण नही हो सकता है। जैसे पुद्गलमे ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नही है। क्योंकि पुद्गलमें ज्ञान दर्शन दोनो ही सम्भव नही है और पुद्गलमे रूप और ज्ञान इन का विरोध है। यद्यपि रूप पुद्गलमे सम्भव है किन्तु ज्ञान सम्भव नही, लेकिन जो सम्भव है ऐसे धर्मोंमें विरोधकी बात नही कही जा सकती।

वस्तुमे उपलब्ध सर्व धर्मोंकी समान बलवत्ता होनेसे एकानेकादि धर्मो मे वध्यघातक भावरूप विरोधका अभाव तीसरे प्रकारका विरोध है वध्य घातकभाव एक हननके योग्य है और एक उसका घात करने वाला है ऐसा विरोध वध्यघातक भाव कहलाता है, जैसे सर्प और नेवलेमें वध्यघातक भाव है सो वध्य-घातक भाव वाला विरोध सत्व और असत्वमे नही कहा जा सकता क्योंकि यह विरोध तो दुर्बल और बलवानके बीच होता है। जैसे सर्प और नकुलमें नकुल बल वाला है, सर्प निर्बल है तो उनमें वध्यघातक भाव बन जाता है। नेवला सांपको मार डालता है और कदाचित् कोई सर्प अतीव बलवान हो तो वह निर्बल नकुलको भी मार डालता है। तो वध्यघातक भावरूप विरोध निर्बल और बलवानके बीच हुआ करता है। लेकिन सत्व और असत्वमें इस विरोधकी शका नही की जा सकती, क्योंकि सत्व और असत्व दोनो ही समान बलवान हैं और यह बात आगेकी कारिकामे बताई जायगी। सक्षेपमें यह समझ लीजिये कि वस्तुमे सत्व जितने ही बलपूर्वक है, अर्थात् स्वरूपसे वस्तु सत् है यह बात जितनी दृढतासे कायम रहती है उतनी ही दृढतासे असत्व भी कायम रहता है अर्थात् पररूपसे असत्व है यह धर्म भी उतनी ही दृढतासे कायम रहता है। इन दोनोमें यह भेद नही किया जा सकता कि स्वरूप सत्व तो बलवान है और पररूप असत्व दुर्बल है या पररूपसे असत्व बलवान है और स्वरूपसे सत्व निर्बल है। यद्यपि कुछ दार्शनिकोंने ऐसी ध्वनि निकाली है तो यह आवाज एक मूढका परिणाम है। जिस ओर उनका उपयोग हुआ उसका ही आग्रह कर बैठे। तब वहाँ उन्हें ऐसा विदित हुआ कि पररूपका असत्व बलवान है। किन्हीने ऐसा प्रतीत किया कि सत्व बलवान है। जैसे अन्यापोहवादी कहते है कि शब्दका अर्थ सीधा वही नहीं है किन्तु शब्दका वाच्य है अन्यापोह और वहां अन्यापोह ही विदित होता है। उसमें फलित अर्थ निकल आता है और सत्ता द्वैतवादी कहते हैं कि सब कुछ सत् सत् ही है, असत् कुछ हुआ ही नही करता। सत्मे ही कुछ बात कही जा सकती, असत्में बात नहीं कही जा सकती। तो यों उन दार्शनिकोकी भांति कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि स्वरूपसे सत्व और पररूपसे असत्व ये दोनो ही एक समान बलवान हैं।

अनुमान भी करता है, सुनता भी है इस तरहसे परोक्षरूपसे भी जानता है, किन्तु जिसको अविवेक है और उसमे व्यामोह हुआ है ऐसे प्रतिभास वाले ज्ञानके द्वारा जो उनमे अभेद परिणाम समझा जा रहा है उस अन्तर परिणामको कथंचित् साक्षात्कार करता है अर्थात् योग्य देशमे और जिस तरहसे वह निरख रहा है वह क्रमरूप सही, मगर कर तो रहा है प्रत्यक्ष और शब्द अथवा अन्य युक्तियोंसे उसे परोक्ष नसे भी जान रहा है तो जैसे यहांके व्यामुग्ध और विवेकी पद थोंको अभेद रूपसे जान लेते हैं इसी प्रकारसे कोई भी लौकिक अथवा परीक्षक पुरुष इन समस्त वस्तुको एकात्मक और अनेकात्मक दोनों निर्विरोध प्रत्यक्ष करता है अथवा परोक्ष रूप जानता है तब वस्तुमे एकाकारका रहना क्रम अक्रमका रहना अन्वयव्यतिरेकका रहना ये सब सिद्ध हो जाते हैं।

आत्मपदार्थमे एकाकारता व नानाकारताका दर्शन— शंकाकार कहता है कि वह वस्तु अर्थात् आत्म पदार्थ या तो एक चैतन्यको ही धारण करे जो कि अक्रम आदिक रूप है। अक्रम है अन्वय है आदिक रूपको ही धारण करे, सुख आदिक सजातीय अचेतन वस्तुसे भी भिन्न है। ऐसे अनेकाकार सुखादिक भेदोको न धारण करे। अथवा उन अनेकाकारात्मक सुख आदिक भेदोको ही धारण करे। चैतन्यको धारण न करे। एक किसीको ही आत्मा धारण करे अर्थात् आत्मामे या तो एक चैतन्यस्वरूप ही माने, अथवा उसमे सुख आदिक नानाकार ही माने दोनो बातें एक साथ नही मानी जा सकती हैं। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यदि वस्तुत: इन दोनो मेसे एकाकारता और अनेकाकारता इनमेसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नष्ट हो जायगा। तब दोनो ही न रह सकेंगे। जैसे कि आत्मामे एक स्वरूपता नही मानी जाती चैतन्यभाव नही माना जाता, तो सुखादिक भेद कहाँ ठहरेंगे? और यदि वहाँ तरंग परिणमन कुछ भी नही माना जाता तो वह एक सत्त्व भी कहाँ रह पायगा इस कारणसे मानना होगा कि आत्मतत्त्वमे चैतन्य अभेदस्वरूप है और सुखादिक नानाकार रूप भी है। किसी एकके मान लेनेपर भी या भेदरूप मान लिया अथवा अभेदरूप मान लिया तो केवल किसी एकके स्वीकार करनेपर कथंचित प्रत्यक्ष आदिक रूपसे और अपने ज्ञानादिक रूपसे वहाँ नियम न बन सकेगा। अर्थात् जो माना है वह भी सिद्ध न हो सकेगा। इस कारण यह बात बिल्कुल ही युक्तिसंगत कही गई है कि वस्तु सदसदात्मक है। यदि वस्तुको सदसदात्मक न माना जाय तो वहाँ व्यवस्था नहीं रह सकती। इस प्रकार वस्तु कथंचित् सत् ही है, वस्तु कथंचित् असत् ही है ऐसा जो तुम्हारा शासन है हे प्रभो! वह बिल्कुल निर्दोष है। यो प्रथम भंग और द्वितीय भंगका श्रद्धान कराके अब तृतीय आदिक भंगोका निर्देश कर रहे हैं।

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तित।
अवक्तव्योत्तरा· शेषास्त्रयो भंगा स्वहेतुत·॥१६॥

नहीं हैं। एकका दूसरेमें भेद है। अतएव वे सब विशेषात्मक हैं। और उनका परिणाम पहिले न था। वे असत् परिणाम वाले हैं। अब है जो परिणाम वह न पहिले था न आगे रहेगा। वह उत्पत्ति विन का स्वरूप है। ऐसा पर्याय दृष्टिसे द्रव्य प्रत्यक्ष में अथवा परोक्षरूपसे विदित होता है। क्षेत्रकी अपेक्षासे पर्यायदृष्टिको लेकर यह विदित होता है कि निश्चयनयसे तो वह वस्तु है, दूसरे स्वदेशमें ही नियत है और व्यवहारनयसे अपने शरीरमें व्यापक है। यदि बाह्य अर्थकी चर्चा हो तो वह अपने अवयवमें व्यापक है, कालकी अपेक्षासे वह त्रिकाल गोचर है, तीनों काल रहने वाला है और पर्यायके सम्बन्धमें पर्यायका मन्व है। इस तरह लौकिक अथवा परीक्षक जन बुद्धिमान जन अथवा साधारण पुरुष भी ऐसा जानते हैं प्रत्यक्षरूपसे और परोक्षरूपसे. ऐसे आत्माको अथवा परपदार्थको द्रव्यादिककी अपेक्षा किस तरह प्रत्यक्ष करते हैं अथवा परोक्ष जानते है सो सुनो।

प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञानोसे वस्तुके एकानेकत्वका परिचय—साक्षात् करने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक जो विशद ज्ञान है उस निर्मल ज्ञानके द्वारा स्व और परका साक्षात्कार करता है। यह जीव विशद ज्ञान दो प्रकारसे हुआ करते हैं एक मुख्य रूपसे विशद ज्ञान, दूसरा व्यवहार रूपसे विशद ज्ञान। मुख्य विशद ज्ञान भी अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान है। जहाँ इन्द्रिय मनकी सहायता नहीं है, केवल आत्मशक्तियाँ ही सब जानी जा रही हैं। जो उसका विषय है वह तो है मुख्य रूपसे निर्मल ज्ञानकी बात और व्यवहारसे विशद ज्ञान है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अर्थात् मतिज्ञान, उसके द्वारा जीव स्व और परका साक्षात्कार करता है। और परोक्षज्ञानके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक अविशद ज्ञानके द्वारा, जो अनुमान स्मरण आदिक नाना भेदरूप है ऐसे अविशद ज्ञानके द्वारा स्व और परको परोक्ष रूपसे जानता है। ज्ञानके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो विशद ज्ञानको कहते हैं। स्पष्टज्ञान जहाँ हो वह प्रत्यक्षज्ञान है और जो विज्ञान है वह सब परोक्षज्ञान है। विशद ज्ञान भी दो प्रकारसे है—मुख्य विशदज्ञान और सांव्यवहारिक विशद ज्ञान। तो इस तरह प्रमाण दो भेदरूप है—प्रत्यक्ष और प्रमाण। प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ज्ञानोंका ही पदार्थकी जानकारीमें व्यापार हुआ करता है। तो इस तरह सभी पुरुष स्वपर वस्तुको भेदाभेदात्मक रूपसे जान रहे हैं।

उदाहरणपूर्वक एकानेकात्मकताकी सिद्धि—इस अनुमान प्रयोगमें न केश आदिकमें विवेक बुद्धि रखने वालोंका अथवा व्यामुग्ध बुद्धि वालोंका दृष्टान्त दि' है, वह दृष्टान्त भी युक्तिसंगत है। देखा जाता है कि केश मच्छर मक्खी आदिकका जहाँ प्रतिभास हो रहा है ऐसे ज्ञान द्वारा उनका सत्त्व साक्षात्कार किया जा रहा है। जो जीव इन सबमें भेद डाल रहा है, भेदपूर्वक जान रहा है वह इसका सत्त्व साक्षात्कार कर रहा है और किसी अन्य उपायसे लिङ्गसे अर्थात् हेतुसे अथवा शब्दोंका

वस्तुमे स्वरूपापेक्षया ही सत्का व पररूपापेक्षया ही असत्का दर्शन— यहाँपर यह सिद्ध किया कि क्रमसे उसकी विवक्षायें करनेपर वस्तु द्वैतरूप है, उभय है सो मान लो कदाचित् पर यह बतलाओ कि वहाँ स्वरूपसे ही सत् है पररूपसे ही असत् है, इसके उल्टे इस न हो अर्थात् पररूपसे सत् हो स्वरूपसे असत् हो ऐसा नही है यह जाने कैसे जाना ? ऐसा भी तो कहा जा सकता कि वस्तु पररूपसे सत् है और स्वरूपसे असत् है इस प्रकार उभयात्मक है। तब यह निर्णय कैसे किया गया कि स्वरूपसे ही सत् हुआ और पररूपसे ही असत् हुआ ? इसके समाधानमे कहते है कि ऐसा ही देखा जा रहा है कि वस्तु स्वरूपसे ही सत् है और पररूपसे ही असत् है। तो जैसे देखा जा रहा है उसमें युक्तिकी क्या आवश्यकता है ? प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे ही सत् है पररूपसे ही असत् है इससे उल्टी बात नही लगायी जा सकती क्योकि वहाँ ऐसा विपरीत देखा ही नही जा रहा है। अर्थात् पररूपसे सत् हो और स्वरूपसे असत् हो ऐसा वस्तुमे कुछ देखा ही नही जा रहा है। समस्त जन इसके साक्षी हैं कि स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे ही सत्त्व पाया जाता है और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे ही असत्त्व पाया जा रहा है। उसके विपरीत ढगसे वस्तुमे सत्त्व असत्त्व नही है, जब जो देखा जा रहा है और सभी मनुष्य मान रहे है उसको प्रमाण करने वाले पुरुषको वस्तु भी उस ही तरह मानना चाहिए अर्थात् वस्तु स्वरूप चतुष्टयसे सत् है और पररूप चतुष्टय से असत् है यदि ऐसा नही माना जाता तो प्रमाण और प्रमेयकी व्यवस्था नहीं बनती फिर बतलाओ कि इस ज्ञानके द्वारा यही जाना गया और यह ही प्रमाण है, यह ही प्रमेय है, यह व्यवस्था कैसे बनेगी ?

तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य व तदध्यवसायकी कल्पना करनेपर भी स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसे दर्शनमें प्रमाणत्व माननेकी तथ्यभूतता— शकाकार कहता है कि तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय इन तीन लक्षणोंके द्वारा प्रमाण और प्रमेयका व्यवस्थ लगायी जा सकेगी। जो प्रमाण जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है वह उस पदार्थ का जाननहार है। जो ज्ञान जिस पदार्थके आकार रूप परिणमा है वह ज्ञान उस पदार्थ का जाननहार होगा, और जिसका अध्यवसाय पडा हुआ है अर्थात् वस्तुके दर्शनके पश्चात् जो सविकल्प ज्ञान होता है वह उसकी पुष्टि कर देता है। तब उससे सिद्ध है कि इस प्रमाणने इस प्रमेयका विषय किया। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि कोई पुरुष न कुछ तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय कल्पना भी करने, तब भी यह बात तो मानना ही पड़ेगी दर्शनमे कि यहाँ स्वविषयके अनुपलम्भकी व्यावृत्ति है अर्थात् जिस पदार्थको विषय किया है उसका अनुपलम्भ नही पाया जाता। उपलम्भ है, प्राप्ति है जाने हुए उस पदार्थ स्वरूपकी यहाँ उपलब्धि है, ऐसा तो दर्शनमें मानना ही पड़ेगा। अब इस ही बातको स्पष्ट सुनिये, और इस आशकाको भी दूर करिये कि प्रमाणमें अपने विषयकी उपलब्धि है, यह नियम इन तीन बातोके माननेपर ही बनता है। तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसायके होनेसे ही प्रमाणता होती है इस आशकाको दूर

कथंचित् उभयरूप तृतीय भंगकी सिद्धि—जैसे कि प्रथम और द्वितीय भंगमें स्वरूप और पररूपकी अपेक्षा बनाया गया अर्थात् वस्तु स्वरूपसे सत है और पररूपसे असत् है। तो जब क्रमसे इन दोनोंकी विवक्षा करनेका आशय होता है तब वस्तु वहाँ द्वैत है अर्थात् उभयरूप है। क्रमसे विवक्षित स्वरूप और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे वस्तु कथंचित् उभयरूप है अर्थात् सदसदात्मक है। इस हीको द्वैत कहा करते हैं। द्वैतशब्दमें दो शब्द हैं—द्वि और इत। जो दोसे इत हो व्याप्त हो उसे द्वैत कहते हैं। दो है सत्त्व और असत्त्व। इन दोनोंसे जो व्याप्त हो उसे द्वैत कहते हैं अर्थात् पदार्थ कथंचित् द्वैत है। इसमें ही द्वैत शब्दमें क प्रत्यय लगानेसे द्वैत शब्दकी सिद्धि होती है।

सप्तभंगीमें चतुर्थ पञ्चम षष्ठ व सप्तम भंगकी उपपत्ति—चौथा अवक्तव्य भंग भी एक साथ दोनोंकी अपेक्षा कहा न जा सकनेसे सिद्ध होता है अर्थात् पदार्थ स्वरूप चतुष्टय और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे एक साथ कहा नहीं जा सकता। इस कारण वस्तु कथंचित् अवाच्य है। क्योंकि दोनों अपेक्षाओंको एक साथ कह सकने वाला पद अथवा वाक्य कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता है। सत् असत् उभय और अवक्तव्य ऐसे यहाँ चार भंग बताये गए हैं। अब इन चार भंगोंके आश्रय से तीन शेष भंग और भी लगा लेना चाहिए। वे कौन से? कथंचित् सत् अवक्तव्य कथंचित् असत् अवक्तव्य, कथंचित् सत् असत् अवक्तव्य ये ३ भंग पूर्वमें कहे गए चार भंगोंसे भिन्न हैं और ये तीन भंग अपने हेतुवोंके आधारसे समझ लेना चाहिए। जैसे जब स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षा रखकर फिर एक साथ नहीं कहा जा सकता है यह दृष्टि है तब वहाँ कथंचित् सत् अवक्तव्य सिद्ध होता है। पररूप चतुष्टयकी अपेक्षा रखकर फिर एक साथ नहीं भी कहा जा सकता, ऐसी दृष्टि बनानेपर कथंचित् असत् अवक्तव्य ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार स्वरूप चतुष्टय और पररूप चतुष्टय की अपेक्षा रखकर फिर एक साथ यह नहीं कहा जा सकता, ऐसी दृष्टि रखनेपर कथंचित् सत् असत अवक्तव्य सिद्ध होता है। यहाँ जो तीन धर्म बताये गए थे प्रथम सत् द्वितीय असत् और तृतीय उभय इनमेंसे यदि किसी एकको न माना जाय तो वस्तुमें अवक्तव्यत्व धर्म नहीं बन सकता। तब केवल अवक्तव्य नामका चतुर्थभंग कैसे उत्पन्न हुआ सो सुनो! उन सत् असत् उभयत्व धर्म जो वहाँ पर है उनकी अविवक्षा रहे तब केवल अवक्तव्य भंग बनता है। जैसे अन्तके तीन भंगोंमें सत् असत् उभयकी अपेक्षा रखकरके एक साथ नहीं कहा जा सकता है यह दृष्टि रखी थी तब वहाँ अवक्तव्यके संयोगमें शेष भंग बने, लेकिन जब इन तीनकी अविवक्षा हो जाती है, कोई अपेक्षा नहीं रखी जाती और यह निरखा जा रहा कि कथन किया नहीं जा सकता। तब वहाँ अवक्तव्य नामक भंगकी उत्पत्ति होती है। इस कारण यहाँ विरोधका अवकाश नहीं है।

तो कहा है कि जो दर्शन जिस पदार्थके आकार होता है वह दर्शन उस पदार्थको ग्रहण करता है तो नीलाकार दर्शन हुआ, अनेक जीवोंको हुआ, तो अनेक सतानोमे जो नीलाकार दर्शन हुआ तो सबके उस दर्शनने एक ही अर्थाकारको धारण किया। नीलाकारमें जिस प्रकारका आकार होता है वैसा ही आकार होता है वैसा ही आकार सन्तानोने, जीवोने धारण किया। सो वहाँ सतानान्तरके समान ही अन्यके तादूप्य प्रथ विज्ञान हो रहा लेकिन वहाँ प्रमाणता नही होती। तो तद्रूप होनेसे भी ज्ञानमे प्रमाणता आये यह नियम नही बनता। अब देखिये ये दोनो लक्षण भी पाये जाये अर्थात् जिसके दर्शनमें तदुत्पत्ति भी है और तादात्म्य भी है ये दोनो लक्षण होनेपर भी वह अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। जैसे कि समान अर्थका जो पहिले परिज्ञान हुआ है उस विज्ञानके साथ अनैकान्तिक दोष होते हैं। जो पहिले ही ज्ञान बना है उस ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है अन्य ज्ञान और उसकी तद्रूपता मानी है फिर भी वहाँ प्रमाणता नही मानी गई।

त्रिलक्षणताके पाये जानेपर भी वास्तविक प्रमाणत्वके अभावका दिग्दर्शन —जहाँ कहीं तीन लक्षण भी पाये जायें, याने तदुत्पत्ति, तादूप्य और अध्यवसाय ये तीनो मौजूद हो उस दर्शनका भी फल ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है। अर्थात् जिसका भ्रम ही कारण है ऐसा जो फलज्ञान है उन ज्ञानोमें प्रमाणता नही है और त्रिलक्षणता पायी जा रही है। जैसे जिस पुरुषके नेत्रमें कामला आदिक रोग होता है, चक्षुमें बाधा आयी है ऐसे पुरुषको सफेद शखमे पीताकार ज्ञान होता है। तो अब पीताकार ज्ञान जो उत्पन्न हुआ है वह सविकल्प ज्ञान है क्योंकि दर्शन तो निश्चायक ज्ञान नही है सविकल्प ज्ञान है, अर्थात् दर्शन तो निश्चायक ज्ञान नही है, दर्शनके बाद सविकल्प ज्ञान होता है और उस ज्ञानसे वहाँ निश्चय होता है। पीताकार ज्ञानसे उत्पन्न होता है वह सविकल्पज्ञान और वह पीताकार ज्ञानरूप भी बन रहा है पीताकारका निश्चय भी कर रहा है फिर भी ऐसे ज्ञानकी प्रमाणता पायी जाती है पहिले वाले पीताकार ज्ञानमे लेकिन तथ्य तो नही है। बात तो गलत समझा है और प्रमाणता आ गई है। यदि उस दर्शनमें जो प्रमाणता आ गई है। यदि उस दर्शनमें जो प्रमाणता आती है उसको न माना जाय तब तो शकाकारका अपना माना हुआ सिद्धान्त भी असिद्ध हो जाता है। फिर किस साधनके द्वारा वह शकाकार प्रतिवादी का निराकरण करनेको तैयारी करेगा जिससे कि यह नियत स्वविषयकी उपलब्धि करने वाला दर्शन नियत स्वविषयको जो कि विषयके अनुपलम्भ रूप है शून्याद्वैतमे जिसे माना गया है उसे न प्रमाण करेगे, क्योंकि स्वय प्रमाण न माननेपर स्वार्थके अतिरिक्त अपने माने हुए सिद्धान्तकी जानकारी और निश्चिति नही होती है। यह सब कहा जा रहा है शून्याद्वैतवादीके प्रति। फिर इस अवस्थामें वह शून्याद्वैत तत्त्वको सिद्ध न कर सकेगा। क्योंकि जो अज्ञात है, शून्य अर्थ है उसको दूसरेके लिए, बतानेके लिए कोई समर्थ नहीं हो सकता। जब समझाने वालेने जाना ही नही कुछ

कर लीजिए। देखिये ! यह निर्विकल्प ज्ञान उस ही पदार्थको जानता है इसमें शंकाकार यह दे रहा है कि चूँकि यह दर्शन इस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है तो इसी सम्बन्धमें पूछा जा सकता कि सब पदार्थ नाना पड़े हुए हैं तो यह दर्शन इस ही पदार्थसे क्यों उत्पन्न हुआ ? इसी तरह यह पूछा जा सकता है कि पदार्थ जब नाना पड़े हुए हैं तो इस ही प्रतिनियत पदार्थके आकार ही ज्ञान क्यों होता ? और, फिर इसके बाद ऐसा ही सविकल्प ज्ञान क्यों बना ? तो इसके उत्तरमें शंकाकारको यही कहना पड़ेगा कि वहाँ ऐसी ही योग्यता है इस दर्शनमें तब तो समाधान हो ही जाता है। देखिये ! जिस योग्यतासे यह निर्विकल्प दर्शन किसी एक पदार्थके आकारका अनुकरण करता है तो उस ही योग्यतासे यह मान लीजिए सीधा कि यह दर्शन इस ही अर्थका उस ही योग्यतासे विषय कर लेता है अन्य प्रकारसे नहीं। फिर परम्परासे अन्य बात सिद्ध करनेका परिश्रम करना व्यर्थ है। शंकाकार कहता है कि नीलादिक पदार्थोंमें जो दर्शन हुआ वह प्रमाण बना तो तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसायोंके होनेपर ही बना। इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव माना जाय तो उस दर्शनमें प्रमाणपनेकी प्रतीति नहीं होती। अर्थात् कोई दर्शन किसी पदार्थसे उत्पन्न न हो तो वह प्रमाण न बन सकेगा। किसी पदार्थके आकार न हो तो वह प्रमाण न बन सकेगा। अथवा किसी पदार्थका अध्यवसाय न हो तो वह प्रमाण न बन सकेगा। तो इन तीनोंमेंसे किसी एकको न माननेपर उस दर्शनमें प्रमाणता नहीं बनती है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह मन्तव्य संगत नहीं है, क्योंकि अनेक उदाहरण ऐसे पाओगे कि त्रिलक्षणताके अभावमें भी, या उनमेंसे किसी एकका भी अभाव हो तब भी वहाँ स्वकी अनुपलम्भ व्यावृत्तिसे ही प्रमाणपना बनता है अर्थात् एक पदार्थ कुछ प्रतिभास किया गया बस इस विधिसे ही उस दर्शनमें प्रमाणता आया करती है। सो सभी जन इस बातका सही अनुभव कर रहे हैं कि वस्तुको एकदम सीधा जहाँ जाना देखा जावे उस ज्ञानमें प्रमाणता आया करती है।

तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य व तदध्यवसायसे प्रमाणत्व होनेके नियमकी असिद्धि—शंकाकार यहाँ मान रहा है कि पदार्थसे उत्पन्न होनेसे पदार्थके आकार रूप होनेसे अथवा पदार्थका विकल्प होनेसे पदार्थमें जो दर्शन होता है वह प्रमाण होता है वह प्रमाण होता है। यह शंकाकारका मन्तव्य युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पदार्थसे उत्पन्न होना यह प्रमाणताको सिद्ध कर सकनेका नियम नहीं बना सकता। देखो—दर्शनकी उत्पत्ति पदार्थसे होती है और चक्षु आदिक इन्द्रियसे होती है। तो पदार्थ और चक्षु आदिक इन्द्रिय दोनोंसे दर्शनकी उत्पत्ति होनेपर भी दर्शन पदार्थको तो ग्रहण करता है और चक्षु आदिक इन्द्रियको ग्रहण नहीं करता। तब देख लीजिए—यहीं व्यभिचार आ गया। चक्षुसे उत्पन्न होता है दर्शन, किन्तु दर्शन चक्षुको न जानता और न ग्रहण करता है। तो अब यह बात न रही कि तदुत्पत्तिके कारण ज्ञानमें प्रमाणता आती है। अब तद्रूपपनेकी बात देखिये—शंकाकारने यही

यह सिद्ध हुआ कि एक पदार्थके ग्रहणके नियमसे ही किसी पुरुषकी प्रवृत्ति और निवृत्ति सिद्ध होती है अर्थात् कोई पुरुष इष्टमें लग रहा है तो उसने उस एक इष्टको ग्रहण ही तो किया और उस इष्टको ग्रहण करनेके साथ जैसे उसकी उस इष्टमें प्रवृत्ति हुई है तो वहीं तो अन्य पदार्थसे निवृत्ति कहलायेगा ।

एकोपलम्भका नियम न माननेपर प्रमाणत्वके प्रतिनियमकी असिद्धि

यदि एकोपलम्भका नियम न माना जाय तो जैसे अन्य सन्तानोंमें प्रमाण होता रहता है पर वहाँ उससे कोई प्रवृत्ति नहीं करता और न कोई निवृत्ति करता । हो रहा दूसरे सन्तानोंमें दर्शन । उन दर्शनोंसे क्या कोई दूसरा इष्टमें प्रवृत्ति कर लेता है अथवा अनिष्टसे हट लेता है क्या ? क्योंकि दूसरेका ज्ञान दूसरेके लिए तो कुछ नहीं है, अप्रमाण है । अप्रमाणसे प्रवृत्ति और निवृत्ति मान लेनेपर फिर तो प्रमाणकी खोज करना ही व्यर्थ हो जायगा । और इतना ही अनिष्ट प्रसंग नहीं है, किन्तु अन्य भी विडम्बना बन जायगी । जैसे अज्ञानज्ञानसे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति बननेका प्रसंग आ जायगा क्योंकि एकोपलम्भका तो नियम नहीं । किसी भी पदार्थको जाननेकी जरूरत तो है नहीं । जिस किसी भी प्रतिभाससे प्रवृत्ति हो जाय और निवृत्ति हो जाय तब यह निर्णय करना कि चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण हो वह अपने और पदार्थकी उपलब्धिक रूपसे तो सत् स्वरूप है और परपदार्थकी उपलब्धि रूपसे असत् रूप है । तो प्रमाण ही स्वयं इस क्रम विवक्षाके अनुसार सदसदात्मक सिद्ध होता है और इसी तरह प्रमेय भी सदसदात्मक सिद्ध होता है । अर्थात् प्रमेय वस्तु अपने स्वरूपसे सत् हैं और पररूप से असत् है ।

प्रमाण और प्रमेयके स्वरूपविवरणमें कथंचित् उभयरूप तृतीय भङ्ग की सिद्धि-- देखिये ! जब प्रमाण सदसदात्मक सिद्ध हुआ और उसकी तरह प्रमेय भी सदसदात्मक सिद्ध हुआ तब फिर क्यों नहीं सब पदार्थोंका क्रम विवक्षाके अनुसार द्वैतरूप मान लेते हो ? मानना ही पड़ेगा । इस द्वैततामें किसीको विवाद होता ही नहीं है, हो ही नहीं सकता सब सामने प्रत्यक्षकी बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है पररूपसे नहीं है । चाहे कोई दार्शनिक अपने दर्शनके आग्रहसे ऐसा न भी चाहे, नहीं मान रहा हो लेकिन उसको भी ज्ञान इस दो प्रकारका हो रहा है । जैसे झूठवादी पुरुष दर्शनका ज्ञान करनेपर भी मानते नहीं हैं । क्योंकि रागद्वेष समाया हुआ है । उस रागद्वेषकी प्रेरणासे उस सत्यको मुखसे कहा नहीं जा सकता है लेकिन उस सत्यका भान तो हो ही गया है । तो इसी प्रकार सभी दार्शनिक देख रहे हैं कि प्रत्येक वस्तु सत्स्वरूप है व असत् स्वरूप भी है । अब चाहे उसे न मानें इस प्रकार लेकिन यह ज्ञान खतम कैसे हो सकेगा ? वह तो ज्ञानमें आ ही गया है । कोई भी उदाहरण ले लो, सब उदाहरणोंसे सब उदाहरणोंमें स्वरूपसे सत्त्व और पररूपसे असत्त्व पाया ही जायगा और नहीं तो अपना मन्तव्य सिद्ध करनेके लिए यह तो कहना

अथवा है ही नहीं कुछ तो उस शून्य तत्त्वका समझानेका फिर साधन क्या रहा ? अथवा पर प्रतिपादितमें उपालम्भ देनेके लिए साधन क्या रहा ? दूसरोंके द्वारा माना गए वह प्रमाण नहीं जाना जा सकता है। सर्वथा शून्यवादमें स्वयं ही अज्ञानको शून्य अर्थको दूसरोंके लिए समझानेको समर्थ नहीं है, या उपालम्भ देनेके लिए भी समर्थ नहीं है।

परास्युपगत प्रमाणसे स्वाभिमत शून्य तत्त्वकी सिद्धिकी अशक्यता— यदि कोई यह कहे कि हमने प्रमाण तो नहीं माना किन्तु अन्य दार्शनिकोंने प्रमाण स्वरूप माना है, तो उनके प्रमाण स्वरूप द्वारा भी हम शून्याद्वैतको सिद्ध कर लेंगे सो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि शून्याद्वैतके मतमें सभी शून्य है और दूसरोंके द्वारा माने गएसे अपर दर्शनकी प्रतिपत्ति की जाती है तो इसमें अनवस्था दोष आता है, दूसरोंने जो प्रमाण माना है उसको प्रमाणता सिद्ध करनेके लिए फिर किसी अन्य का मतव्य देखना होगा। फिर उस मतव्यको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए तीसरा भी मतव्य देखना होगा। तो दूसरोंके द्वारा माने गए प्रमाणसे अपने सिद्धान्तकी व्यवस्था करनेमें अनवस्था आती है, इस कारण यह ही मानना चाहिए कि एक ही पदार्थकी प्राप्तिका नियम अन्य पदार्थके अभावको सिद्ध करता है, जो स्वयंका सद्रूप स्वरूप हो और पररूपसे अभावरूप हो।

एकोपलम्भनियमसे वस्तुके समग्रहप समझनेकी धारा— इन्होंने तो एक ही पदार्थकी उपलब्धि की। अब उस उपलब्धिमें दोनों बातें पड़ी हुई हैं कि अपने स्वरूपसे सद्भाव है और पररूपसे अभाव है। तो वह एकोपलम्भका नियम इस भावाभावात्मक तत्त्वको सिद्ध करता है। यदि एकोपलम्भका नियम न माना जाय याने जानने वालेने सीधा विवक्षित इस एकको जान ही लिया है ऐसा एक ग्रहणका नियम न माननेपर तो न कोई प्रवृत्ति कर सकेगा और न कोई निवृत्ति कर सकेगा। केवल दर्शनमात्रसे जिसमें किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है उससे कोई न कुछ प्रवृत्त कर सकता है और न कुछ अनिष्टसे हट सकता है, प्रमाणान्तरकी तरह। जैसे कि दूसरेके आत्मा में होने वाले ज्ञानसे दूसरेको एक पदार्थका उपलम्भ भी नहीं होता, तब दूसरा न तो प्रवृत्ति कर सकता और न निवृत्ति कर सकता। तो इसी तरह स्वयंके उत्पन्न किए हुए दर्शनमें एकका उपलम्भ तो माना नहीं, किसी पदार्थका ग्रहण न माननेपर फिर प्रवृत्ति किस बलपर करेगा ? और अनिष्टसे हटना भी किस बलपर करेगा ? स्वयका अथवा पदार्थका जिस किसीकी भी एककी जो उपलब्धि है उसीका नाम तो अन्यकी अनुपलब्धि है। जैसे किसी पदार्थको सत्रूपसे जान लिया तो उस हीका अर्थ है कि अन्य रूपसे असत् उस पदार्थको जान लिया। और, उपलब्धिके विषयभूत पदार्थ हैं यो सत्ताको सिद्ध करनेका ही नाम अन्यका निषेध करना कहा जाता है और उपलब्धि के विषयमें प्रवर्तन करने वाला ही तो पुरुष परसे हटा हुआ माना जाता है। इससे

के लिए जो घट पट आदिक अनेक शब्द बोले जाते हैं तब फिर उनका प्रयोग करना निरर्थक हो जायगा। जैसे शब्दभेदसे अर्थभेद निश्चित है और प्रसिद्ध है, वैसे ही अर्थ भेदसे शब्दभेद भी निश्चित है। जैसे घट पद आदिक अनेक हैं। घटका अर्थ है जलको भरने वाला एक पदार्थ। पटका अर्थ है आवरण कर सकने वाला एक पदार्थ। तो शब्दके भेदसे अर्थका भेद निश्चित माना गया है तो इस ही प्रकार अर्थके भेदसे भी शब्दका भेद निश्चित सिद्ध होता है। अन्यथा अर्थात् अर्थभेदसे यदि शब्द भेद नहीं माना जाता तो वाच्य वाचक नियमका व्यवहार लुप्त हो जायगा।

एक द्वारा एक अर्थका प्रतिपादन—एक पद द्वारा एक पदार्थ कहा जाता है, एक पदके द्वारा अनेक पदार्थ नहीं कहे जाते, इस कथनमें एक वाक्य एक साथ अनेक अर्थोंको विषय करे इसका भी निराकरण समझना चाहिए। एक शब्द एक अर्थको विषय करता है और एक पद एक पदार्थको विषय करता है। एक वाक्य एक अर्थका विषय करता है एक वाक्य भी एक साथ अनेक अर्थोंको विषय नहीं कर सकता। जैसे प्रथम भंग था कि वस्तु स्यात् सत् है तो वहाँ एक ही अर्थ ग्रहण किया गया। वस्तु स्यात् असत् है। यहाँ भी एक ही धर्मको ग्रहण किया गया। अब यहाँ कोई ऐसी आशंका रख सकता है कि जो तृतीय भङ्ग है कि वस्तु स्यात् सत् असत् है तो यहाँ तो एक वाक्यके द्वारा दो पदार्थ ग्रहण किए गए तो ऐसी शंका न करना चाहिए। जहाँ यह तीसरा वाक्य बोला गया है कि स्वरूप और पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे समस्त वस्तु स्यात् सत् असत् ही हैं तो यहां क्रमसे अर्पित दोनों धर्मोंका उभय को प्रधानता विषय करने रूपसे स्वीकार किया गया हो तो वाक्य है और उसे उपचार से एक कहा गया है अर्थात् यहां क्रम विवक्षित है ना, और वह क्रम भी अन्तररहित है तो कालकी निकटताके उपचारसे वहाँ उन दो धर्मोंको विषय करने रूपसे एक वाक्य बताया गया है। जैसे कि सादृश्य उपचारसे गो शब्दको एक कहा है ऐसे ही काल प्रत्यासत्तिके उपचारसे यहां तृतीय वाक्यको एक कहा गया है। यहाँ उभयकी प्रधानता विवक्षित है। सत और असत शब्दको कहकर तीसरे भङ्गमें एक पदार्थ देखा गया है। यह एक पदार्थ क्या है? दोनोंकी प्रधानता। क्रमसे अर्पित दो दृष्टियो द्वारा जो समझा गया है वही कोई एक प्रधान है क्या? क्या सत प्रधान है? अथवा क्या केवल असत प्रधान है? दोनोंकी प्रधानता इस तृतीय भङ्गमें विवक्षित है और चूँकि यह द्वन्द्व समासका रूप है तो इस तृतीय वाक्यमें स्वपदार्थ प्रधान माना गया तो यहां स्वतत्त्व हैं दो—सत्त्व और असत्त्व। सो दोनोंकी प्रधानताका विषय करने वाले तृतीय वाक्यके बोलनेमें कोई दोष नहीं है।

एक क्रियाप्रधान होनेसे एक वाक्य द्वारा एक अर्थका प्रतिपादन—तात्पर्य यह है कि सभी वाक्य एक क्रियाप्रधान हुआ करते हैं अर्थात् एक ही वाक्यमें एक क्रिया रहा करती है। एक क्रियाका अर्थ है कि जो तिङन्त धातु है जो धातु

हो पड़ेगा कि मेरा मतव्य नही है और इसके आश्रयभूत भेद और अन्य मन्तव्य सही नहीं है। तो विपक्षको स्वीकार किये बिना पक्ष भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है। तो ऐसे ही तत्त्वकी बात, द्रव्यकी बात, गुणपर्यायकी बात और विचारकी बात इस ही प्रकार है कि मेरा जो आशय है उस आशयके अनुसार वस्तु सत्‌रूप है और उससे विपरीत आशयकी अपेक्षासे वस्तु असत्‌रूप है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पदार्थ क्रमविवक्षासे उभयरूप है। इस तरह सप्तभङ्गीमें तृतीयभङ्गकी सिद्धि होती है।

एक शब्द द्वारा वस्तुके भाव व अभावका कथन न हो सकनेके कारण अवक्तव्यत्वनामक चतुर्थ भङ्गकी उपपत्ति—यहाँ शङ्काकार कहता है कि उभय रूपकी सिद्धिमें जब विवाद नहीं है तब समस्त वस्तुयें फिर अवक्तव्य हैं, यह कैसे कहा जा सकेगा? तो इसके समाधानमें कहते हैं कि वस्तुके अवक्तव्य होनेका यही कारण है कि शब्द भाव और अभाव इन दोनोंको क्रमरहित अर्थात् एक साथ एक ही समयमें विषय नहीं करता है। शब्दकी शक्तिका स्वभाव ही ऐसा है कि शब्द एक समयमें एक ही अर्थका प्रतिपादन करेगा। सभी पद एक ही पदके अर्थको विषय करते हैं। जैसे 'सत्' यह पद बोला तो 'सत्' यह पद असत्‌को विषय नहीं करता। 'असत्' यह पद सत्‌को विषय नहीं करता। यदि सत् पद असत्‌को विषय करने लगे और असत् पद सतको विषय करने लगे तब तो इन दोनोंमें किसी भी एक पदका प्रयोग करनेपर संशय हो जायगा कि इसमें क्या कहा गया? सत शब्द बोलकर असत भी कहा गया, ऐसी स्थितिमें संशय हो जाना स्वाभाविक बात है कि सत् अर्थ है या असत् अर्थ है?

एक पदकी एक पदार्थवाचकताका कथन – सभी शब्दोंमें यह बात लगा लेना चाहिए कि वह एक ही अर्थका प्रतिपादन करता है। गो' यह पद बोला गया तो यद्यपि कोषमें यह बताया है कि गो शब्द दिशा आदिक अनेक अर्थोंको विषय करने वाला गो शब्द एक नहीं है, किन्तु अनेक है। जब जिस अर्थकी धुनमें गो शब्द बोला है तब गो शब्दकी मुद्रा भीतरमें अर्थके ही अनुकूल होती है। तो गो शब्द भी तत्त्वतः अनेक है, मगर सादृश्यके उपचारसे ही गो शब्दका एक रूपसे व्यवहार है। चूंकि ग' और 'औ' ये दो अक्षर हैं। उनके सबके वाचक ऐसा ही गो शब्द है तो ऐसी सदृशताके उपचारसे 'गो' शब्दसे एक रूपमें व्यवहार किया गया है। अन्यथा अर्थात् सादृश्य उपचारसे एकत्वका व्यवहार न माना जाय किन्तु सर्वथा एकत्व माना जाय। उपचारकी बात समाप्त कर दी जाय तो सब ही पदार्थ एक शब्दके द्वारा वाच्य बन जायेंगे। क्योंकि अब सादृश्य उपचारके बिना ही 'गो' में एकत्व मान लिया गया तो सारे शब्दोंमें उपचार किए जाने योग्य कोई बात नहीं है। और जब उपचारके बिना ही एकत्व मान लिया तो सभी शब्दोंमें एकता आ गई और सभी पदार्थ फिर एक शब्द द्वारा वाच्य बन जायेंगे। ऐसी स्थितिमें एक एक पदार्थके लिये एक एक शब्दोंके प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। जैसे घट पट आदिक अनेक पदार्थोंको कहने

कि द्योतक स्यात् शब्द उन धर्मोंकी सूचनामे सामर्थ्य रखता है जो धर्म इस भगमें विवक्षित नही है और जिन्हे कहा भी नही गया है। अब इस समय यह भी समझ लेना चाहिए कि शब्द विधि वचनकी सूचना देनेके सामर्थ्य विशेषका उल्लघन करता हुआ व्यवहारमें नही पाया जाता। अर्थात् शब्दका वाच्य कोई धर्म है उसका सत्त्व बता देता है, तो विधि वचनसे अर्थात् नियत अर्थको कहनेकी सूचना देनेका सामर्थ्य है शब्दमे सो उसका उल्लघन करके शब्द व्यवहारमे प्रवृत्ति करायें ऐसा नही पाया जाता। अर्थात् अपनी सामर्थ्य विशेषके अनुसार नियत अर्थकी सूचनामें ही शब्द प्रवृत्त होते हैं, इसी कारण शब्द एक साथ भाव और अभाव दोनोको नही कह सकते।

सत्त्व असत्त्व दोनोका सकेत करने वाले एक शब्दसे दो अर्थ समझ लेनेका शकाकार द्वारा कथन—यहाँ शङ्काकार कहता है कि सकेतके अनुसार शब्द की प्रवृत्ति होती है। जिस शब्दका जिस अर्थके लिए हम सकेत बनाते उस शब्दके द्वारा उस अर्थको कह दिया जाता है। तो हम यदि एक साथ सत्त्व और असत्त्व धर्म का प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द सकेतित करलें तब तो वह शब्द उन दोनों धर्मों का वाचक हो जायगा। फिर तो विरोध न आयगा। जैसे कि व्याकरणमे सज्ञा शब्द एक साथ अनेक अर्थोंका प्रतिपादन कर देता है। जैसे कृदन्त प्रकरणमे शतृ और शानच इन दोनो प्रत्ययोकी सत् संज्ञा की गई है तो इस सकेतके अनुसार जिस किसी भी सिद्धिके प्रकरणमे सत् सज्ञाका नाम आया हो तो वहाँ शतृ और शानच दोनोका कथन हो जाता है। तो ऐसे ही सत्त्व धर्म और असत्त्व धर्म दोनोके प्रतिपादन करनेमें जिस शब्दका हम सकेत बना दें वह सकेतित शब्द उन दोनों धर्मोंका वाचक बन जायगा वहा फिर विरोध कैसे आ सकता है?

सकेत बना लेनेपर भी वाचक वाच्यकी शक्ति अशक्तिमे अन्यतरके ही व्यपदेशकी सभवता—उक्त शकाके उत्तरमे कहते हैं कि सकेतका भी विधान बना लिया जाय फिर भी कर्ता और कर्मकी अर्थात् वाचक और वाच्यकी शक्ति और अशक्ति इन दोनोमेंसे किसी एकका ही व्यपदेश शब्द द्वारा हो सकता है। जैसे कि लोहेके द्वारा काष्ठ और वज्रके लेखन और अलेखनकी तरह। जैसे लोहेकी कलममें, काष्ठके लेखनमें तो शक्ति है उस प्रकारसे लोहेमे वज्रको लेखनेमे शक्ति नही है। और जैसे वज्रके लेखनेमें उस लोहेमें अशक्ति है उस प्रकार काष्ठके लेखनमे उस लोहेकी अशक्ति नही है। यह तो हुआ कर्ताकी शक्ति और अशक्तिमेंसे एकका व्यपदेश। अब कर्मकी दृष्टिसे देखिये जैसे काष्ठ लोहेके द्वारा लिखा जा सके इस बातका काष्ठमें शक्ति है उस प्रकार लोहेके द्वारा लिखा जा सके ऐसी वज्रमें शक्ति नही है। अथवा लोहेके द्वारा लिखा जा सके ऐसी शक्ति वज्रमें नही है। अर्थात् जिस प्रकार वज्रमे लोहेके द्वारा लिखे जानेको अशक्ति है, उस प्रकारसे काष्ठमे लोहेके द्वारा लेखन होने की अशक्ति नही है। तात्पर्य यह है कि कर्ता कर्मकी शक्ति और अशक्तिमेंसे किसी

प्रथमा विभक्ति सहित है ऐसा एक प्रयोग ही एक वाक्यमे होता है। चाहे एक दो असमाप्तिकी क्रिया भी वाक्यमे पडी हुई हो पर समाप्तिकी क्रिया केवल एक होती है। जैसे—मैं भोजन करके अमुक गाँव जाऊँगा। तो यहाँ क्रिया तो एक ही हुई—जाऊँगा', भले ही 'भोजन करके' एक क्रिया भीतर पडी हुई है लेकिन यह असमाप्ति की क्रिया है। यहाँ वाक्य समाप्त हो गया, या वक्तव्य समाप्त हो गया। यह सूचना असमाप्तिकी क्रिया नही कर सकती। जाऊँगा' यह शब्द सूचना देता है कि कहना था, उसे पूरा कह दिया गया है। तो यो समस्त वाक्य एक क्रिया प्रधान हुआ करते हैं। अतएव वाक्य अर्थको ही विषय करने वाले प्रसिद्ध हैं। अर्थात् वाक्य एक अर्थको ही विषय करता है।

प्रथमभगमे प्रयुक्त सत् व स्यात् शब्दका वाच्य—उक्त विवरणोसे यही सिद्ध हुआ कि शब्द एक अर्थका ही प्रतिपादन करनेकी शक्तिका स्वभाव रखता है। क्योंकि शब्दमें सूचनाका जो सामर्थ्य विशेष है उसका उल्लंघन नही होता। 'सत्' इस शब्दमें सत्त्व मात्रको कहनेका सामर्थ्य है असत्त्व आदिक अनेक धर्मोंके कहनेमे उस सत् शब्दका सामर्थ्य नही है। इसी प्रकार स्यात् शब्दकी बात सुनो। यहाँ सप्तभंगीमें स्यात् सत्, स्यात् असत् आदिक प्रयोग है ना, तो प्रत्येक शब्दका यहाँ अर्थ बताया जा रहा है। सत् शब्दका अर्थ बता दिया गया और सिद्ध किया कि सत् शब्दका अर्थ केवल सत्त्व मात्रके कहनेमे सामर्थ्य है। असत्त्व आदिक अनेक अर्थोंके कहनेमें नही। तो इसी प्रकार स्यात् शब्द दो रूपोंमें निरखा जाता है वाचक और द्योतका, वाचकका अर्थ है इन अन्य शब्दोंकी तरह किसी अर्थको कहने वाला और द्योतकका अर्थ है कि जो अर्थ स्पष्ट नही कहा गई है उसका भी द्योतन करने वाला। अर्थात् न कहे गए अर्थका भी जो कि न्यायप्राप्त है उसका संकेत करने वाला। तो अब स्यात् शब्दको वाचक दृष्टिमे देखते हैं तब स्यात्का सामर्थ्य अनेकान्तमात्रके कहनेमें है। स्यात् शब्द का वाच्य अनेकान्तमात्र है, किन्तु एकान्तके वचन करनेमें उसका सामर्थ्य नही है। जब हम स्यात् शब्दको द्योतकपनेकी दृष्टिसे निरखते हैं तो स्यात् शब्दका सामर्थ्य विशेष अविवक्षित समस्त धर्मोंकी सूचना करनेमे है याने जिन धर्मोंको उस भगमें नहीं कहा गया है और उस भंगमें विवक्षा भी नहीं है उन समस्त धर्मोंको सूचित करता है स्यात् शब्द। हाँ विवक्षित पदार्थके कहनेमें स्यात्का सामर्थ्य नही है। जैसे प्रथम भग है—सर्व स्यात् सत्। तो उस भगमें सत् धर्मका प्रयोग स्पष्ट किया गया है और यहाँ इस भगकी विवक्षा है। तो द्योतक स्यात् शब्द सत्को कहनेमें सामर्थ्य नहीं रख रहा किन्तु जो विवक्षित भी नहीं कहा गया भी नहीं ऐसे असत्त्व धर्मको कहनेमे सामर्थ्य रख रहा है। अन्यथा अर्थात् यदि द्योतक स्यात् शब्द विवक्षितको हो, सत् धर्मको ही कहनेमें सामर्थ्य रखता हो तब तो स्यात् कहनेके बाद फिर सत् शब्दका कहना व्यर्थ है क्योंकि स्यात् शब्दने ही सत् धर्मको बता दिया है। फिर उस सत् धर्म के या विवक्षित धर्मके वाचक शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध है

दिया जाता है सो यद्यपि वहाँ देखो एक शब्द शेष रखा गया, किन्तु लुप्त शब्दपर दृष्टि देनेपर वहाँ शब्द एक नहीं समझना है किन्तु अनेक शब्द हैं, यह समझना । अब वहाँ जो शब्द शेष रहा और जो शब्द लुप्त किये गए उनमे सदृशता है और वाच्यका समानता है इस कारण एकत्वका उपचार किया गया है । और, तब एक शब्दका प्रयोग है ऐसा व्यवहारमें कहा जाता है । जिन वैयाकरणोंके यहाँ जैसे जैनेन्द्र व्याकरणमे इस शब्दको स्वाभाविक कहा गया है । ये शब्द स्वाभाविक रूपसे लुप्तप्रक्रियाके बिना ही द्विवचनान्त और बहुवचनान्त किए जाते हैं । सो इस प्रक्रियामे जब वृक्ष शब्दमें द्विवचनका प्रत्यय जोड़ा गया या बहुवचनका प्रत्यय लगाया गया तो वह स्वभावसे अपने अभिधेयका याने दोका या बहुतका प्रतिपादक हो जाता है । दो व बहुत वाला अर्थ विभक्ति बना देता है । प्रत्ययवान प्रकृतिमे एकत्व, द्वित्व, बहुत्वसे विशिष्ट पदार्थके कथनकी सामर्थ्य है । यदि विभक्त्यन्त पदोमे स्वभावसे ही दो बहुत आदिकसे युक्त अपने अभिधेय अर्थको कहनेका सामर्थ्य न माना जाय तो फिर किसी भी प्रकार शब्द व्यवहार बन ही न सकेगा । वाक्योंमे एकदम सुगम रीतिसे विभक्त्यन्त पद्धतिका प्रयोग होता है और उससे उस ही प्रकारका अर्थ जान लिया जाता है, वह व्यवहार भी न न बन सकेगा । इससे मानना चाहिए कि पदोमें स्वभावसे ही अपने अपने अभिधेय अर्थका प्रतिपादन करनेका सामर्थ्य है ।

वृक्षाः इस पद द्वारा प्रधानतासे ही अनेक और एक अर्थके कथनका असामर्थ्य —उक्त सिद्धान्तके सम्बन्धमे यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये—'वृक्षाः' यह एक पद है जिसमे बहुवचनका जस् प्रत्यय लगा है सो प्रत्ययवान प्रकृतिको पद कहा करते हैं और उस पदका वाच्य अनेक और एक दोनोको ही स्याद्वादियोंने माना है । उस एक पदका एक ही अर्थ वाच्य है ऐसा नहीं है । इसी विषयको समन्तभद्राचार्यने वृहत् स्वयभू स्तोत्रमें कहा भी है—अनेकमेक च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या. । अर्थात्—प्रत्ययवान् प्रकृतिके कारण 'वृक्षा.' इस पदका वाच्य अनेक और एक पदार्थ है । तब यह कहना कि एक पद एक ही अर्थका प्रतिपादन करता है यह कैसे सगत है ? उक्त शकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रत्ययवान प्रकृतिको दिखाकर और स्वयभूस्तोत्रका प्रमाण देकर जो एक पदको अनेक अर्थका प्रतिपादन करने वाला सिद्ध करना चाहता है वह युक्तिसगत नहीं है । यहाँ वह शंकाकार यह पूछा जाने योग्य है कि उस पदके द्वारा जो अनेक और एक अर्थ वाच्य बना है तो एक ही बार एक ही समयमे क्या प्रधानतासे अनेक और एक दोनो वाच्य हुए हैं अथवा गौण और प्रधान भावसे अनेक और एक वाच्य हुए हैं ? 'वृक्षा.' यह कहकर जो अनेक वृक्ष इस प्रकारका ज्ञान होता है तो वृक्ष आदिकी अपेक्षा तो एकपना है और अनेक वृक्षोसे जाना जा रहा है अतएव अनेकपना है तो इस तरह यहाँ जो अनेक और एक जाना जा रहा है, एक 'वृक्षा.' इस पदके द्वारा सो यह बताओ कि अनेक और एक दोनों ही प्रधान भावसे जाने जा रहे हैं ? यह तो कह नही सकते कि 'वृक्षाः' इस पदके द्वारा अनेक

एककी ही शब्दके द्वारा प्रतिनियत रूपसे व्यवस्था बनती है यानि शब्दका कितना ही संकेत कर लिया जाय पर प्रयोग करने वाले पुरुषका जहाँ लक्ष्य है समझने समझाने का वहाँ ही उसका व्यपदेश होता है। इसी प्रकार सब शब्दमें घटित कर लो। एक ही पदार्थमें एक बार शब्दके प्रतिपादनकी शक्ति है पर एक शब्दमें प्रतिपादनकी शक्ति है और एक शब्दमें अनेक पदार्थोंमें प्रतिपादन करनेकी शक्ति नहीं है। क्योंकि संकेत शब्दकी शक्तिकी अपेक्षासे ही प्रवृत्ति होती है। कोई ऐसा सोचे कि अनेक अर्थोंके प्रतिपादन करनेकी शक्ति न भी हो तो भी संकेतकी वजहसे अनेक अर्थोंका प्रतिपादन हो जायगा सो बात सम्भव नहीं है। संकेत भी प्रतिपादन शक्तिकी अपेक्षासे प्रवृत्त होता है

सेना आदिक शब्दोंकी भी एकार्थवाचकता -यहाँ कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि ऐसे भी कुछ शब्द हैं जिनकी अनेक अर्थोंमें प्रवृत्ति होती है। जैसे—सेना, वन आदि। तो सेना शब्दके कहनेसे हाथी, घोड़ा, शस्त्र, सुभट आदिक अनेक पदार्थोंका बोध होता है और वन शब्दके कहनेसे अनेक प्रकारके पेड़ फल-फूल आदि सभीका अर्थ जाना जाता है। तो ऐसा सेना एक शब्द है पर उसकी अनेक अर्थोंमें प्रवृत्ति है, वन शब्दकी भी अनेक अर्थोंमें प्रवृत्ति है। ऐसा आशंका की जा सकती है पर यह आशंका व्यर्थ है। कारण यह है कि सेना शब्दसे अनेक अर्थ नहीं कहे गए किन्तु हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदिकका प्रत्यासत्ति विशेष रूप एक अर्थका ही सेना शब्दके द्वारा प्रतिपादन हुआ है। इसी तरह वन, यूथ, पंक्ति, माला, पानक ग्राम-आदिक शब्द भी एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं अनेक अर्थोंका नहीं। इन शब्दका वाच्य अनेक पदार्थोंका समूह रूप कोई प्रत्यासत्ति विशेष रूप एक ही अर्थ है, अनेक अर्थ नहीं है।

द्विवचनान्त बहुवचनान्त द्वारा भी एक एक शब्द द्वारा अपने अपने अभिधेयका अभिधान—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि 'वृक्षौ' ऐसा द्विवचनका पद है वह तो दो वृक्षोंको बताता है। शब्द एक है वृक्षौ पर उसका अर्थ होता है दो वृक्ष, अथवा कहा—वृक्षाः यह बहुवचनका शब्द है उसका अर्थ होता है बहुतसे वृक्ष। तो देखो, एक शब्दने अनेक अर्थका प्रतिपादन कर दिया। यदि यह आग्रह किया जाय कि एक शब्द अनेक अर्थोंको नहीं जानता, किन्तु एक ही अर्थको जानता है, तब तो यह समस्या आ जायगी कि 'वृक्षौ' इस शब्दसे दो वृक्ष कैसे जान लिए गये? वृक्षाः इस शब्दसे बहुत वृक्ष कैसे जान लिए गये? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि व्याकरण शास्त्रके जानने वालोंने समझा होगा कि वृक्षौ, वृक्षाः ये पद द्विवचनान्त और बहुवचनान्त कहे गए हैं। तो वहाँ दो प्रक्रियायें हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार जितने वृक्षोंका अर्थ वाच्य बनाना है उतने वृक्ष शब्द रखे जाते हैं। फिर उनमें द्विवचन का प्रत्यय लगाया जाता है और उस समय एक ही पद रखकर शेष पदोंका लोप कर

प्रमाणवाक्यकी भी प्रधानैकार्थवाचकता—अब शंकाकार कहता है कि समस्त वाक्य गौण और प्रधानरूपसे अर्थको कहा करते हैं ऐसा जब यहाँ निर्णय दिया है तब फिर प्रमाण वाक्य कैसे बनेगा क्योंकि प्रधानतारूपसे समस्त धर्मात्मक वस्तुका प्रकाशक प्रमाण वाक्यको माना गया है और अब यहाँ कहा जा रहा है कि सभी वाक्य गौण और प्रधानरूपसे अनेक और एक तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं तब फिर यह प्रमाण वाक्य कैसे बनेगा जिससे कि यह कहा जा सके कि सकल प्रदेश प्रमाणाधीन हुआ करता है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रमाण वाक्यसे भी एक प्रधान अर्थ की वाचकता सिद्ध होती है। यहाँ काल आदिकके द्वारा अभेद करके अथवा अभेदोपचार करके जो कि द्रव्य यिकनयकी और पर्याय यिकनयकी विवक्षामें पड़ा हुआ है उस अभेद और अभेदोपचारसे सपर्यय वस्तुका कथन किया जाता है। इस बातको अब स्पष्टतया समझिये कि द्रव्यार्थिकनयसे तो एक ही द्रव्यका जो कि अनन्त पर्यायात्मक है उसका ग्रहण किया गया। तब देखिये ! कि प्रमाण वाक्य अनेक अर्थ वाला न रहा वह एक अर्थका ही वाचक रहा। तो यहाँ इस प्रमाण वाक्यसे जाना तो एक ही द्रव्य को है, किन्तु अनन्त पर्यायात्मक एक द्रव्यको जाना है। सो द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षामें यह प्रमाण सकलादेश हुआ है किन्तु वहाँ एक ही अर्थको समग्ररूपसे, अनन्त पर्यायात्मकरूपसे जाना है अब पर्यायार्थिकनयकी विवक्षाकी बात देखिये ! समस्त पर्यायों का जो कि काल आदिकमें अभिन्न है अर्थात् निकट समय रखता है ऐसे उन समस्त पर्यायोंका अभेदोपचार करनेसे उपचरित एक वस्तु ही तो प्रमाणवाक्यका विषय बना, अतएव कोई सा भी वाक्य पदकी तरह अनेक अर्थोंको एक साथ प्रधानतासे कहे यह बात सिद्ध नहीं होती। अर्थात् एक वाक्य एक अर्थको ही प्रधानतासे कहता है। उसके साथ गौण अर्थ जुड़ा हुआ है फिर भी प्रधानतासे उन अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करने की शक्ति एक शब्दमें नहीं है।

सहस्रों संकेत किये जानेपर भी शब्द, पद, वाक्यमें प्रतिनियत एक अर्थके प्रतिपादनकी शक्तिका व अन्यार्थ प्रतिपादनकी अशक्तिका अनतिक्रम—हजारों भी संकेत कर लिए जायें तो भी वाचक वाच्यमें शक्ति अशक्तिका अतिक्रमण नहीं हो सकता। वाचक वाच्यमें किसके प्रतिपादनकी शक्ति है अथवा अशक्ति है उसका उल्लंघन जब हजारों संकेतोंसे नहीं हो सकता तब समझिये कि हजारों संकेतोंसे भी वाचक और वाच्यकी शक्ति और अशक्तिका उल्लंघन न हो सकनेके कारण यह बात निर्दोषतया सिद्ध है कि एक शब्द एक ही अर्थका वाचक होता है अन्यथा अर्थात् एक शब्द यदि अनेक अर्थोंका वाचक बन जाय तो फिर अचाक्षुषत्व आदिक शब्दादिकके धर्म न हो सकेंगे। जैसे कि एक अनुमान प्रयोग किया जाता है उसमें शब्दको अचाक्षुष कहा गया है तो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ज्ञान उत्पन्न करानेकी शक्ति नहीं है शब्दमें इसलिए शब्दको अचाक्षुष कहा है। तो यहाँ अब यह भी कहा जा सकता जब कि एक शब्दको शक्ति अशक्तिका अतिक्रामक व अनेक अर्थका वाचक मान लिया तो फिर कह

और एक दोनो एक समान प्रधानतासे जाने जा रहे हैं क्योंकि इस तरहकी प्रतीति ही नही हो रही है । वृक्ष जातिके माध्यमसे वृक्ष द्रव्य वृक्ष शब्दसे कहा गया है । अर्थात् वृक्षा' में जो वृक्ष शब्द प्राकृतिक है उस प्राकृतिक शब्दसे वृक्ष शब्द ही एक प्रकाशित होता है । फिर उस वृक्ष द्रव्यके प्रकाशके अनन्तर अर्थात् वृक्ष द्रव्य मात्रकी जानकारी के बाद फिर लिंग और फिर एक दो आदिक संख्यायें इस तरहसे उस प्रन्दमे युक्त विभक्तिके द्वारा प्रतीति होती हैं सो क्रमसे प्रतीति होती है । तब यहाँ यह कहा जा सकता कि वृक्षा: यह शब्द कहकर एक समयमें ही एक साथ अनेक और एक दोनोकी प्रधानतासे जानकारी हुई है ।

पद और वाक्यमे अनेक और एक अर्थको गौण और प्रधानभावसे कहनेकी योग्यताका वर्णन—शब्द प्रधानतासे एक अपने अभिधेयको कहता है इस सम्बन्धमें कहा भी है कि शब्द पहिले अपने अर्थको कहता है फिर अपने अर्थको कह- कर उसमें ध्वनित जो अन्य अर्थ है उससे सम्वेदन द्रव्यको कहते हैं, पहिले तो शब्दने विभक्तिकी अपेक्षा न रखकर केवल अपने अर्थको कहा और अब विभक्तिका क्रम आते ही उस अर्थके कहनेके बाद लिंगको कहा और संख्याको कहा सो इस प्रकार ही लोगो को शब्दो द्वारा अर्थकी प्रतीति होती है । हाँ इस तरहसे माना जाय कि वृक्षा यह कहनेपर प्रधानतासे तो वृक्ष अर्थ जाननेमें आया है और बहुत्व संख्या याने बहुत हैं यह बात गौण रूपसे जाननेमें आयी है क्योंकि शब्द द्वारा पदार्थ कहा कौन गया ? यह बात मुख्य है फिर भी किस प्रकारका पदार्थ कहा गया यह इसके बादकी बात है तो इस तरह प्रधानतासे तो वृक्ष अर्थ जाननेमें आया और गौणभावसे बहुत्व संख्या जानने में आयी, यो माननेमें किसीको भी विरोध नहीं है, क्योंकि प्रधानता और गौणताका यह पक्ष अभिमत ही है । तो प्रकृतक वाक्यमे जो स्यात् शब्द कहा गया है उस निपात के द्वारा जिसमे कि अनेक धर्मोंकी आकांक्षा की गई है याने जिस भगमें स्यात् शब्द जुड़ा है उसके विपरीत अन्य धर्मोंको स्यात् शब्द चल रहा है, वहा स्यात् शब्द यह निराकरण करता है कि उन अनेकोकी अपेक्षा न रखकर अर्थात् अविवक्षित धर्मोंकी आकांक्षा न रखकर केवल एक ही विवक्षित भगका प्रधानतासे वर्णन करता है, अप्रधानतासे भगका वर्णन नही करता गुणानपेक्ष नियमका निराकरण किया गया है स्यात् पद द्वारा जिससे कि यह सिद्ध है कि स्यात् इस निपात शब्दका यह अर्थ है कि वह अविवक्षित अनेक अर्थोंको अपेक्षा रख करके प्रकृत भगकी बातका समर्थन करता है । जितने भी वाचक तत्त्व हैं वे सब गौण और प्रधान अर्थको लिए हुए हैं और वाच्य तत्त्व भी गौण और प्रधान अर्थको लिये हुए हैं, इस कारण वाक्य गौण और प्रधान अर्थका वाचक होता है ऐसा कहनेमें किसी भी प्रकारका विरोध नही है । जो इस शासनसे द्वेष रखते हैं उनके लिये यह आश्रय पथ्यभूत नही हैं । अर्थात् उनका वहाँ अपवाद है बरबादी है ।

कहनेकी शक्ति है उस अर्थका भी अतिक्रम नही करता। और जिस अर्थको कहनेकी शक्ति नही है ऐसी कमजोरीका भी अतिक्रम नही करता। इससे यह व्यवस्था बनी हुई है कि प्रत्येक शब्द अपने ही अभिधेयको कहेंगे अन्य धर्मोको न कहेंगे। अथवा किसी परिस्थितिमे एक शब्द अन्य धर्मोको भी गौण रूपसे सकेत करदे, पर प्रधान-भाव रूपसे अनेक धर्मोका प्रतिपादन करनेकी एक शब्दमे सामर्थ्य है ही नही। इस कारण यह कथन सगत ही है कि स्यात् इस शब्दके द्वारा अनेकान्तमात्रका प्रतिपादन होता है, अनेक धर्मोका नही। तथा स्यात् शब्द अविवक्षित समस्त धर्मोकी सूचना करता है वह विवक्षित अर्थकी सूचनाके लिये नही हैं। और लौकिक शब्दोमे जो बहुवचनान्त प्रयोग हैं उन प्रयोगोमे जो एक और अनेक दोनोका अर्थ ध्वनित होता है सो वहाँ एक तो जाना गया प्रधानरूपसे और अनेक जाना गया गौण रूपसे इस तरह गौण प्रधानरूपसे एक और अनेक अर्थ पदके वाच्य हो जायेंगे। पर प्रधानरूपसे एक और अनेक दोनो एक पदके वाच्य नही हो सकते हैं। इस तरह स्यात् सर्व अवक्तव्य ही है, क्योकि एक साथ कहा नही जा सकता सो यह चौथा भग उत्पन्न हो जाता है।

सप्तभगीके पञ्चम षष्ठ और सप्तमभगकी निष्पत्ति—इस प्रसगमे यहाँ तक स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति, स्याद् अस्तिनास्ति, स्याद् अवक्तव्य इन चार भगोकी साधनाका वर्णन किया। अब यह बताते हैं कि द्रव्य और पर्यायको व्यस्त और समस्त रूपसे आश्रय करके अन्तके तीन भगोकी व्यवस्था बनती है। अर्थात् द्रव्यका और समस्त द्रव्य पर्यायोका एक साथ आश्रय करके बनता है स्याद् अस्ति अवक्तव्य, पर्याय का और एक साथ समस्त द्रव्य पर्यायोका आश्रय करके बनता है स्याद् नास्ति अवक्तव्य और व्यस्तरूपसे अर्थात् क्रमश. द्रव्य पर्यायका और समूहका अर्थात् एक साथ अक्रमसे द्रव्य पर्यायका आश्रय करके बनता है स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। यहाँ जब पचम भगकी प्रवृत्ति होती है तब सत् इस प्रकार रूपसे याने व्यस्त रूपमे द्रव्यका आश्रय करके कहा है अर्थात् प्रथम जो स्वतत्र धर्म है जिसकी साधनाके लिए भग हो रहे हैं उसको पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे द्रव्यरूप स्वीकार किया है। उस व्यस्त द्रव्यका और एक साथ अर्पित द्रव्य पर्यायोका जब आश्रय करते हैं तो सर्व स्यात् सत् अवक्तव्य है इस वाक्यकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् पचम भङ्ग निष्पन्न होता है। द्रव्यका आश्रय करनेपर सत् अश विवक्षित होता है जिसकी विधि बताता है वह द्रव्य रूपसे विवक्षित होता है। और, जिसका निषेध करना है उसको पर्याय रूपसे विवक्षित कहा करते हैं। तो द्रव्यके आश्रय करनेपर सत् अश विवक्षित होता है और एक साथ द्रव्य पर्यायका आश्रय करनेपर चूंकि वह कहा नहीं जा सकता इसलिए अवक्तव्यपना विवक्षित होता है। यो पचम भगकी निष्पत्ति हुई। अब उस ही प्रकार व्यस्त पर्याय का आश्रय करके और समस्त द्रव्य पर्यायका आश्रय करके यह वचन व्यवहार बनता है कि सर्व स्यात् असत् अवक्तव्य ही है। यहाँ पर्यायके आश्रयमे असत् अश विवक्षित है। इस प्रक्रियामें जिसकी विधि करना है उसका आश्रय तो द्रव्यार्थिकनयसे होता है

सकेंगे कि रूपकी तरह चक्षुज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति शब्दमें है सो वह चाक्षुष हो है अथवा रसकी तरह रसना ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति है शब्दमें इसलिये वह रासन है अर्थात् रसना इन्द्रिय द्वारा जाने योग्य है। इसी तरह गंध आदिककी तरह घ्राण आदिक ज्ञानोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति शब्दमें होनेसे वह शब्द घ्राण आदिक इन्द्रियसे ज्ञातव्य है। इस प्रकार शब्दमें अचाक्षुषत्व अरासनत्व आदि धर्म शब्दमें न रहेंगे अथवा उस शब्दमें चाक्षुषत्व और रासनत्व आदिक धर्म भी बन जायगे या फिर अश्रावणत्व याने कर्ण इन्द्रिय द्वारा भी श्रवण करनेमें नहीं आये यह सिद्ध हो बैठे॥ अर्थात् शब्दको अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करने वाला माननेसे अब कोई प्रतिनियम नहीं ठहर सकता। कोई भी शब्द कैसे ही अर्थको ध्वनित करदे। तो इस विडम्बना को मेटनेमें यही स्वभाव समर्थ है कि शब्दमें एक अर्थका वर्णन करनेकी शक्ति पड़ी हुई है। सो जिस कारण कि स्वशक्तिका अतिक्रमण मान लिया शब्दादिक अपनी शक्तिका उल्लंघन करने लगे और इसी बलपर चाक्षुषत्व आदिक शब्दादिकके धर्म हो बैठे अतः जितने भी पररूप हैं, अन्य शब्दके रूप हैं उतने ही प्रति शब्दके स्वभावान्तर बन जायेंगे अर्थात् एक शब्दका सभी पदार्थोंके साथ वाच्य वाचकभाव सम्बन्ध बन जायगा, पर ऐसा तो नहीं है। इससे मानना पड़ेगा कि शब्द केवल अपने ही अर्थ के प्रतिपादन करनेका स्वभाव रखता है अन्यथा तो शब्दादिकका स्वरूप भी न बन सकेगा।

शक्ति अशक्तिका अनतिक्रम माननेपर स्यात् वृक्षः आदि सर्व शब्दो द्वारा स्व स्व अभिधेयके अभिधानकी सिद्धि—यदि कहा जाय कि शब्दमें चक्षु आदिक ज्ञानकी उत्पन्न करनेकी अशक्तिका उल्लंघन सर्वथा असम्भव है याने शब्दमें चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है, इस अशक्तिका कभी शब्द उल्लंघन नहीं करता इस कारणसे शब्दके धर्म अचाक्षुषत्व अरासनत्व आदिक बनते हैं जैसे कि श्रावण आदिक याने कर्णके द्वारा शब्द सुने इस ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिका उल्लंघन न करनेसे शब्दका धर्म श्रावण कहा गया है याने शब्द कर्ण इन्द्रिय द्वारा ज्ञात माना गया है ऐसे ही शब्दमें चक्षु रसना, घ्राण आदिक इन्द्रिय द्वारा ज्ञान उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है, उस अशक्तिका भी उल्लंघन नहीं करता। अतः शब्दमें अचाक्षुषत्व आदिक धर्म माननेका प्रसंग न आयगा। यदि शंकाकार यह कहे तो फिर ठीक ही तो हो गया। सत् आदिक पद, सत्वादिकका ही प्रतिपादन करनेकी शक्ति रखते हैं सो इस शक्तिका तो उल्लंघन नहीं हुआ, और प्रधान भावसे ही अनेक धर्मों को कहने की शक्ति नहीं रखते सो उस अशक्तिका उल्लंघन न करने से एक शब्द अनेक धर्म एक साथ सम्भव नहीं हो सकते हैं यह बात बिल्कुल मान लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक शब्द अपने धर्मका प्रतिपादन करनेकी शक्ति रखता है और वह प्रधानतासे अनेक धर्मोंको कहनेकी शक्ति नहीं रखता सो शब्द अपनी शक्तिका भी उल्लंघन नहीं करता। और अपनी अशक्तिका भी उल्लंघन नहीं करता। जिस अर्थको

जाता है उसी प्रकार व्यक्ति अपेक्षासे सामान्य बने सो नहीं। यदि सामान्यको सर्वरूप से माना जावे तो वह शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसे सामान्यकी प्रतिपत्तिका अर्थ क्रियामे उपयोग नही है। जैसे कि यौग सिद्धान्तमें सामान्यको माना है आदिरागामी, व्यापक। एक ऐसे सामान्यसे कोई अर्थक्रिया नहीं बनती है। जैसे एक गोत्व सामान्य है अर्थात् गाय सामान्य और ऐसा सामान्य कि जो व्यक्तिसे वस्तुसे सर्वथा भिन्न है। स्वतन्त्र अपनी सत्ता रूप है ऐसे गोत्व सामान्यका क्या कही किसी क्रियामे उपयोग हो सकता है? जैसे उसपर बोझ लादा जा सके अथवा उससे दूध दुह सके ऐसा कुछ भी गोत्व सामान्यसे बन सकता है क्या? अरे भार ढोना, दूध दुहना आदिककी बात तो दूर रहो। उस सामान्यका सामर्थ्य तो अपने विषयके ज्ञानमात्र कराने तकमें भी नही है। अर्थात् उस सामान्यका कुछ ज्ञान ही नही होता कि वह कोई पदार्थ है ऐसा कि जो सर्व व्यापक हो, एक हो, नित्य हो और विशेष से जुदा हो। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हो, ऐसे सामान्यका ज्ञान तक भी नहीं हो पाता, यदि ऐसा मान लिया जाय कि व्यक्ति सहित सामान्यका अपने विषयके परिज्ञानमें सामर्थ्य बन जायगा। केवल सामान्यका सामर्थ्य नही है ऐसा कि वह अपने विषयका ज्ञान करा सके, तो विशेष सहित, व्यक्ति सहित सामान्यमें तो वह सामर्थ्य आ जायगा। तो कहते हैं कि व्यक्ति सहित सामान्यका स्व विषयके परिज्ञानका सामर्थ्य माननेपर भी समस्त व्यक्तियोंसे सहित सामान्यका तो अपने विषयके परिज्ञानमे सामर्थ्य नही बना। सामान्य तो सर्व व्यक्तियोंसे सहित माना गया है, जो सर्व व्यक्तियोंसे सहित माना गया है, जो सर्व व्यक्तियोंमे व्यापक हो वह ही तो सामान्य है। अब किसी व्यक्तिसे सहित सामान्यसे कोई काम बना लिया गया, अपने विषयका ज्ञान बना लिया गया तो ऐसा सामान्य तो न जाना जा सकेगा जो समस्त व्यक्तियों को जानले यह बात असम्भव है परमतकी अपेक्षा एक बारमें तो असम्भव माना ही है। लौकिक जन एक समयमे समस्त विषयोंकी जानकारी नहीं कर सकते हैं। तो समस्त व्यक्तियोंका ज्ञान लिया जाय और ऐसे व्यक्तियोंसे सहित एक सामान्यमे अपने विषयका ज्ञान करानेमें सामर्थ्य नही है।

कतिपयव्यक्ति सहित सामान्यके अभ्युपगममे अभिष्टकी असिद्धि— शंकाकार यदि यह कहे कि समस्त व्यक्तियोंको नही जाना गया ऐसे समस्त व्यक्तियों से सहित सामान्यमें वह सामर्थ्य मान ली जायगी कि अप्रतिपन्नाखिल व्यक्ति सहित सामान्य अपने विषयका ज्ञान करनेमें समर्थ है। तो इस शंकाका समाधान सुनिये— यदि इस तरह सब व्यक्तियोंको नही जान पाया और सब व्यक्तियोंसे सहित सामान्य को समझ लिया तो एक भी व्यक्तिको न जान पाये और फिर भी सामान्यका ज्ञान बन बैठे क्योंकि अब तो समस्त व्यक्तियोंको न जानकर भी समस्त व्यक्तियोंसे सहित सामान्यकी जानकारी बतायी जा रही है। तो जब समस्त व्यक्तियोंसे सहित सामान्यको जान लिया गया तो एक व्यक्तिको भी न जान पाये फिर भी समस्त व्य-

और जिसका व्यतिरेक करना है, प्रतिषेध करना है उसका आश्रय पर्यायार्थिकनयसे होता है। तो पर्यायका आश्रय करनेपर और समस्त द्रव्य पर्यायोंका आश्रय करनेपर असत् अवक्तव्यपना आता है। अब व्यस्तरूपसे तो क्रमशः द्रव्य पर्यायकी विवक्षा की और एक ही साथ समस्त द्रव्य पर्यायको अर्पित किया, ऐसी स्थितिमें स्यात् सत् असत् अवक्तव्य ही सब है ऐसा वचन व्यवहार होता है। यों स्याद्वादका आश्रय करके व्याख्यान करनेसे अन्तिम तीन भंगोंकी व्यवस्था बनती है।

परमतापेक्षया सदवक्तव्यत्वका योजन—अब यहाँ सामान्य और विशेषका परदर्शनकी अपेक्षासे विचार करें तो सत् सामान्य अन्वयी द्रव्य कहलाया। क्योंकि इसको विधिरूप बना रहे हैं। और यह अन्वयरूपसे निरखा जा रहा है तथा सामान्य है, तो परमतकी अपेक्षा सत् सामान्य अन्वयी द्रव्यका आश्रय करके सत् अवक्तव्य है इस प्रकारका भंग बनता है। अर्थात् उनको अभिमत उनकी दृष्टिमें है तो सही। पर इतना ही परिपूर्ण नहीं है सो यों परमतापेक्षया अद्वैतवादमें अन्वयी निर्विशेष सत्सामान्य सत् अवक्तव्य ही है। अब स्वलक्षण देखकर याने विशेष मात्र याने सामान्य रहित विशेषका आश्रय करना है ना सो वह होता है व्यतिरेकी। जिसका प्रतिषेध किया जाता है तो प्रतिषेध कहो अथवा अन्यापोह कहो, तो जब क्षणिकवादकी अपेक्षामें अन्यापोह सामान्यको देखा जाता है स्वलक्षणका अर्थ भी यही बताया गया है तो उसके आशयमें सर्व असत् अवक्तव्य ही है यों कहा जाता है। और योगमतकी अपेक्षामें सामान्य विशेष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इस रूपसे द्रव्य पर्यायको समुदित करके आश्रय करके सत् असत् अवक्तव्य ही है ऐसा व्याख्यान किया जाता है। सामान्य रूपसे सत् अवक्तव्य ही है, यह उसका भाव है। इसके बतानेका प्रयोजन यह है कि चूंकि योगमतमें एक नित्य सर्वगत सामान्य जो सर्वथा अभेदरूप है माना गया है तो उसकी अपेक्षासे सत् अवक्तव्य ही है और घट पट आदिक पदार्थोंको वे ही नैयायिक जन अनित्य ही मानते हैं। उनकी अपेक्षासे वस्तु सर्वथा असत् अवक्तव्य ही है। इन दृष्टियोंमें अनेक दार्शनिकोंकी दृष्टियाँ छू गई हैं और उन्हें किसी विवक्षामें उस तरह परखा जा रहा है, पर स्यात् शब्दका इतना उपकार है कि जो कुछ भी कहा जाय स्यात्के सहयोगसे वह सब तथ्यभूत सिद्ध होता है। अब सत् अवक्तव्य और असत् एवं सत् असत् अवक्तव्य इन तीनों धर्मोंमें वस्तु सत् सामान्य किस प्रकारसे सत् होनेपर भी अवक्तव्य है। ऐसा यदि कोई पूछे तो उसका उत्तर है यह है कि दूसरे दार्शनिक मानते हैं। उनकी मान्यताके अनुसार सत् माना है और ऐसा सत् होकर भी उसके सम्बन्धमें वचनकी उपपत्ति नहीं होती है, यह कहना चाहिए। यह बात परमतकी अपेक्षा दिखाई गई है।

सर्वात्मना कल्पित सामान्यका अभाव—अब यहाँ सर्वथा यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य स्वरूपसे सत् है याने जैसे सामान्य अपेक्षासे सामान्य कहा

गई थी कि कुछ व्यक्तियोंमे सहित सामान्यमें अपना विषय परिज्ञान करानेका सामर्थ्य है तो व्यक्तियोंके सद्भावका क्या प्रयोजन रहा ? जब कुछ सम्बन्ध ही नही, उपकार ही नही, जो अकिञ्चित्कर होता है, जो कुछ भी काम न आये उसमें सहकारिताकी बात कहाँसे आ जायगी ?

सामान्यके साथ एक ज्ञान होनेमे व्यक्तियोंका व्यापार कल्पित करके व्यक्तियोंकी सहकारिता मान लेनेके मन्तव्यकी असगतता – अब शकाकार कहता है कि सामान्यके साथ एक ज्ञान होनेमें व्यक्तियोंका व्यापार है इस कारणसे उन व्यक्तियोंकी सहकारिता मान ली जायगी। तो इसके उत्तरमे पूछते हैं कि बतलाओ उस एक ज्ञानमें जो व्यक्तियोंका व्यापार हुआ है सो क्या वह आलम्बन भावसे हुआ है या अधिपतिपनेके रूपमे हुआ है ? यदि कहो कि विषयभावसे सामान्यके साथ एक ज्ञानमे व्यक्तियोंका व्यापार हुआ याने सामान्यके साथ जो एक ज्ञान बन रहा है उस ज्ञानमे व्यक्तियोंका विशेषोंका व्यापार हुआ है और इस तरहके व्यक्तियोंके समुदायकी सहितता मान ली जा रही है तब वहाँ ये दो प्रश्न होते हैं कि विषय भावसे उनका व्यापार है या अधिपतिरूपसे ? यदि विषय भावसे व्यापार मानते हो तब फिर एकानेकाकार सामान्य विशेष ज्ञान बनेगा एक सामान्यका यह ज्ञान न बनेगा ? क्योंकि वहाँ व्यक्तियोंका व्यापार सामान्यके साथ एक ज्ञान होनेमे बना। तब सामान्य विशेष रूपसे ज्ञान बनेगा, एक अनेकाकार रूपसे ज्ञान बनेगा, पर एक सामान्यका ज्ञान न बन सकेगा। क्योंकि समस्त विज्ञान अपने आलम्बनके अनुरूपसे ही हुआ करता है। सो जब यहाँ ज्ञान व्यक्तियोंके व्यापारसे सामान्यके साथ एक रूपसे हुआ है तब तो वह ज्ञान भी सामान्य विशेष ज्ञान हुआ, किन्तु एक सामान्यका ज्ञान नही हुआ। यदि यह कहो कि व्यक्तियोंका ज्ञान एक एक ज्ञानमें व्यापार अधिपतिरूपसे हुआ है तो व्यक्तियोका अपरिज्ञान होनेपर भी सामान्यका ज्ञान हो जानेका प्रसग होगा। देखिये ! अविज्ञात चक्षुका रूपक ज्ञानमें अधिपति रूपसे व्यापार नही हो सकता याने जिसका व्यापार होता है किसी ज्ञानके किये जानेमे यदि वह जान लिया गया हो तो वह व्यापार नही कर पाता। जैसे आँखोमे रूपका ज्ञान करते हैं तो आँख तो नही जानी गई ? तो जाने हुएका अधिपतिरूपसे व्यापार नही होता। अथवा कहो कि अदृष्ट जो शुभ अशुभ कर्म है वह जान लिया गया तो उसके रूप ज्ञानमें अधिपति रूपसे व्यापार सम्भव नही हो सकता। सर्वथा नित्य सामान्यमें क्रमसे और अक्रमसे किसी भी अर्थक्रियामें उपकार हो नही सकता जिससे कि उस सामान्यका प्रतिपादन करनेके लिए शब्दका प्रयोग तक भी हो सके। तब यह सिद्ध हुआ कि नित्य सामान्यसे खण्डमुण्ड आदिक अर्थमें किसीको प्रवृत्ति नही हो सकती। क्योंकि सामान्य और विशेषका कोई सम्बन्ध ही नही है।

परम्परासे भी सामान्यका अर्थक्रियामे उपयोग होनेकी असभवता –

क्तियोंमें व्यापक उस एक सामान्यको जान लेना सिद्ध हो बैठे।

व्यक्तियोंसे सामान्यका उपकार होना या न होना दोनो पक्षोंमें भी अभीष्टकी असिद्धि—शंकाकार कहता है कि कुछ ही व्यक्तियोंसे युक्त सामान्य अपने विषयकी जानकारी करानेमें समर्थ है अर्थात् कुछ ही विशेषोंसे युक्त सामान्यका ज्ञान हो जाया करता है। तो इसके उत्तरके लिए पूछा जा रहा है शंकाकारसे कि सामान्यका उन व्यक्तियोंसे उपकार होता है या नहीं? जिन कुछ व्यक्तियोंसे सहित सामान्यमें अपना विषय जाननेका सामर्थ्य मान लिया तो इतने उन व्यक्तियों द्वारा सामान्यका कोई उपकार हुआ या नहीं हुआ? यदि कहो कि उन कुछ व्यक्तियों द्वारा सामान्यका उपकार किया गया तो बतलाओ कि वह उपकार सामान्यसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए सामान्यका वह उपकार सामान्यसे अभिन्न है यह माना जायगा तो फिर जो व्यक्तिमें कार्य होते हैं सो वही कार्य सामान्यके भी बन बैठेंगे, क्योंकि उपकारको सामान्यसे अभिन्न मान लिया गया। उपकार मायने कार्य। वह कार्य सामान्यसे अभिन्न मान लिया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह सामान्यका कार्य हो गया। क्योंकि वहाँ सामान्यसे अभिन्न ही उपकार किया गया था। तो सामान्यसे अभिन्न उपकार उन कतिपय व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिन व्यक्तियोंसे सहित सामान्यमें अपने विषयका परिज्ञान करानेका सामर्थ्य माना गया है। यह बात संगत नहीं हो सकी। यदि कहो कि कतिपय व्यक्तियों द्वारा जो उपकार किया गया है सामान्यका वह सामान्यसे भिन्न ही है और उस भिन्न उपकारको किया गया है तो समाधानमें कहते हैं कि व्यक्तियों द्वारा किए गए सामान्यके उपकारको सामान्यसे भिन्न मान लिया जाय तो वह उपकार सामान्यका है यह व्यपदेश ही न बन सकेगा क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं उनमें ये मेरे हैं यह व्यपदेश नहीं बनता। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत ये दोनो भिन्न-भिन्न हैं तो उसमें यह व्यपदेश नहीं बनता कि हिमालयका विन्ध्याचल है या विन्ध्याचलका हिमालय है। तो भिन्न उपकार किए जानेपर फिर यह उपकार उसका है यह व्यपदेश भी नहीं बन सकता है। और, यह भी तमाशा देखिये कि व्यक्तियों द्वारा जो उपकार किया गया वह उपकार भिन्न है और उसमें व्यपदेश नहीं बनता। तो व्यपदेश बनानेके लिए उस उपकारके द्वारा भी सामान्यका एक उपकार और मान लीजिए। सम्बन्ध बनानेके लिए कि यह उपकार सामान्यका हुआ है। इतना सम्बन्ध अब सिद्ध करनेके लिए अन्य उपकारान्तरका किया जाना और मान लीजिए फिर तो इसमें अनवस्था दोष आता है। फिर वह अन्य उपकार किया जाना मान लेना पड़ेगा। इस प्रकार कहीं भी टिकाऊ नहीं हो सकता। अब द्वितीय विकल्प की बात सुनिये, यह भी तो माना नहीं जा सकता है कि व्यक्तियों द्वारा सामान्यका उपकार नहीं किया गया और उन व्यक्तियोंसे सहित सामान्यमें स्वविषयज्ञान जनकका सामर्थ्य है। तब तो व्यक्तियोंकी सहितता मानना व्यर्थ है। जो मूल बात यह कही

इस तरह विशेषण विशेष्य भाव नामका एक सम्बन्ध भी तो है । इसके समाधानमे कहते है कि विशेषण विशेष्य भावरूप सम्बन्धकी कल्पना करनेपर यह बताइये कि वह विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध सामान्य व विशेषोसे भिन्न है या अभिन्न है ? यदि सामान्य और विशेषोसे विशेषण विशेष्यभाव पृथक है तो अपने सम्बन्धीको जब वह भिन्न मान लिया गया तो अब विशेषण विशेष्य भाव सामान्य विशेषमे रहे यह सिद्ध करनेके लिए अन्य सम्बन्ध मानना पड़ेगा । और इस तरहसे अन्य अन्य सम्बन्धो की अपेक्षा होते रहनेसे अनवस्था दोष आयगा । यदि उस विशेषण विशेष्य भावको अपने सम्बन्धी सामान्य विशेषके साथ तादात्म्यरूप मानते हो तो इसमे शंकाकारके हठका विरोध है । शंकाकारका आग्रह था कि भेद भेद हो सब सवत्र है । कुछ भी तत्त्व समझमें आये, सब पूरे स्वतन्त्र तत्त्व हैं, । अन्य सबसे भिन्न हैं । सो यहा भेदपक्ष विरोध होता है । तब सामान्य विशेषमे न तो संयोग सम्बन्ध है न समवाय सम्बन्ध और न विशेषण विशेष्य भावरूप सम्बन्ध भी बन सकता है । इसी प्रकार सामान्य विशेषमें अविनाभाव सम्बन्ध भी नही बन सकता । क्योंकि जहाँ कुछ भी तादात्म्य नही माना जा रहा तो एक जगहमें अविनाभाव इसका बताया कैसे जा सकेगा ? तो अविनाभाव सम्बन्ध भी सामान्य विशेषमे नही बनता । और कोई कहे कि सामान्य विशेष भावरूप सम्बन्ध बन जायगा तो वह भी बात मिथ्या है । जो कथंचित् भी तादात्म्यरूप नही है । जिन सामान्य विशेषोको सवत्र भिन्न स्वतन्त्र माना गया है उनमे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नही बन सकता । जैसे हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत बिल्कुल पृथक-पृथक हैं, उनमें किस प्रकारका सम्बन्ध माना जायगा ?

अमूर्त एकरूप सामान्यकी असिद्धि तथा ऐसे निर्विकल्प सामान्यकी अवाच्यता   जब सामान्य विशेषमें कोई सम्बन्ध न बना और किसी भी प्रकार वह वाच्य न बन सका, तब यही तो सिद्ध हुआ कि नित्य व्यापक अमूर्त एक रूप सर्वथा विशेषोसे भिन्न कोई सामान्य नही है अथवा विशेषोसे अभिन्न या अन्य किसी प्रकार-का स्वतन्त्र सामान्य शब्दो द्वारा वाच्य नही हो सकता । क्योंकि ऐसे सामान्यका अर्थ क्रियामें न तो साक्षात् उपयोग है और न परम्परासे उपयोग है । और जब ऐसा सामान्य पाया ही नही जा रहा है तो संकेत भी सिद्ध नही हो सकता । और जिसका संकेत नही बन सकता वह वाच्य कैसे हो सकता ? यदि असंकेतित भी कुछ वाच्य बन जाय तो इसमे बड़ा प्रसंग और आपत्तियाँ आती हैं फिर जो जो सत् है उसको भी उस ही प्रकारकी जातिके अन्यसे हटनेरूप होना ही चाहिए । तो सामान्यको भी सामान्यांतर से हटा हुआ होना चाहिए अन्यथा उसमे कोई स्वभाव ही सिद्ध न हो सकेगा, जैसे कि विशेषमे विशेषान्तरकी व्यावृत्ति न माननेपर विशेषका कोई स्वभाव नही बनता, इसी प्रकार सामान्यान्तरकी व्यावृत्ति न माननेपर सामान्य भी सिद्ध न हो सकेगा ।

परमतापेक्षया सदवक्तव्यत्वके वर्णनमे अन्तिम वक्तव्य   परसामान्य

यदि शंकाकार यह कहे कि सामान्यका साक्षात् अर्थं क्रियामें उपयोग सिद्ध न हो सका तो परम्परासे हो जायगा। तो यह भी किसी प्रकारका भी तादात्म्य न माननेपर, सामान्यको विशेषके साथ एकाधिकरण आदिक रूपमे भी तादात्म्य न माननेपर परम्परासे भी सामान्यका अर्थ क्रियाके लिए उपयोग नही हो सकता। इस शंकाकारने अन्य कोई सम्बन्ध तो माना ही नहीं अथवा संयोग और समवायके सिवाय तीसरा कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है। जैसे धनुर्धारी पुरुष यहाँ धनुष और पुरुष इन दोनोंका संयोग सम्बन्ध सिद्ध ऐसा संयोग सामान्य और विशेषमें तो नही पाया जाता कि सामान्य स्वतन्त्र कोई पदार्थ है, विशेष स्वतन्त्र कोई पदार्थ है और फिर इन दोनों का संयोग हुआ हो। हो नहीं सकता संयोग, पदार्थ भी सामान्य या विशेष स्वतन्त्र नही है यहाँ। और, फिर सम्बन्धकी आकांक्षा इन दोनोमेंसे किसको जगे? तो सामान्य और विशेषमे संयोग सम्बन्ध तो है नही और समवाय नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध है नहीं, क्योंकि समवाय है कुछ ऐसी प्रतीति नहीं हो रही है। और, जिस तरह से प्रतीति होती हो समवाय सम्बन्ध जैसी बात समझनेके लिए तो वह कथंचित् तादात्म्य ही है। क्योंकि तादात्म्य ही है। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध अनयरूभून लक्षण वाला होता है। सामान्य और विशेष इन दोनोंमें अप्रथक्‌पना है, ये स्वयं अलग-अलग नहीं है। इस ही को कथंचित् तादात्म्य कहते हैं। तो समवाय सम्बन्धकी स्वयं असिद्धि है। अथवा कथंचित् तादात्म्यरूप समवाय माना जाय तो वह सम्बन्ध क्या? ये तो आत्माके स्वरूप ही हैं। उक्त प्रकारके विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि शब्दके द्वारा जो लक्षित होता है, जाना जाता है, जिसका संकेत किया जाता है, ऐसा सामान्य विशेषका परिज्ञान कराता है। विशेषरहित सामान्य कभी ज्ञानमें नही आता। विशेष गौण हो गया, सामान्यको प्रधान कर लिया। इस तरहसे तो ज्ञानमें आ जायगा परन्तु केवल सामान्य जो कि विशेषसे भिन्न हो ऐसा कुछ लक्ष्यमें नही आता। तो सामान्य शब्दके द्वारा जिस सामान्यसे वह सामान्य विशेषोंका परिज्ञान कराता है है, तो सामान्य विशेषसे प्रथक नही और शब्दके द्वारा लक्षित सामान्य विशेषोंको लक्षित सामान्य विशेषोंको लक्षित करता है इस कारण सामान्यमें अर्थक्रिया चाहने वाले पुरुषोंकी प्रवृत्ति नही बन सकती। अर्थात् जो लोग निर्विशेष सामान्य नित्य व्यापक मान रहे हैं उनको सामान्यमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तिका और विशेषका कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता। संयोग और समवाय इनको छोडकर अन्य सम्बन्ध असिद्ध है।

सर्वात्मक सामान्य और विशेषमे विशेष्य विशेषणभाव, अविनाभाव व सामान्य विशेषभाव आदि सर्व सम्बन्धोंकी असिद्धि—शंकाकार कहता है कि विशेषण विशेष्य भावरूप सम्बन्ध भी तो है एक। जो संयोगरूप नहीं समवाय रूप नहीं जैसे कहा जाय कि सामान्यवान् विशेष है तो यहाँ विशेष बन गया विशेष्य और सामान्य बन गया विशेषण। उस विशेष्यकी सामान्य द्वारा तारीफ हुई है। तो

वादी शंकाकार कह रहे हैं। इस सिद्धान्तमें अन्यापोहको सामान्य कहा गया है और स्वलक्षणको विशेष कहा गया है। शब्द द्वारा जो वाच्य है वह सामान्य है साधारण है, अन्यापोह है, अप्रत्यक्ष ज्ञानका विषय है। दर्शनका विषयभूत नहीं है इसलिए अन्यापोह सामान्यको ही शब्द द्वारा वाच्य बताया गया है। इसी आधारपर शंकाकार कहता है कि स्वलक्षण तो शब्द द्वारा वाच्य नहीं होता, लेकिन अन्यापोह सामान्य शब्द द्वारा वाच्य हो जायगा। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि वह अन्यापोह शब्दका व विकल्पका सर्वथा अर्थ नहीं कहा जा सकता। जो अपने विषयकी विधिकी अपेक्षा ही नहीं रखता है तो गौण भावसे भी अन्यापोहका शब्द द्वारा कथन नहीं हो सकता। याने शब्द द्वारा कथन नहीं हो सकता। याने शब्द द्वारा अन्यापोह को शंकाकार वाच्य बता रहा था लेकिन अन्यापोहमें तो अपने विषयकी विधि नहीं बतायी जाती। अन्य पदार्थका अभाव है यह कहा जाता है तो अपने विषयकी विधि की रंच भी अपेक्षा न रखे ऐसे अन्यापोहका शब्द द्वारा गौणभावसे भी कथन नहीं हो सकता। और, विकल्पके द्वारा याने ज्ञानके द्वारा उसका निश्चय भी नहीं बन सकता है। कोई शब्द यदि किसीकी सत्ताको नहीं कह रहा है। केवल परकी व्यावृत्तिको ही कह रहा है तो ऐसे वाच्यका अन्यापोहका स्वभाव द्वारा कथन न बनेगा और न किसी ज्ञान द्वारा उस अन्यापोहका निश्चय हो सकेगा। जो अपने विषयकी विधिकी अपेक्षा ही नहीं रखता। यहाँ वास्तविकता तो यह है कि यह जाना गया हो कि यह पदार्थ स्वरूपसे सत् है तो उस हीके साथ यह समझा जा सकेगा कि अन्य पदार्थकी अपेक्षासे असत् है। अब जो स्वरूप सत्त्वको मानता ही नहीं है, केवल अन्यापोहको मान रहा है तो ऐसा अन्यापोह न तो शब्द द्वारा कहा जा सकेगा और न ज्ञान द्वारा निर्णयमें आयगा।

साधनवचनको अतिरिक्त अन्य वचनोंका भी अर्थ अन्यापोह बतानेकी आशङ्का— अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सिद्धान्त यह है कि साधनका कथन ही त्रिरूप्यलिङ्गका प्रकाश करने वाला है अर्थात् वह त्रैरूप्यका कथन कर देता है, परन्तु उसको छोड़कर याने साधन वचनके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी वचन हैं वे विधिके प्रकाशक नहीं होते। जैसे घट लावो! ऐसे आज्ञावचन या जो कुछ सत् है वह सब क्षणिक है ऐसे सिद्धान्त वचन ये सब अन्यापोहके वाचक हैं। साधन वचन ही त्रिरूप लिङ्गका प्रकाश करने वाला है और उसमें भी समझ लीजिए कि त्रैरूप्यलिङ्गमें यह अन्य व्यावृत्ति पड़ी है कि वह अन्य परपरूप साधनसे हटा हुआ है ऐसा अन्यापोहरूप का वह साधन वचन भी प्रकाशक है। यों इन अन्य वचनोंका विवक्षामात्र होनेपर भी अर्थात् कहनेकी इच्छा होनेपर भी उसमें सम्भावना मानी गई है इस कारण अन्यापोह सर्वथा शब्दका अर्थ नहीं है, यह जो आपत्ति दे रहे हो सो यह तो आपत्ति नहीं है, सिद्धसाधन है। अन्य साधन वचन भी अन्यापोहके विषयभूत माने गए हैं। जैसे यह

और अपर सामान्य इन दोनोंके स्व स्वका आश्रय तो माना ही जावेगा। तो अपने अपने आश्रय होनेसे विशेष रूपका आश्रय कहलाया और फिर इस पर सामान्य और अपर सामान्यमे परस्पर कथंचित् हटाव न माना जाय, पर सामान्य तो अपर सामान्य की निवृत्तिरूप है, अपर सामान्य पर सामान्यकी निवृत्ति रूप है। इस तरहका यदि हटाव न माना जाय तो स्वरूप संकर हो जाता है याने जो पर सामान्य है सो ही अपर सामान्य बन गया, जो अपर सामान्य है सो ही पर सामान्य हो गया। सो अब पर सामान्य और अपर सामान्यमे प्रतिनियत स्वभाव न रहा। तब फिर विशेषकी तरह जैसे कि विशेषमें विशेषका हटाव नहीं है तो विशेषका प्रतिनियत स्वभाव न रहा ऐसे ही पर सामान्य और अपर सामान्यका प्रतिनियत स्वभाव कुछ न रहा, तो सामान्यवान पदार्थका भी अभाव हो जायगा और इस तरह सबका अभाव बन बैठेगा। यों बताया गया है कि जो सामान्यवादी दार्शनिक हैं, स्वतन्त्र व्यक्तियोंसे भिन्न सामान्यको मानने वाले दार्शनिकोंको उनकी मान्यता मात्रसे कहा गया है कि सत् होनेपर भी वह अवक्तव्य ही है सामान्य।

स्वलक्षणैकान्तवादियोंके स्वलक्षणकी अवाच्यता—अब परमतकी अपेक्षा से जो यह बताया गया है कि पर्यायका आश्रय करके अन्यापोह सामान्य असत् अवक्तव्य ही है, उसीसे सम्बन्धित यहाँ बात कह रहे हैं कि जो विशेष एकान्तवादी हैं स्व लक्षणका ही जिनके आग्रह है उनके सिद्धान्तमे स्वलक्षण शब्द द्वारा वाच्य नहीं बन सकता। क्योंकि स्वलक्षण तो अनन्त हैं और अनन्त होनेके कारण वे संकेतके विषयभूत नहीं हो सकते। और संकेतके विषयभूत इस कारण भी नहीं हो सकते कि वे सब अन्वय रहित हैं। उन लक्षणोंका एक अन्वय नहीं माना गया और वे शब्द व्यवहारके विषयभूत भी नहीं है। तो स्वलक्षण वाच्य नहीं है। स्वलक्षण शब्द व्यवहारका विषयभूत नहीं है, इसका कारण यह है कि वहाँ अन्वय नहीं है। अन्वय यों न बन सकेगा कि वह संकेतका विषयभूत नहीं है और संकेतका विषय यों न बन सकेगा कि स्वलक्षण तो अनन्त है, प्रतिक्षण अर्थक्षण ज्ञानक्षण सभी पृथक पृथक अनन्त माने गए हैं और यों भी सोच लीजिए कि जिस समय कोई संकेत बोला गया, नाम बोला गया उस समय वह स्व लक्षण नहीं है और स्वलक्षण यों अब संकेत किया जा रहा उस व्यवहारकालमे उसका अन्वय नहीं पाया जा रहा। स्वलक्षण तो होते ही अपने कालमें नष्ट हो गया संकेत बोला गया उसके बादमें तो एक कालमें न होनेके कारण स्वलक्षण शब्द द्वारा वाच्य नहीं बन सकता।

स्वविषयविधिनिरपेक्ष अन्यापोहकी अवाच्यता व अनिर्णयता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि स्व लक्षण यदि शब्द द्वारा वाच्य नहीं बनता है तो न बने, पर सामान्य तो वाच्य हो जाता है अर्थात् जो अन्यापोह है, शब्द द्वारा वाच्य जो अन्यकी व्यावृत्ति है वह अन्यापोह सामान्य तो वाच्य बन जायगा ऐसा क्षणिक-

जैसे कि स्वयं ही कहा है कि साधन वचनके द्वारा नित्यत्वका निराकरण कर देनेका ही नाम स्वलक्षणकी अनित्यताकी सिद्धि है। तब यहाँ दोनो ही बातें आयेंगी कि स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है।

स्वलक्षण और सामान्यमे एकत्वका अध्यवसाय होनेसे अर्थकी क्षणिकताकी विधिमे भी अन्यापोहके समर्थनकी शका और उसका निराकरण— शकाकार कहता है कि दो प्रकारके विषय हैं—दृश्य और विकल्प जो दर्शनके विषयभूत हैं वे तो दृश्य कहलाते हैं। जिनका निराकार प्रतिभास है। साक्षात् प्रत्यक्षभूत है वह तो दृश्य है और जो सविकल्प ज्ञान द्वारा विषयभूत होता है वह विकल्प कहलाता है। तो दृश्यका नाम है स्वलक्षण और विकल्पका नाम है सामान्य। जो निराकार दर्शनका विषय है वह है स्वलक्षण और जो सविकल्पज्ञानका निश्चय करने वाले ज्ञान का विषय है वह सामान्य है। तो इसमे एकत्वका अध्यवसाय है जीवोको इस कारण से जो अन्यापोह माना जा रहा है उससे अर्थक्षणका, क्षणक्षयका विधान सिद्ध हो जाता है वहाँ समर्थित हुआ है अन्यापोह ही। वहाँ स्वलक्षणरूपमे विधि नही बनती, अन्यापोह है इस तरहकी विधि बने, क्योंकि विकल्प और शब्द ये दोनो वस्तु स्पर्श नही कर सकते। वस्तुका स्पर्श करने वाला तो दर्शन अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। इस कारण यह कहना कि अब तो साधन वचन द्वारा स्वलक्षणके क्षणिकत्वकी विधि बन गई सो विधि नही बनी। वह तो अन्यापोहकी विधि है। इस शकाके समाधानमें कहते हैं कि देखिये—स्वलक्षण और सामान्यका जो एकत्व मान रहा है समझ रहा है, ऐसे विकल्पके द्वारा स्वलक्षणका ग्रहण कहाँ हुआ? और जिसका ग्रहण न हुआ ऐसा जो अगृहीत स्वलक्षण है उसके साथ सामान्यका एकत्व माना ही नही जा सकता है अन्यथा अर्थात् अगृहीतके साथ सामान्यका एकत्व मान लिया जाय तब तो जो सूक्ष्म हैं या बहुत अतीत कालमें हो गए हैं या अत्यन्त दूर मेरु आदिक हैं उन पदार्थोंके साथ भी एकत्वका अध्यवसाय हो जाना चाहिए। तो यों स्वलक्षण और सामान्यमें एकत्वका अध्यवसाय ही सम्भव नहीं है।

मिथ्याव्यवसायसे तत्त्वव्यवस्थापनकी अशक्यता— शकाकार कहता है कि प्रत्यक्षसे प्रमाणित सिद्ध किया गया है स्वलक्षण, उसके साथ सामान्यका एकत्व समझ लिया जायगा तो इसके उत्तरमे कहते हैं कि इस तरह वो विकल्प और शब्दको जब वस्तुका स्पर्श नही मानते अर्थात् न विकल्प वस्तुका स्पर्श कर सकते हैं और न शब्द ही उस वस्तुत्वका स्पर्श कर सकते हैं तब तो स्वलक्षणका जो दर्शन है वह तो अकृत निर्णय है याने निर्णय न हो सका। निर्णय सामान्यका माना गया है। जब अकृत निर्णय पडा रहा तो वस्तुकी सन्निधिकी अविशेषता होनेके कारण अर्थात् जब उसका निर्णय न हो सका तो वहाँ कहा भी कैसे जावगा कि किसके द्वारा कौन जाना गया है, कौन प्रमाण किया गया है। जो मिथ्या विकल्प है उसके द्वारा तत्त्वकी व्य-

साधन गोरूप्य लक्षण वाला है तो यह सिद्ध हुआ कि पाचरूप्य लक्षणवाला नहीं है।

विवक्षित विधिका कथन न करनेसे साधनवचनकी अनर्थकता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान - उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि वहाँ भी अपने विषयकी विधिकी कहाँ अपेक्षा की गई ? वह साधन वचन भी अन्यापोह मात्रका अर्थ कहने वाला हुआ। और कहा भी है क्षणिकवादके सिद्धान्तमें कि शब्द और लिङ्गके द्वारा अपोह कहा जाता है वस्तु नहीं अर्थात् वहाँ विधि कथन नहीं है। तो साधन वचनके द्वारा नित्यत्वका व्यवच्छेद कर दिया या नित्यपनेमें जो कुछ शंकायें होती थी उनका व्यवच्छेद कर दिया और स्वलक्षणकी अनित्यता सिद्ध कर नहीं रहे तो साधन का कहना अनर्थक हो जायगा याने कोई हेतु बोला—अब वह हेतु भी सीधा साध्यके विषयको सिद्ध करने वाला नहीं है। जैसे कि सत् है वह सब क्षणिक है सत् होने से। तो यहाँ जो हेतु बताया गया है उस हेतुने तो नित्यत्वका अपोह किया। क्षणिक है, ऐसा साध्य तो बनाया, पर क्षणिकत्व नहीं आना, क्योंकि क्षणिकत्व है स्वलक्षण और प्रतिज्ञा यह है कि शब्द अन्यापोहको कहते हैं तो उस हेतुने नित्यत्वके हटावको कहा। तो भले ही नित्यत्वका हटाव बता दिया, पर अनित्यत्वकी बुद्धि अब वह नहीं कर रहा, वह हेतु वचन स्वलक्षणकी सिद्धि नहीं कर रहा तो अन्यापोह बता देनेपर भी जब स्वलक्षण सिद्ध न हो सका तो हेतुका कहना अनर्थक हो जायगा। शब्द तो होता है परार्थानुमान रूप याने अनुमान प्रयोग होता है दो ढंगोंसे एक तो स्वयके समझनेके लिए और एक दूसरोंको समझानेके लिए। तो शब्दकी जो परिणति होती है वह दूसरोंको समझानेके लिए होती है और स्वयको समझनेके लिए जो अनुमान ज्ञान होता है वह तो विकल्परूप होता है। तो शब्द होता है परार्थानुमानरूप और विकल्प होता है स्वार्थानुमान ज्ञानरूप तो उन दोनोंका सर्वथा अन्यापोह अर्थ ही है यह कहना युक्तिसंगत नहीं है।

स्वविषयविधिका कथन होनेसे सर्वथा अन्यापोह अर्थके समर्थनकी असंगतता— शंकाकार कहता है कि देखिये—जो सत् हैं वे सब अनित्य हैं। क्योंकि नित्य पदार्थमें न तो क्रमसे अर्थक्रिया सम्भव है और न एक साथ अर्थक्रिया सम्भव है। इस साधन वचनके द्वारा नित्यत्वका जो व्यवच्छेद किया। कोई नित्यपनेका विकल्प कर कहा हो उसका निराकरण किया तो यही तो स्वलक्षणकी अनित्यताकी सिद्धि कहलाती है। इस कारणसे साधनवचन अनर्थक न कहलायेंगे। यद्यपि उस साधन वचनने शब्दके सिद्धान्तके अनुसार नित्यत्वका ही निराकरण किया उसीका नाम स्व लक्षणकी अनित्यका सिद्ध करना कहलाता है। इस कारण हेतुका कहना अनर्थक नहीं है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि तब फिर यह बात कहाँ रही कि शब्दका सर्वथा अन्यापोह ही विषय है क्योंकि अब तो स्वलक्षणके क्षणिकपनेका भी विधान कर दिया गया। क्योंकि शब्दका विषय वहाँ स्वलक्षणकी क्षणिकता मान ली गई है।

दर्शन प्रमाण नहीं होता, क्योंकि संशय आदिक ज्ञानोंके द्वारा दर्शनके विषयका समारोप नष्ट नहीं हो जाता है। जहां समारोप नहीं है ऐसे नील स्वलक्षणके दर्शनकी प्रमाणता है और जहाँ समारोप भरा हो उस अंशमें तो दर्शनकी प्रमाणता नहीं है। किसी भी नीलादिक पदार्थके देखे जानेपर भी जो ज्ञान सामान्य अर्थको विषय करने वाला सविकल्प है वह ज्ञान है और जो समारोपसे प्रयुक्त अर्थात् विवक्षित अन्य अंशमें जो ज्ञान होता है वह तो केवल अन्यापोहके रूपसे होता है याने अक्षणिकसे हटा हुआ है इस तरहका ज्ञान होता है ऐसा कहा गया है। इस कारणसे यह उपालम्भ नहीं दिया जा सकता कि वस्तुका स्पर्श नहीं है। इसकी समानता होनेपर भी निर्णयके जनक दर्शनको प्रमाण माना जाय यह न्याय नहीं है ऐसा उपालम्भ नहीं दिया जा सकता। जो समारोपका निराकरण करे उसका जो जनक दर्शन है वह प्रमाण है जो समारोपको दूर नहीं कर सकता ऐसे संशय आदिक ज्ञानको उत्पन्न करने वाले दर्शनमें विषयमें प्रमाणरूपता नहीं है।

समारोपव्यवच्छेदक विकल्पके स्वसंवेदनकी व्यवस्था बनानेमें अनवस्था व इतरेतराश्रय दोषकी आपत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान— उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि समारोपका निराकरण करने वाला जो विकल्प है उस विकल्पमें जो स्वसम्वेदन है व्यवस्था बनी हुई है तो उस स्वसम्वेदनमें जो स्वलक्षण-विषय हुआ उसका निर्णय बनानेके लिए फिर अन्य विकल्पकी अपेक्षा करनी पड़ेगी क्योंकि वहाँ तो जिस तरह नील आदिक स्वलक्षणका दर्शन अपने स्वरूपकी व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं है। इसी कारणसे सविकल्प ज्ञानकी आवश्यकता हुई अर्थात् विकल्पान्तर करना पड़ा। ऐसे ही समारोपका निराकरण करने वाला जो विकल्प है उस विकल्पके निज स्वरूपकी तो व्यवस्था बनानी पड़ेगी। उस विकल्पके निज स्वरूपकी व्यवस्था बनानेके लिए अन्य विकल्प होना चाहिए। इस तरह विकल्पमें स्वसम्वेदनमें चूँकि विकल्प नहीं है तब निर्विकल्पताकी समानता होनेसे जैसे नील आदिक पदार्थोंमें विकल्प नहीं, दर्शनमें विकल्प न हो तो विकल्प स्वरूपमें भी विकल्प नहीं। अतएव अन्य अन्य विकल्पोंसे सिद्धि बनानी होगी और वहाँ अनवस्था दोष आयगा। और भी देखिये नीलादिकका दर्शन अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान और समारोपका व्यवच्छेद अर्थात् सविकल्पज्ञान इन दोनोंमें किसी एकका स्वतः स्वरूप सम्पूर्ण नहीं बनता। ऐसी स्थितिमें इतरेतराश्रय दोष होगा अर्थात् वस्तु दर्शनकी सम्पूर्णता बनने पर समारोप व्यवच्छेद बने और समारोप व्यवच्छेदकी सिद्धि होनेपर वस्तु दर्शनमें प्रमाणता आये इस तरह इतरेतराश्रय दोष होगा।

समारोपव्यवच्छेदक निर्णयके स्वसंवेदनकी व्यवस्थामें आपतित अनवस्था व इतरेतराश्रय-दोषका विवरण— अब उक्त प्रसंगको विवरणके साथ सुनिये देखिये समारोप जिस ज्ञानके द्वारा नष्ट किया जाता है उसको कहते हैं निश्चय।

वस्था नहीं बना करती। तो यहाँ क्षणिकका तो प्रत्यक्षने दर्शन किया और उस दर्शन के सम्बन्धमें निर्णय ज्ञानको साक्षात् प्रमाण माना नहीं तो एसी स्थितिमें जो सवि-कल्प ज्ञान होता है। जिसमे कि तत्त्वका निर्णय माना जाता है वह स्वयं है मिथ्या। और मिथ्या विकल्पके द्वारा तत्त्वकी व्यवस्था बनायी नहीं जा सकती। यदि मिथ्या अध्यवसायसे तत्त्वकी व्यवस्था बनायी जाने लगे तब फिर संशय और विपर्यय ज्ञानको उत्पन्न करने वाले दर्शनके द्वारा भी स्वलक्षणका ज्ञान होनेका प्रसंग आ जायगा। क्षणिकवादमें सर्वप्रथम निराकार दर्शन होता है। अर्थात् वस्तुके स्वलक्षणका प्रति-भास होता है और वह दर्शन प्रमाण ज्ञानको उत्पन्न करने वाला है। उस विकल्प ज्ञानसे दर्शनके विषयका निर्णय होता है। तो निर्णयको उत्पन्न करने वाले दर्शनकी प्रमाणता मानी जाती है। किन्तु अब तो यहाँ बताया गया था कि विकल्प और शब्द ये दोनो वस्तुका स्पर्श नही करते तब स्व लक्षणका दर्शन करने वाले निर्विकल्प प्रत्यक्षमें तो निर्णय खुद पड़ा हुआ नहीं है और निर्णय करने वाले विकल्प ज्ञानको बताया है कि वह वस्तुका स्पर्श करता नही तब दर्शनके कालमें वस्तुका निर्णय है नहीं। भले ही माना गया हो कि वस्तुका सामान्य प्रतिभास है पर वहाँ निर्णय नहीं है। प्रतिभास भी हो जाय तो वस्तु तो इस प्रकारसे ही है जिस प्रकारसे पासमे रखी है। तो वस्तु पासमे रही, पर निर्णय तो नही ऐसे ही सविकल्प ज्ञानके समय भी वस्तु पासमे है, पर स्पर्श नही। तो वस्तुकी निकटता दोनो जगह समान है फिर वहाँ यह निर्णय तो न बना कि निर्विकल्प दर्शनसे या किससे कौन प्रमित किया जाता, जाना जाता? और, जब प्रमाण न बना तो वे मिथ्या अध्यवसाय ठहरे और मिथ्या अध्यवसायसे तत्त्वकी व्यवस्था बनायी जाने लगे तो संशय, विपर्यय ज्ञानको उत्पन्न करने वाले निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा भी स्वलक्षण प्रमेय हो जाना चाहिए यहा शंका-कार कहे कि स्वलक्षण दर्शन व मिथ्याध्यवसायमें वस्तुका स्पर्श तो नही होना तो वस्तु स्पर्शके अभावमें तो दोनो जगह समानता है। अर्थात् जो दर्शन संशयको उत्पन्न करे, और जो निर्णयको उत्पन्न करे, दोनो जगह वस्तु सन्निधिकी समानता है। फिर भी निर्णयको उत्पन्न करने वाला दर्शन तो प्रमाण माना जाय और संशय आदिकको उत्पन्न करने वाला दर्शन प्रमाण न माना जाय ऐसा यदि कोई कहता है तो स्पष्ट सिद्ध है कि उसको अपनी जानकारी कुछ नही है।

निर्णयजनक दर्शनमे प्रमाणत्वकी सिद्धिका व संशयादिजनक दर्शनमे अप्रमाणत्वकी सिद्धिका शंकाकार द्वारा प्रयास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि निर्णयके द्वारा दर्शनके विषयमें हो सकने वाले समारोपका व्यवच्छेद हो जाता है अर्थात् दर्शनका विषय है नीलादिक स्वलक्षण। जैसे कि क्षणिक निरंश अर्थ है वे सब हैं दर्शनके विषयभूत अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषयभूत। अब उनमें संशय, विपर्यय आदिक समारोप जो हो सकते हैं उनका निराकरण किया निर्णयने। अतएव निर्णयको उत्पन्न करने वाला दर्शन प्रमाण है, पर संशय आदिको उत्पन्न करने वाला

में यह भेद। ऐसा जो कथन है वह भी खण्डित हो जाता है याने केवल कोई व्यावृत्ति ही किसी ज्ञानका या शब्दका विषय हो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता है। विशेष समान परिणामसे रहित खण्ड मुण्ड आदिक पदार्थ ही एकत्वका विचार उपचार करनेसे एक अर्थकी सिद्धिमें कारण होता है ऐसा कहनेमें हेतु देते हैं अतत्कार्य कारणसे व्यावृत्त होनेसे। और, दृष्टान्त देते हैं कि जैसे गुरचे आदिक अनेक वस्तुओंको मिला कर जो काढा औषधि बनायी जाती है तो उसे एक औषधि बोलते हैं और वह ज्वरके शान्त करनेमें कारण पड़ती है तो वहाँ भी है क्या? जितनी उसमें औषधि मिलाई गई है वे सब भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, और उन सब भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एकत्वका अध्यवसाय किया गया है और इसी कारण वे सब पदार्थ एक ज्वरके शान्त करनेमें कारण बन जाते हैं यों ही ऐसा भेद होनेपर भी अतत्कार्य कारण व्यावृत्तिके रूपसे एकका विचार चलता है और एक अर्थको सिद्ध करनेमें कारण बनता है ऐसा कहने वाला यह क्षणिकवादी अपने सिद्धान्तको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि अतत् कार्यकारण व्यावृत्ति नहीं बनती है यह न्याय है यह कारण है इस तरहसे विधि न मानकर यह अतत्कार्य व्यावृत्ति है मायने उसका कार्य नहीं है जो जो उन सबसे हटा हुआ है और अतत् कारण व्यावृत्ति है याने इसका कारण नहीं है। जो जो उन सबसे हटा हुआ है ऐसी व्यावृत्तिसे वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं हुआ करती तो संकेतको न समझने वाला कोई पुरुष किसी भी पदार्थमें अन्वय बुद्धि और शब्दका व्यवहार करेगा तो वह उलटा भी व्यवहार कर सकता है। जब शब्दने सीधा पदार्थको विषय किया नहीं किन्तु व्यावृत्तिको विषय किया। तो जब स्वरूप सत्त्व समझमें न आया तो किसी भी पदार्थको किसी भी शब्दसे समझ लेगा और वहाँ व्यावृत्ति मान लेगा। तो यों पदार्थ और उसका संकेतकरण इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध न बननेसे सब व्यवहारोंका लोप हो जायगा।

अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिसे व्यवस्था बनानेके लिये प्रदत्त उदाहरणसे शङ्काकारके अभीष्ट सिद्धान्तका विघात—अतत्कार्य कारण व्यावृत्तिकी व्यवस्था में जो गुरचे आदिक औषधियोंका उदाहरण दिया है उस उदाहरणमें तो शंकाकारके सिद्धान्तके विरुद्ध तत्त्व सिद्ध हो जाता है अर्थात् औषधिमें जितनी भी वस्तुएँ पड़ी हैं उन सब वस्तुओंमें वास्तविक प्रयोजन साधक सदृशताका परिणाम पड़ा है। जैसे ज्वर को शान्त करने वाला जो गुरचे काढा है तो उस काढामें सोंठ आदिक अनेक औषधियां डाली जाती हैं तो जितनी औषधियाँ डाली गई हैं उन सबमें ज्वरको शान्त करने वाली शक्ति पड़ी हुई है। तो इससे सदृश परिणाम सिद्ध होता है किन्तु क्षणिकवादमें सदृश परिणाम माने नहीं गए हैं। तो यह उदाहरण तो और उलटा बैठता है शंकाकारके लिए। देखिये! यदि उन सब दवाइयोंमें ज्वरको शान्त करनेकी शक्तिका समान परिणाम न माना जाय तो यह व्यवस्था कैसे बनायी जा सकती है कि गुरचे आदिक तो ज्वरको शान्त करनेके कारण हैं और दही ककड़ी आदिक ज्वरको शान्त

समारोपका अर्थ है क्षणिकवादियोंकी मान्यताके अनुसार कि वस्तु तो है क्षणिक और उसमें नित्यका प्रतिभास होवे चिरकाल तक रह रहा है पदार्थ ऐसा जो कुछ मालूमात हो रहा है वह कहलाता है समारोप, याने वस्तुका सही स्वरूप नहीं किन्तु मिथ्यारूप। ऐसा समारोप जिस ज्ञानके द्वारा दूर किया जाता है उसको कहते हैं विकल्प, निश्चय, निर्णय। तो अब यहाँ देखिये कि स्वरूपका निश्चय न करते हुए भी यह विकल्प यदि अपने आपके स्वरूपको बनादे, निर्णीत करदे, उसको सम्पूर्ण बना ले तो इसी प्रकार वस्तु दर्शन भी अपने स्वरूपको निश्चय न करता हुआ स्वयं प्रमाण करले फिर निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषयके निर्णयके लिए सविकल्प ज्ञानकी जरूरत क्यों बनाते हो ? यदि वस्तु दर्शन याने पदार्थके स्वलक्षणका प्रतिभासका निश्चयकी अपेक्षा पड़ी अर्थात् सविकल्प ज्ञानसे उसकी प्रमाणता समझी गई तो अब उस विकल्प के स्वरूप सम्वेदनको भी अन्य विकल्पकी अपेक्षा करनी पड़ेगी ? तब अनवस्था दोष होगा और यदि ऐसा मान लोगे कि विकल्पसे तो वस्तु दर्शनकी रचना बनती है। उसका प्रतिमरूप बनता है और वस्तु दर्शनसे निश्चयके स्वरूपका परिनिष्ठापन होता है अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्षसे सविकल्प ज्ञानके स्वरूपका निर्माण होता है तो इसमें इतरेतराश्रय दोष आ जाता है।

अन्यापोह अर्थकी शब्दावाच्यता व विकल्पाविषयता—उक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि विकल्पकी तरह शब्दका भी सर्वथा अन्यापोह अर्थ नहीं है। जैसे सविकल्पज्ञानका विषय क्षणिकवादी यह कहते थे कि वह तो अन्यापोहको सिद्ध करता है। जैसे गाय कहा तो इस विकल्पज्ञानका विषय है अगो व्यावृत्ति, लेकिन यह बात अब सिद्ध नहीं हो सकती। अगोव्यावृत्तिका ज्ञान गौके स्वरूपके ज्ञानका अविनाभावी है। गायसे भिन्न परपदार्थका अभाव ऐसा समझनेमे गायको विधिरूपसे तो उसने पहिले ही समझ रखा तब तो यह ज्ञानमें आ पायगा कि गायके स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थों का यहा अभाव है। तो लो सविकल्प ज्ञानका विषय सर्वथा अन्यापोह न रह सका। इसी तरह शब्दका भी विषय सर्वथा अन्यापोह नहीं बनता। यों शब्दके द्वारा स्वलक्षण भी वाच्य नहीं बन सकता और शब्दका जो अन्यापोह वाच्य माना है सो सर्वथा अन्यापोह वाच्य नहीं हुआ करता। वहाँ वस्तुमें विधि पड़ी हुई है। गायको निरखकर यह गाय है यह ज्ञान बनता है और वहा ही साथ ही साथ यह भी ज्ञान बन रहा है कि गायको छोड़कर अन्य पदार्थ यह नहीं है। तो यहाँ तक यह निर्णय किया गया कि सविकल्प ज्ञानका विषय सर्वथा अन्यापोह नहीं है और शब्दका भी विषय सर्वथा अन्यापोह नहीं है।

अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिसे व्यवस्थाकी व प्रवृत्तिकी असंगतता—उक्त विवरणके द्वारा यह भी निराकृत हो जाता है कि असत् कार्यकारण, व्यावृत्ति एकार्थ का स्पर्श करने वाले ज्ञानसे एक अर्थके साधनमें कारण होता है। पर वस्तुतः है उन

है तभी तो देखिये कि अनेक प्रकारके घोडोमे यह घोडा है इस प्रकारका जो ज्ञान बन रहा है वह सब घोडोमे जो अश्वपनेका समान परिणमन है उसके कारण ही तो बन रहा है उस समान परिणामका खण्डन नही किया जा सकता है। तो इस तरह अन्यापोहवादियोंको उदाहरण विपरीत बातका ही सिद्ध करने वाला है।

परमतापेक्षया अन्तिम तीन भगकी व्यवस्थाका उपसहार - उक्त परामर्शके अनुसार मानना होगा कि अन्यापोहवादियोका यह अन्यापोह सामान्य असद वक्तव्य ही है। इस विवरणसे इन्ही अन्यापोहवादियोको यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि तत्त्व वहाँ दो प्रसगोमें आया ना, स्वलक्षण और अन्यापोह। स्वलक्षणको तो सत् माना है, अन्यापोहको असत् माना है। यद्यपि सविकल्प ज्ञानके द्वारा अन्यापोह समझा जारहा है और सविकल्प ज्ञानको ही निर्णायक माना है फिर भी अन्यापोहको असत् कहा है और स्वलक्षणको निर्विकल्प प्रत्यक्षमे आये हुए प्रतिभासको सत् माना है। तो यो स्वलक्षण और अन्यापोह इनका जोडा इनकी बात सत् असत् अवक्तव्य ही है, ऐसे इन निरशवादियोके यहा भङ्ग उत्पन्न हो ही जाते हैं, क्योंकि स्वलक्षणको तो माना है सत् और अन्यापोहको माना है असत् तो सत् होकर भी स्वलक्षण और असत् होकर भी अन्यापोह कहा जानेके लिये अशक्य है। यह जो एक कुछ लम्बा सा प्रकरण चला आ या है तो इस प्रकरणमे यह बात सिद्ध की गई कि अतिम जो तीन भग हैं -सत् अवक्तव्य असत् अवक्तव्य और सत् असत् अवक्तव्य, ये परमतकी अपेक्षासे भी निर्दिष्ट किए गए हैं अथवा उदाहरणमे लिए गए हैं।

अस्तित्वको ही वस्तुस्वरूप मानने वाले अद्वैतवादियोकी आशका और उसके समाधानका उपक्रम—अब यहाँ अद्वैतवादी शकाकार कह रहा है कि इस सप्तभङ्गोमें जो वस्तुका स्वरूप अस्तित्व और नास्तित्व सिद्ध किया जा रहा है सो यह अस्तित्व और नास्तित्व सिद्ध किया जा रहा है सो यह अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप बनता है। नास्तित्व वस्तुका स्वरूप नही बनता, क्योकि नास्तित्व तो पररूप के आश्रय है। कहा तो यही जा रहा है स्याद्वाद शासनमें कि वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा से सत् है और पररूपकी अपेक्षासे असत् है और असत्त्व पररूपके सहारे ही तो सिद्ध किया जा रहा है तो जो पररूपके सहारे हो वह वस्तुका स्वरूप नही बन सकता। यदि पररूपके सहारे रहने वाले धर्म वस्तुके स्वरूप बन जायें तो इसमे बहुत बडी विडम्बना बन जायगी पररूपमे भी तो नास्तित्व धम है जैसे विवक्षित पदार्थमें अस्तित्व और नास्तित्व सिद्ध कर रहे हैं और पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व सिद्ध कर रहे हैं तो उस पररूपमें भी तो अस्तित्व और नास्तित्व धर्म बताओगे तो ,पररूपका जो नास्तित्व है पररूपके सहारे रहने वाला जो असत्त्व है, वह भी विवक्षित वस्तुका स्वरूप बन बैठेगा। तो पररूपमें जो नास्तित्व है वह इस विवक्षितका नास्तित्व है और वह मान लिया विवक्षित वस्तुका धर्म तो इसका भी अभाव हो गया। सर्व

करनेके कारणभूत नहीं हैं, जब कि ज्वरको शान्त करने वाले काढेमें पडी हुई औष विधोमे ज्वरको उपशमनेकी शक्तिका समान परिणाम न माना तो कुछ भी चीज ज्वरको शान्त कर बैठेगी, अव्यवस्था बन जायगी। अथवा दूसरा उदाहरण सुनो! चक्षु आदिक इन्द्रियमे यदि रूप आदिक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिका समान परिणाम नही माना जाता तो वहाँ भी यह व्यवस्था कैसे बनाई जा सकती है कि चक्षु आदिक रूप ज्ञानके कारणभूत हैं और रसना आदिक रूपज्ञानके कारणभूत नहीं हैं। यह व्यवस्था सम्भव नही हो सकती है। अतः मानना पडेगा कि वहाँ कार्यकारण भाव है। और, उस तरहकी सर्व घटनाओमे समान परिणाम है।

अतत्कार्यकारण व्यावृत्तिसे कार्यकारणव्यवस्था बनानेका शकाकार का निष्फल प्रयास—शकाकार कहता है कि यह जो व्यवस्था बनायी जाती है कि चक्षु आदिक ही रूप ज्ञानके कारणभूत हैं रसना आदिक नहीं हैं, गुरमें आदिक ही ज्वरको शान्त करनेके कारणभूत हैं, दही आदिक नहीं हैं, यह व्यवस्था अतत्कार्य कारणव्यावृत्तिके कारण बन जायगी। याने जो उसका कार्य नही है उसकी व्यावृत्ति हुई, जो उसका कारण नहीं है उसकी व्यावृत्ति हुई उससे यह सब व्यवस्था बन जायगी। जैसे कहा जा रहा है कि कार्य और कारणकी वृत्तिसे यह व्यवस्था बन रही है। जैसे चक्षुका कार्य रूपज्ञान है और रूपज्ञानका कारण चक्षु आदिक है तो जैसे इस तरह व्यवस्था बनानेकी सोची जा रही है सो तो व्यवस्था बनानेकी सोची जा रही है सो भी व्यवस्था न बनेगी किन्तु अतत्कार्यकारण व्यावृत्तिसे यह व्यवस्था बनेगी। शकाके समाधानमे कहते हैं कि यह बात कैसे सिद्ध कर लोगे कि अमुक पदार्थोंमें अतत् कार्य कारण व्यावृत्ति है अर्थात् कार्यमे भिन्नकी व्यावृत्ति याने जो कार्य नही है चक्षु आदिकके उनको हटाव। और जो रूपज्ञानके कारण नही हैं उनका निषेध यह बात तुम कैसे समझ लोगे जब कि कारण कार्य और अन्य जनक शक्ति जैसे समान परिणामका अभाव मान रहे हो यह उसका कारण है, यह उसका कार्य है इस कारणमें अमुक कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति है इस कार्यमे अमुक कारणके द्वारा उत्पन्न हो जानेकी शक्ति है ऐसा सदृश परिणाम विधि कथन न माननेपर यह भी कैसे सिद्ध कर सकोगे कि अमुक पदार्थमें अतत् कार्यकारण व्यावृत्ति है? नही सिद्ध किया जा सकता। तो अतत्कार्यकारण व्यावृत्तिको सिद्ध करनेके लिए तत्कार्यकारण शक्तिका समान परिणाम मानना होगा। जैसे कि यह घडा है, कपडा आदिक नही है। तो यहाँ दो बातें कही जा रही ना, घट है, अघट व्यावृत्ति है। तो अघट व्यावृत्तिकी बात तो तब ही समझमें आ सकती है जब कि घट है यह समझमें पडा हो। घटको छोडकर अन्य कुछ नहीं है ऐसा ज्ञान घटके ज्ञानपर आधारित है। ऐसे ही अतत् कार्यकारण व्यावृत्तिका परिचय तत्कार्य कारणकी शक्तिको परिज्ञान होनेपर निर्भर है। इस तरह यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो उदाहरण दिया गया है इस प्रसगमें वह जो कुछ भी ज्ञान बना रहा है वह वहाँ उसे समान परिणाम हेतुक सिद्ध कर रहा

कर अन्य और कुछ मिलेगा यथा उदाहरण देनेके लिए जिसको कि विपक्ष बनाया जा सके। इस कारण यह उदाहरण देना सही नही है कि जैसे साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है इसी प्रकार अस्तित्व नास्तित्वसे अविनाभावी है, इस शंकाके समाधान मे कहते हैं कि यह शंका करना सगत नही है कि सर्व पदार्थोका नित्य या अनित्य आदिक सिद्ध करते समय वैधर्म्य न मिलेगा। देखिये उस अनुमान प्रयोगमे भी अथवा केवलान्वयी हेतुमे भी साधर्म्य और वैधर्म्य दोनोका सद्भाव सिद्ध हो सकता है। जैसे कि अनुमान प्रयोग किया कि सर्व नित्य है प्रमेय होनेसे या यह प्रयोग करें कि सब अनित्य है प्रमेय होनेसे। तो प्रमेयत्वात् इस हेतुके कहनेमें भी व्यतिरेक है ही है। क्योंकि प्रमेयपना वस्तुधर्म है। उसका प्रयोग बोलकर जो सिद्ध करना चाहेंगे उसकी व्यतिरेक पद्धति मदद करने वाली होगी ही। कैसा भी अनुमान प्रयोग हो 'जीव परिणामी है या शब्दादिक अपरिणामी नही है। सर्व चेतन हैं, अथवा सर्व अचेतन हैं। जिस किसी भी प्रतिज्ञाको किया जाय, जिस दार्शनिकको जो भी प्रतिज्ञा इष्ट हो उस प्रतिज्ञाको करके अर्थात् पक्ष और साध्य बोलकर जो हेतु दिया जा रहा है कि प्रमेय होनेसे सत्त्व होनेसे वस्तुत्व होनेसे या अर्थक्रियाकारी होनेसे जो कुछ भी हेतु दिये जा रहे हैं वहांपर भी वैधर्म्य मिलेगा।

हेतु प्रयोगमे साधर्म्यके साथ वैधर्म्यकी अविनाभाविताका उदाहरणमे स्पष्टीकरण—जब अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा कि सर्व अनित्य है प्रमेय होने से। जो जो प्रमेय है वे वे अनित्य हैं। जैसे दृश्यमान सर्व पदार्थ। और, जो अनित्य नही है वे प्रमेय भी नही हैं अथवा जिस दार्शनिकने जिस प्रकारका भी हेतु दिया हो वहां वैधर्म्य मिलेगा। क्या? आकाश पुष्प अथवा खरगोशके सींग। सब कुछ नित्य है प्रमेय होनेसे। जो नित्य नही है वह प्रमेय नही है जैसे आकाशका फूल। वह प्रमेय नही है तो नित्य भी नही है यो व्यतिरेक तो वहां मिल ही जाता है जैसे अन्वय और साधर्म्य सिद्ध होता है इसी प्रकार यह भी सिद्ध हो रहा है कि आकाश फूलमे खरगोश के सींगमें साध्यधर्म भी नही है और साधन धर्म भी नही है। अनुमान प्रयोग किया कि जीव अपरिणामी है प्रमेय होनेसे। जो जो प्रमेय होते हैं वे वे परिणामी होते हैं जैसे कि घट। और जो परिणामी नही होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है—जैसे आकाश पुष्प। तो इस अनुमानमे वैधर्म्य मिल गया ना। इसी तरह सब परिणामी है प्रमेय होनेसे। इस अनुमानमें भी जो परिणामी नही हैं वह प्रमेय नही है। जैसे आकाश पुष्प तो ऐसा वैधर्म्य मिल गया ना तो सभी प्रकारके प्रयोगोमे अन्वयव्यतिरेक अथवा साधर्म्य वैधर्म्य दोनोकी सिद्धि होती है। अनुमान प्रयोगमें दो प्रकारके दार्शनिक हैं एक तो ५ अवयव मानने वाले याने पक्ष, और साध्यको कहनेका नाम है प्रतिज्ञा। एक तो दार्शनिक उस प्रतिज्ञाको मानने वाले हैं और दूसरे दार्शनिक वे हैं जो प्रतिज्ञा शब्दसे तो नही मानते किन्तु अभिप्राय है ऐसा कह-कहकर मानते हैं। तो किसी भी प्रकार मानें, बात एक ही है। अनुमान प्रयोगमें साधर्म्य और वैधर्म्य

शून्य हो गया फिर कुछ सत्त्व ही न रहेगा। अत. वस्तुका स्वरूप अस्तित्व ही मानना चाहिए, नास्तित्व नहीं। ऐसा कहने वाले अद्वैतवादियोंके प्रति अब आचार्य समन्त भद्र महाराज निम्नलिखित कारिकामें समाधान दे रहे हैं।

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

अस्तित्वकी नास्तित्वके साथ अविनाभाविता—अस्तित्व प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है और वह है एक धर्मीमें अर्थात् एक वस्तुमें जो अस्तित्व विदित किया जा रहा है वह नास्तित्वके साथ अविनाभावी है अर्थात् उसमें अस्तित्व है तो नास्तित्व भी है क्योंकि विशेषण होनेसे। अस्तित्व वस्तुकी विशेषता बता रहे हैं, तो विशेषणपना होनेसे यह भी सिद्ध होगा कि उसमें अन्य प्रकारका नास्तित्व भी है। जैसे कि अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दिये जाते हैं उन हेतुवोंका साधर्म्य होता है तो वह साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है, अर्थात् हेतुके सपक्षसत्त्व बताया करते हैं कि यह हेतु सपक्षमें रहता है और साध्य भी उस सपक्षमें रह रहा है। तो जहाँ सपक्षसत्त्वकी सिद्धि करके हेतुको निर्दोष कहा जाता है वहाँ विपक्ष व्यावृत्ति कहकर भी हेतुको निर्दोष बताना पड़ेगा। तो वहाँ साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी बन गया। तो अस्तित्व और नास्तित्वकी बात एकधर्मीमें सिद्ध करना चाहिए। जैसे एक जीव पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्वको सिद्ध किया जा रहा है तो धर्मी है वह जीव। जीव स्वरूपसे है पररूपसे नहीं है। तो जीवमें जो अस्तित्व धर्म बताया जा रहा है वह प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है अस्तित्वका प्रतिषेध्य हुआ नास्तित्व, नास्तित्व है तब अस्तित्व है। यह बात भिन्न अधिकरणमें नहीं बताना है, एक वस्तुमें बताना है। तो यों अस्तित्व नास्तित्वके साथ अविनाभावी है विशेषणपना होनेसे। अस्तित्व नास्तित्वके साथ अविनाभावी है इसकी सिद्धिमें प्रदत्त दृष्टान्तको सुनिये जैसे हेतुमें साधर्म्य बताया जाता है तो वह वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है। सभी हेतुवादी दार्शनिक किसी भी अनुमान प्रयोगमें साधर्म्य और वैधर्म्य दोनोंमें सत्त्व असत्त्व घटित करके अनुमानकी सिद्धि किया करते हैं। तो यही बात सिद्ध हुई ना कि हेतु प्रयोगमें साधर्म्यकी व वैधर्म्यकी बात बतायी जाती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें हेतु है और साध्य भी उसके साथ है। ऐसा भी दृष्टान्त दिखाना होता है कि जहाँ हेतु भी नहीं, साध्य भी नहीं। तो अनुमान प्रयोगमें साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी सिद्ध हो ही जाता है।

साधर्म्यकी वैधर्म्यके साथ अविनाभावितामें शंका और उसका समाधान—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जिस समय समस्त वस्तुवोंको नित्य अथवा अनित्य सिद्ध किया जा रहा हो तो वहाँ पक्षमें सभी पदार्थ आ गए। तो वहाँ साधर्म्य व्यतिरेकका अविनाभावी तो न मिल सका। व्यतिरेक ही असम्भव है। सबको छोड़

नही हो रहा है और प्रत्यक्ष कल्पनातीत होकर भी कल्पनातीत रूपसे कल्पना की जाना विरुद्ध नही हो रहा है उसी प्रकार आकाश पुष्प आदिक अप्रमेय हैं, ऐसा व्यवहार करने वाले जनोंके यहाँ भी ख पुष्प आदिकमें अप्रमेयता है, यह भी विरुद्ध सिद्ध नही होगा अर्थात् अप्रमेयरूपसे व्यवहार बन रहा है और वे आकाश पुष्प आदिक अप्रमेय ही हैं क्योंकि आकाश पुष्पादिककी जानकारीमें सद्भाव समझनेमे प्रमाणका अभाव है प्रमेयके अभावकी तरह जैसे प्रमेयके अभावका ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है इसी प्रकार आकाश पुष्पको ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण न होनेपर भी यदि आकाश पुष्पादिकको प्रमेय मान लिया जाय तो प्रमेयका अभाव भी प्रमेय बन बैठेगा। प्रमेयके अभावका भी कोई प्रमाण नहीं है और अब प्रमाणके न होनेपर भी प्रमेय माना जाने लगा और इस प्रकार फिर प्रमेय और प्रमेयके अभावकी व्यवस्था भी कैसे ठहर सकेगी ? यह प्रमेय है, यह प्रमेयाभाव है, यह व्यवस्था अब किस आधारपर बनेगी ?

आकाशपुष्पको प्रमेय सिद्ध करनेके लिये शकाकार द्वारा प्रयुक्त हेतुमे व्यभिचार—शकाकार कहता है कि एक अनुमान आकाश पुष्प आदिकको प्रमेय सिद्ध कर देता है वह अनुमान यही है कि आकाश पुष्पादिक प्रमेय हैं शब्द और विकल्पके विषयभूत होनेसे घट आदिककी तरह । इस उदाहरणमे । जैसे घट शब्दका विषय है घट । तो घट प्रमेय है अथवा घट विषयकज्ञानका विषय है घट । अतः घट प्रमेय है ऐसे ही आकाशपुष्प, इस शब्दके द्वारा कुछ समझा जा रहा है ना, जो समझा जा रहा है आकाशपुष्प तो वह प्रमेय है अथवा आकाश पुष्प तो वह प्रमेय है अथवा आकाश पुष्पके सम्बन्धमे तो ज्ञान बन रहा है उस ज्ञानका विषय तो है ना, आकाशपुष्प, अतः वह प्रमेय है। तब आकाश पुष्पको अप्रमेय कैसे सिद्ध किया जा रहा है ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि इस अनुमान प्रयोगमे कहा गया हेतु निर्दोष नही है। इस हेतुका प्रमेयाभावके साथ-व्यभिचार होता है। प्रमेयाभाव भी शब्दका विषय है। कहा तो गया है शब्द द्वारा और प्रमेयाभाव भी विकल्पका विषय है। प्रमेयका अभाव है इत्याकार रूपसे ज्ञान भी तो बन रहा है लेकिन प्रमेयाभाव प्रमेय कैसे है ? हेतुके पाये जानेपर साध्यका न पाया जाना यही तो व्यभिचार है।

आकाशपुष्पमे प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों प्रमाणोसे प्रमीयमाणताका अभाव – शकाकार कहता है कि आकाशपुष्प आदिक प्रमेय हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके द्वारा यह प्रमीयमाण होता है अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे जाना जाता है, अतएव आकाशपुष्पादिक प्रमेय हैं, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है ? इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि इस अनुमानमें दिया गया हेतु असिद्ध है। अर्थात् आकाश पुष्प आदिक प्रत्यक्ष और अनुमानसे प्रमीयमाण नही है। किसी प्रमाणके द्वारा आकाश पुष्प जाना नहीं जाता है। आकाश पुष्प आदिक प्रत्यक्षसे तो प्रमीयमाण है नहीं क्योंकि प्रत्यक्षमें

को बताना सबके लिए जरूरी है। तो जो शंकाकारने यह शंका की थी कि सब पदार्थों को नित्यत्व अथवा अनित्यत्व सिद्ध करनेमें हेतु दिया जायगा वहाँ व्यतिरेकका अविनाभावी साधर्म्य नहीं है, सो ऐसा नहीं है। साधर्म्य तो है दृश्यमान सभी पदार्थ और वैधर्म्य है खपुष्पादिक। तो वहाँ व्यतिरेक है ही।

प्रमेय न होनेपर भी आकाश पुष्पके उदाहरण व्यवहारकी अविरुद्धता

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि आकाश पुष्प आदिक भी तो जब आकाश पुष्पादिक में यह आकाश पुष्प है या यों कहकर उदाहरण दिया जायगा तो वह प्रमेय तो हो ही गया यों आकाश पुष्पादिक भी प्रमेय मान लेना चाहिए, ऐसी आशंका करना व्यर्थ है। क्योंकि आकाश पुष्पकी प्रमिति करनेमें सम्यक जानकारी करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। कोई भी प्रमाण आकाशपुष्पका सद्भाव अथवा उसकी जानकारी सिद्ध नहीं करता। उसमें प्रमेयत्व धर्म ही नहीं है। जो प्रमेय हो वही तो प्रमाणका विषय बन सकता है। आकाशपुष्प प्रमेय है नहीं उसकी जानकारीमें कोई प्रमाण ही नहीं। अन्यथा अर्थात् प्रमेय न होनेपर आकाशपुष्पमें सम्बन्धमें प्रमाण न होनेपर भी उसे यदि प्रमेय मान लिया जाय तो प्रमेयका अभाव भी प्रमेय बन बैठेगा। फिर यह व्यवस्था ही नहीं बन सकती है कि यह तो प्रमेय है और यह प्रमेयका अभाव है। इस प्रसंगमें यह भी आशंका न रखना चाहिए। तब तो आकाशपुष्प इस शब्दका कहना भी असंगत है। जब आकाश पुष्प प्रमेय नहीं है तो किस प्रकारसे उसे बुद्धिमें लायेंगे और उसे वचनों द्वारा कह सकेंगे? सो यह आशंका न रखिये। प्रमेय न होने पर भी उसका निर्देश करना विरुद्ध नहीं है। जैसे स्वयं क्षणिकवादियोंने कहा है कि स्वलक्षण निर्देश्यके योग्य नहीं है अर्थात् वचनों द्वारा कहा जा सकने योग्य नहीं है। तो यहाँ स्वलक्षण अनिर्देश्य है इस शब्द द्वारा तो निर्देश कर ही दिया गया है। यदि स्वलक्षण सर्वथा अनिर्देश्य हो तो अनिर्देश्य शब्द द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। तो देखिये अनिर्देश्य होनेपर भी स्वलक्षणका अनिर्देश्य शब्दसे निर्देश तो कर लिया गया। तो जैसे स्वलक्षण अनिर्देश्य है ऐसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार आकाश पुष्प है उदाहरण, ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं आता। अथवा क्षणिकवादियोंका कहना है कि प्रत्यक्ष कल्पनासे रहित है। तो कल्पनासे रहित माना जानेपर भी प्रत्यक्षके सम्बन्धमें यह तो कल्पनाकी ही गई है कि वह कल्पनासे रहित है। कल्पनासे रहितपनेके रूपसे प्रत्यक्षको माननेकी बात जैसे विरुद्ध नहीं होती उसी प्रकार प्रमेय न होनेपर भी आकाश पुष्पका उदाहरण देनेकी बात विरुद्ध नहीं होती। यदि यों विरोध माना जाने लगे तो न अनिर्देश्यत्वका व्यवहार बनेगा और न कल्पना रहितपनेका व्यवहार बनेगा।

आकाशपुष्पको उदाहरणमें देनेकी अविरुद्धताका विवरण—जिस प्रकार क्षणिकवादियोंके यहाँ स्वलक्षण अनिर्देश्य है, ऐसा व्यवहार करते हुए निर्देश्य विरुद्ध

आकाश पुष्पमें वस्तुपना सिद्ध हो जायगा। और, जब आकाश पुष्पमें वस्तुपना सिद्ध हो बैठे तो अब यह व्यवस्था ही नही बनायी जा सकती है कि स्वलक्षण तो सत् है और अन्यापोह असत् है। या कुछ भी सत् है और अन्य असत् है यह व्यवस्था नही बन सकती। है और जब यह व्यवस्था न बनी तो सत् असत्का व्यवहार नही बन सकता।

विधि और प्रतिषेधमे एकतानत्व न होनेसे स्वलक्षणको ही अन्यापोह अर्थ बतानेकी अशक्यता—अब यहाँ शकाकार शका करता है कि आकाशात्मक अर्थात् आकाश आदिक ही है स्वरूप जिसका ऐसे इस स्वलक्षणको छोडकर आकाश पुष्पादिकका अभाव नही दिखा करता है अर्थात् आकाश पुष्पादिकका अभाव आकाशात्मक स्वलक्षणके रूपमे ही नजर आयगा। तो ख पुष्प सत्का अभाव तो कुछ दीखा नही सो ख पुष्प आदिकके अभावका अभाव होनेपर उन आकाशपुष्पादिकमे प्रमेयत्वका अभाव सिद्ध करना असिद्ध है। अर्थात् आकाश पुष्पादिक प्रमेय नही है यह बात सिद्ध की नहीं जा सकती। ऐसी क्षणिकवादियोके द्वारा आशका उपस्थित की गई कि आकाशपुष्पको प्रमेय मान ही लेना चाहिए। उसके उत्तरमें कहते हैं कि भाई स्वलक्षण ही तो अन्यापोह नही है। याने आकाशात्मक स्वलक्षण कही आकाशपुष्पका अभाव नही है क्योकि इस तरहके हठ करनेपर शकाकारके अपने ही सिद्धान्तका विघात हो जायगा। यहाँ स्याद्वादशासनकी झलक हो जायगी। वस्तुमे कथचित् सत्त्व व कथचित् असत्त्वकी सिद्धि हो जायगी इसका कारण भी समझिये कि स्वलक्षण ही अन्यापोह क्यो नही है। क्योकि सर्वथा विधि और प्रतिषेधमे एकत्व सम्भव नही है। विधिका प्रयोजन स्वरूप भिन्न है, प्रतिषेधका प्रयोजन स्वरूप भिन्न है। तो विधि और प्रतिषेध एक विषयरूप नही होते।

दो पदार्थोको मिलाकर भावाभावस्वभाव सिद्ध करनेमे विवेकका अभाव—शकाकार कहता है कि देखिये, पुष्परहित आकाश ही तो इस शब्द द्वारा कहा जाता है कि आकाशमे पुष्पका अभाव है। और, सीगरहित खरगोश आदिक ही इस शब्दमे कहा जाता है कि खरगोश आदिकके सीगका अभाव है। तो देखिये—अब एक विषय वाले विधि नियम बन गए कि नही। आकाश खरगोश आदिक और उसके फूलसीग आदिक। तो आकाश और खरगोशकी तो विधि हुई और उसके फूल और सीगका प्रतिषेध हुआ ये दोनो बातें एक अर्थको विषय करने वाले सम्भव हो गई ना। जब यह कहा जा रहा कि विधि और प्रतिषेधमे सर्वथा एकत्व नही सम्भव है। तो इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि देखिये आकाश खरगोश आदिकमे भावाभावस्वभावके भेदसे विधि और प्रतिषेधकी उपलब्धि होती है। अर्थात् स्वतत्र कोई एक पदार्थ ले लो, उसमें सत्त्व और असत्त्वकी सिद्धि होती है। जैसे आकाश अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत् है और पररूपकी अपेक्षासे असत् है इसी प्रकार खरगोश

वे आकाश पुष्पादिक अपना आकार अर्पण नहीं करते। क्षणिकवाद सिद्धान्तमें प्रत्यक्षके द्वारा उन वस्तुओंको प्रमीयमाण कहा जाता है जो पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानमें अपना आकार समर्पित करदे। सो यो आकाशपुष्प अपने आकारमें, ज्ञानमें समर्पित करता ही नहीं है। जो असत् है वह अपना आकार कैसे समर्पित करे। इस कारण आकाश पुष्पादिक प्रत्यक्षके विषयभूत नहीं है। अनुमान ज्ञानके द्वारा भी आकाश पुष्पादिक प्रमीयमाण नहीं होते क्योंकि स्वभाव हेतु और कार्यहेतुके साथ उनका प्रतिबंध नहीं है। क्षणिकवाद सिद्धान्तके अनुमान स्वभाव हेतुको साध्यकी सिद्धि समर्थ माना गया है तो आकाश पुष्पको प्रमेय सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है वह स्वभाव हेतु तो है नहीं, क्योंकि किसी स्वभाव हेतुके साथ यदि आकाश पुष्पोंका प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध) बना दिया जाय तो आकाश पुष्प निःस्वभाव है इस सिद्धान्तमे विरोध आ जायगा। आकाशपुष्पमें क्या स्वभाव है। क्या शक्ति है ? कुछ भी नहीं है तो है वह निःस्वभाव, मगर स्वभाव हेतुके साथ उनका अविनाभाव मान लिया जाता है तो उसमे स्वभाव बन बैठेगा। और निःस्वभाव माननेके सिद्धान्तमे विरोध आ जायगा। कार्य हेतुके साथ भी आकाश पुष्पादिकका प्रतिबंध मान लिया जाय तो फिर आकाश पुष्प अर्थक्रियाकारी नहीं है इस सिद्धान्तका व्याघात हो जायगा और जब अनर्थ क्रियाकारीपनेका विघात हो गया तो इसका अर्थ है कि आकाशपुष्प आदिक सत् हैं अर्थक्रियाकारीपनेके अभावका अभाव हो जानेके कारण। यो वस्तुभूत बन जानेसे उन आकाश पुष्पादिकका व्यवहार बन जाना चाहिए।

आकाशपुष्पको अप्रमेय न माननेपर दोषापत्तियां—एक अन्य भी यह बात देखिये कि जो दर्शनमें अपना आकार अर्पित करते नहीं और जिनका स्वभाव हेतु और कार्य हेतुके साथ प्रतिबन्ध है नहीं, इतनेपर भी यदि प्रमेय माननेका हठ ही करते हो तब तो यह हठ अन्य प्रमाणको ही सिद्ध कर देगी। क्योंकि आकाशपुष्पमे प्रमीयमाण होनेका लक्षण घटित नहीं होता। अनुमान द्वारा भी प्रमीयमाण होनेका लक्षण घटित नहीं होता। तो दोनो प्रमाणोमे प्रमेय जो रहा नहीं आकाश पुष्प, तिसपर भी उसे प्रमेय ही कहे जा रहे हो तो कोई तृतीय प्रमाण मानना होगा। पर क्षणिकवाद मे प्रत्यक्ष और अनुमानके सिवाय अन्य कोई प्रमाण माना ही नहीं है। और वास्तविकता यह है कि जब आकाश पुष्प प्रमेय नहीं है तो उसकी सिद्धि करनेके लिए क्या प्रमाणकी खोज करना ? इस कारण आकाश पुष्पादिकको प्रमेय माननेकी बात युक्तिसगत नहीं रहती, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाणोके द्वारा आकाश पुष्पका नियम नहीं बन रहा है। कोई यह कहे कि इन दो प्रमाणोंके द्वारा आकाश पुष्प नहीं ज्ञात होता है तो प्रमाणान्तरके द्वारा आकाश पुष्प प्रमीयमाण हो जायगा, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश पुष्प प्रमाणके विषयत्वका आश्रयभूत नहीं है। अर्थात् आकाश पुष्पमें प्रमेयत्व धर्म है ही नहीं अर्थात् यदि आकाश पुष्प प्रमाणके विषयत्वका अनाश्रय न बनाये रहे तो प्रमाणविषयता आ जायगी प्रमेयपना बन जायगा। तब तो

कहना कि वस्तु स्वभावके भेदके कारण संकेत होता है यह बात सिद्ध नहीं होती।

स्वभावभेदके होनेपर ही संकेतविशेष व उससे ज्ञानविशेषकी उपपत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि निरंशवादके आवेशमें आकर यह शंका की गई है उस आवेशमें रहने वालेने अभी वस्तुके स्वभावका अनुभव नहीं किया है। देखिये! सभी शब्दोंमें सभी अर्थोंके प्रतिपादन करनेकी शक्ति है। क्योंकि सभी पदार्थ सभी शब्दोंके द्वारा वाच्य हो सकते हैं ऐसी नाना शक्तियाँ पदार्थमें हैं पर व्यवहारकी प्रसिद्धि होती है और हो विधिसे याने इसमें प्रधानभाव और गौणभावको करके। जैसे यहाँ इन्द्र शब्दका व्यवहार साक्षात् इन्द्रमें तो प्रधानता से होता है। जो साक्षात् इन्द्र है उसको इन्द्र कहना यह तो प्रधानतासे होता है और स्थापना रूपसे अर्थात् जो प्रतिनिधि है इन्द्र नहीं है ऐसी जो काष्ठ मूर्ति है उसमें इन्द्र शब्दकी प्रवृत्ति गौणभावसे होती है। तो यों प्रधानभाव और गौणभावसे शब्दव्यवहारकी प्रसिद्धि हुआ करती है। तब यह परखिये कि किसी एक पदार्थमें जो इन्द्र स्वभाव नहीं रख रहा है, हाँ किन्तु इन्द्रकी स्थापना है अथवा इन्द्र बनानेके लिए लाया गया है ऐसे उस पदार्थमें इन्द्र शब्दके द्वारा वह कहा जाय तब तो व्यवहार करने वाले पुरुष अथवा उस इन्द्र प्रतिमामें इन्द्रकी तरह आराधना करने वाले पुरुष ऐसा संकेत विशेष रखते हैं कि इन्द्र शब्दकी वहाँ प्रवृत्ति होती है और इन्द्र विषयक ज्ञान भी बनता है। तो ऐसी स्थितिमें यह हो बात तो सिद्ध हुई है कि जो संकेत विशेष हुआ है, वह वस्तुके स्वभाव भेदके कारण हुआ है तब यह कहना उचित ही है कि संकेत विशेष वस्तुके स्वभावभेदके न होनेपर नहीं हो सकता है। जिस कारणसे कि वस्तु स्वभावभेदके बिना ज्ञान विशेष हो जाय।

स्वभावभेद निबन्धनक संकेतविशेषके बिना अभिधान प्रत्यय विशेष माननेपर विपर्यास विडम्बना—यदि वस्तु स्वभावभेदके कारण होने वाले संकेत विशेषके बिना ज्ञानविशेष हो जाय तब बताइये कि जैसे आकाशपुष्पके बारेमें यों ज्ञान करते हैं कि आकाशपुष्प नहीं है तो यों ही आकाशके सबधमें भी ऐसा ज्ञान क्यों न हो जाय कि आकाश नहीं है। अथवा जैसे कि आकाशके सम्बन्धमें यह ज्ञान होता है कि आकाश है ऐसे ही आकाशपुष्पके सम्बन्धमें आकाशपुष्प है, ऐसा ज्ञान क्यों न हो जायगा? अथवा आकाश और आकाशपुष्प इन दोनोंमें किसी भी एक अथवा दोनों ही ज्ञान क्यों न हो जायेंगे? याने विधिरूप और प्रतिषेधरूप दोनोंके ही बोध क्यों न हो जायेंगे? क्योंकि अब तो यह मान लिया है कि संकेतविशेष तो सर्वथा वस्तुके स्वभाव भेदकी अपेक्षा करता ही नहीं है। तो ऐसी मान्यता वालोंके यहाँ विधि निषेधकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, लेकिन प्रत्येक अर्थके प्रति विधिकी और प्रतिषेधकी तथा ज्ञानविशेषकी बात प्रतिनियत है और इसमें किसी भी प्रकारका बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता। जो बात सभी जनोंके लिए प्रत्यक्षभूत है स्पष्ट है उसे वैसा न मानकर

अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत् है पररूपकी अपेक्षासे असत् है। स्वरूपकी विधि पररूप का प्रतिषेध उसमें सम्भव है। यदि इस तरह न माना जाय तो किसीका परिज्ञान और अनुभव बन ही नहीं सकता। दो पदार्थोंमें विधि और प्रतिषेधकी बातको एक जगह जोड़नेका निराकरण किया गया है।

स्वभावभेदके अभावमे सकेतविशेषकी व विज्ञानविशेषकी अनुपपत्ति शंकाकार कहता है कि शब्द और विकल्पके भेदसे सकेत विशेषकी अपेक्षासे अर्थात् केवल विधि मात्र आकाश स्वरूपमें पुष्पका अभाव है और उसके स्वभावके अभावमें संकेत है आकाश शब्दके द्वारा यह कहा जाना योग्य है और पुष्प शब्दके द्वारा यह कहा जाना योग्य है ऐसे सकेत विशेषकी अपेक्षासे एक आकाश आदिक विषयमें विधि और नियम दोनों ही सम्भव हो जायेंगे फिर यह कैसे कहा जा रहा कि एक वस्तुमें विधि और नियम दोनोंका एकत्व नही बनता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सकेत विशेष ही वस्तुस्वभावके विशेषका कारण बनता है। उस वस्तुका स्वभाव भेदन होने पर सकेत विशेष भी न बन सकेगा। जब पदार्थके भिन्न भिन्न स्वभाव हैं तब उनके भिन्न–भिन्न सकेत बनते हैं ताकि उस उस स्वभावके द्वारा वे वे पदार्थ वाच्य रहा करें और अब स्वभाव भेद माना नहीं, विधि और नियममें स्वभावभेद है, ऐसा स्वीकार न किया जानेपर फिर कोई सकेत विशेष नही बन सकता और जब कोई वाचक शब्द न बन सका तो उस स्वभाव द्वारा ज्ञान विशेष भी न बन सकेगा। जैसे कि आकाश और पुष्पमेंसे एकमें विधि नियम नहीं है। जो भी बात प्रत्यक्षमें विदित हो रही है, जिसे कि सभी लोग स्पष्ट समझ रहे हैं प्रत्येक पदार्थमें स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे विधि प्रतिषेध है लेकिन दो पदार्थोंको मिलाकर एककी विधि और एकका प्रतिषेध करके प्रतिषेध्यका वहाँ सत्व सिद्ध करना यह स्याद्वाद शासनसे बहिर्गत बात है।

स्वभावभेदके अभावमे सकेत विशेष व अभिधान प्रत्ययविशेषकी उपपत्तिका शंकाकार द्वारा कथन—शंकाकार कहता है कि अनिन्द्र स्वभाव होने पर भी याने जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए जो काठ लाया गया है उस काठमें इन्द्रका स्वभाव नही पड़ा है फिर भी अनिन्द्र स्वभाव होनेपर भी उस पदार्थमे अथवा प्रतिमासे व्यवहार करने वालेके सकेतके वशसे वहाँ इन्द्रका शब्द भी बोला जा रहा है और इन्द्रका ज्ञान विशेष भी देखा जा रहा है। तब यह बात कहना कि सकेत विशेष वस्तु स्वभावके भेदके कारणसे होता है यह बात सिद्ध नही होती है। देखो! वहाँ स्वभावभेद भी नही है फिर भी सकेत विशेष बन गया। तो वस्तुस्वभावके भेदके अभावमें भी सकेत विशेषकी अनुपपत्ति नहीं होती है अर्थात् सकेत विशेष बन जाता है और सकेत विशेषकी उपपत्तिकी तरह शब्द द्वारा ज्ञानविशेष भी हो जाता यों कि आकाश है और आकाशपुष्प नहीं है। यह जो कुछ शब्द और ज्ञान विशेष हो रहा है वह अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न हुए विकल्पोंके द्वारा निर्मित हो रहा है। तब यह

सम्बन्धी वहाँ क्रमसे अर्थक्रिया बना देंगे। जैसे कि निरंशवादियोने इस प्रसगमें यह मान लिया है कि भाव स्वभावमे भेद नही है फिर भी सकेत विशेष बन जाता है और अन्यापोह स्वलक्षणरूप बन जाता है। इन निरंशवादियोंको ऐसा कहा जा सकता है कि क्रमवर्ती सहकारी कारण उस उस कार्यके रचने वाले होते हैं इस कारण आत्म वस्तुके नित्य स्वभावको वे नही दूर कर पाते हैं। अर्थात् आत्मा नित्य रहा आयगा, भेद स्वभाव रहा आयगा और फिर भी वहाँ अर्थक्रिया बन जायगी। तो ऐसा कहा जा सकेगा कि क्रमवर्ती सहकारो कारण उन उन कार्योंके रचने स्वरूप हैं सो वे आत्मा आदिक वस्तुओके नित्य स्वभावको नही भेद सकते हैं। जैसे कि क्षणिक सामग्र मे पडा हुआ एक प्रधान पदार्थ। जैसे माना है कि धान्य बोया गया तो उस समयमे धान्यको अकुरित करनेके लिए अनेक सामग्रियाँ चाहिएँ सो गर्मी, जल, पृथ्वी, खाद आदिक अनेक सामाग्रयोके बीच पडे हुए उस बीजमे तो बीजकी हो बात रही। उसके स्वभावका भेद न हो सका। इसी तरह अनेक सामग्रियोके अन्दर अनित्य सम्बन्धियोके बीच रहते हुए आत्मामे अर्थक्रिया बनाई गई और स्वभावभेद न रहा। यो निरंशवादियोके प्रति कहा जा सकता है। तब यह उस समय उन-उन कार्योंके करनेमें समर्थ एक अविचल स्वभावको धारण करते हुए स्वभावके अभेदक और नाना क्रियाओके कारणभूत कादाचित्क सहकारी कारणोकी प्रतीक्षा करता है।

कार्यरचनात्मक कारणसामग्रीके बीच मूलकारणमे स्वभावाभेदकी धारणासे शंकाकारका परके प्रति उपालम्भ देनेका अनवकाश —उक्त प्रयोगमें जो उदाहरण दिया गया वह विषम उदाहरण नही है। दिखतो ही है यह अथवा क्षणिकवादियोने माना है ऐसा कि पृथ्वी, जल, बीज, गर्मी आदिकमें जो बीजको अकुरित करनेमे अतिम क्षण प्राप्त हुआ है उस समस्त सामग्रीमें पडा हुआ जो कोई एक बीज है वह कारण है और शेष कारणोमे अकुर आदिक कार्योंके रचने वाले पडे हुए हैं, लेकिन उनसे उस बीजने स्वभावका भेद न डाल सकेंगे वे, ऐसा क्षणिकवादियो ने माना है। तब ऐसे हो सर्वथा नित्य वादी भी कह सकता है कि अनेक सामग्रियोमे पडा हुआ एक आत्मा उसमे अर्थक्रिया क्रमसे हो रही है फिर भी स्वभावमे भेद नही है। तो यो अनेक आपत्तियाँ आयेंगी। अत. इस प्रसगको न चाहने वाले शंकाकारको यह मान लेना चाहिए कि वस्तुमें स्वभावभेद है और उन स्वभाव भेदोके कारण हो शब्दोका व्यवहार और तद्विषयक ज्ञान विशेष होते रहते हैं। तो जिस कारण अन्य सम्बन्धी वस्तु स्वभावके भेदक हैं यह सिद्ध हो गया अर्थात् जिन पदार्थोंसे व्यावृत्ति बताई जा रही है उन उन पदार्थोंसे जितनी व्यावृत्तियाँ हैं उतने ही स्वभावभेद विवक्षित पदार्थमें हैं यो अन्य सम्बन्धी पदार्थ वस्तुस्वभावके भेदक सिद्ध हो गए, तब परमार्थत. यह बात मान ही लेनी चाहिए कि विधि और प्रतिषेधसे अन्वित पदार्थ इस अविनाभावका उल्लघन नही करता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपके कारण विधिप्रतिषेधात्मक है, नानारूप है और इस कारण शंकाकारका यह सिद्धान्त बनाना

कल्पना करके किसी ऐसे ही अन्यरूप माननेका प्रयास करना कि लोगोंको कुछ विचित्र लगे और कठिनाईके अनुभवके द्वारा उसका विशिष्ट अथवा खास रहस्यकी बात विदित करनी पडे ऐसी दिलबहलाऊ कल्पनासे वस्तु स्वभाव नहीं बदल जाता।

अन्यापोहसे विवक्षित वस्तुमें स्वभावभेदकी सिद्धि—उक्त विवरणसे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि देखिये ! जितने भी पररूप हैं प्रत्येक पदार्थमें उतनी ही उन पररूपसे व्यावृत्ति है और यों इतने ही पररूपके व्यावृत्ति होनेका स्वभावभेद प्रतिक्षण अर्थात् प्रति पदार्थमें जानना चाहिए। जैसे प्रकृतकी ही बात लीजिए कहा जा रहा है शंकाकार द्वारा कि आकाश ही आकाश पुष्पका अपोह है। याने आकाशपुष्पको अमेय सिद्ध करनेके आग्रहमें यह कह डाला कि आकाशस्वात्मक जो स्वलक्षण है, केवल आकाश आकाश है वही तो आकाशपुष्पका अभाव है। यों यह अन्यापोह स्वलक्षणरूप बन गया, लेकिन आकाशपुष्पका ही अभाव आकाश न कहलायगा, किन्तु आकाशको छोडकर जितने परपदार्थ हैं उन सबका अभावरूप आकाश कहलायेगा। तो कितने स्वभावभेद आकाशमें आ गए और स्वभावभेदके फलसे ही सकेत विशेष बताये जा रहे हैं। तो शंकाकार यों भी यह व्यवस्था नहीं बना सकता कि स्वलक्षण ही अन्यापोह है और यों भी व्यवस्था नहीं बना सकता कि अन्यापोह अन्य सम्बन्धोंकी अपेक्षा रख रहा है। अर्थात् यहाँ माना है आकाशको स्वलक्षण और उसको ही सिद्ध किया है अन्यापोह अर्थात् आकाश पुष्पका अभाव। तो आकाश पुष्पका अभाव तो आकाशपुष्पका अभाव रूप जो वह स्वलक्षण है तो वह बना कैसे कि पुष्परूप जो अन्य सम्बन्धी है उसकी अपेक्षा रखकर, परन्तु सम्बन्धान्तर स्वलक्षणके स्वरूपभूत नहीं हो जाया करते अर्थात् पुष्पका अपोह आकाश स्वरूप नहीं बन सकता है। क्योंकि वे अन्य सम्बन्धी, पुष्प आदिक पररूप हैं। यदि पररूप भी स्वरूपभूत बन जाय तो फिर उन परोंके व्यावृत्ति ही सिद्ध न होगी। तो बात यह माननी चाहिए कि पररूप तो किसी एक वस्तुके स्वभावका भेद सिद्ध करते हैं। जैसे कि एक घट है तो यह घट पटरूप नहीं है, भींट रूप नहीं है। तो अब उन पररूपोंकी जो व्यावृत्ति है घटमें उससे तो घटके कितने स्वभावभेद विदित हो रहे हैं कि घट इससे भी निराला है उससे भी निराला है, लेकिन यहाँ माना जा रहा है उस स्वलक्षणको अन्यापोहरूप अर्थात् वस्तुका पररूप कर दिया।

सम्बन्ध्यन्तरको स्वभावभेदक न माननेपर शंकाकारकी नित्यत्ववादियोंको उत्तर देनेकी अक्षमता—पररूप होनेपर भी अन्य सम्बन्धी विवक्षित पदार्थमें स्वभावके भेदक न मान जायें तब यह क्षणिकवादी नित्यत्ववादियोंको क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकता ऐसा कैसे कह सकेंगे ? नित्यत्व होनेपर भी किसी आत्मामें अन्य अनित्य सम्बन्धियोंके होनेपर क्रमसे अर्थ क्रिया होनेका निषेध न किया जा सकेगा अर्थात् वस्तु नित्य रहा आये उसके स्वभावमें भेद नहीं रहता है और फिर भी अन्य

कल्पना अपनेमे और दूसरेमें अविद्यमान आकारको दिखा रही है ऐसा कहा जा सकता है। निरंशवादियोका यह सिद्धान्त है कि वस्तुमे स्वभाव भेद नही पडा है किन्तु कल्पनाने स्वभावभेद जाना जाता है। तो कल्पना अपनेमे उस स्वभावभेद जाना जाता है। ना कल्पना अपनेमें उस स्वभावभेदके आकारको प्रकट कर लेता है और उस पर पदार्थमे जो विषयभूत हुए हैं उसमें भी नाना आकारोको कल्पित कर लेता है। यह बात तभी तो कही जा सकती है कि जब उस निरंश पदार्थमें नाना रूपकी उपलब्धि रही हो। अथवा निरंश रूपको उपलब्धिमें अभेदमें नाना रूपकी उपलब्धि होनेका नाम सम्वृत्ति है। यदि ऐसा कहा जाता है तो इसमे अतिप्रसग आयेंगे। एकका भी ज्ञान हो, नानाका भी ज्ञान हो तभी यह कहा जा सकता है कि इस एक पदार्थमें नानाका परिज्ञान हो रहा है। अन्यथा तो कहीं भी कुछ भी कहा जा सकता है। तो यह मानना होगा कि प्रत्येक पदार्थ एक–एक होकर भी नाना स्वभावरूप है। और उसका सत्व तभी व्यवस्थित है कि जब उसमे पररूपका अभाव है अर्थात् अन्यापोह याने प्रतिषेध और स्वलक्षण अर्थात् विधिवाद ये दोनो एक वस्तुमें घटाये जाना चाहिए। प्रथक–प्रथक दो वस्तुओका विधि निषेध मिलाकर एकका भाव अभाव नहीं बताया जा सकता। वही पदार्थ अपने स्वरूपसे है और परस्वरूपसे नही है, इस ही कथनमे स्वभावभेद सिद्ध हो जाता है।

अनादिवासनासे अभिधान प्रत्ययविशेषकी उपलब्धिका शंकाकार द्वारा कथन—शंकाकार कहता है कि अनादि अविद्याके उदयसे समस्त जनोको असहायरूपकी अनुपलब्धि हो रही है। असहाय रूपका अर्थ है निरंशरूप। जिसमे कुछ भी व्यवहारके योग्य समुदाय नही पडा हुआ है, किन्तु केवल एक अंशरूप ऐसे उस निरंश रूपकी जो उपलब्धि नही हो रही है सो अनादि अविद्याके उदयके कारण नही हो रही है। जैसे कि जो जन्मका अधा पुरुष है उस अधे पुरुषको एक चन्द्रमाकी जो उपलब्धि नही हो रही है वह जन्मसे अधा है इस कारण नही हो रही। तो यो ही ये समस्त प्राणी जो एक उस क्षणिक निरंश स्वरूपकी प्राप्ति नही कर पा रहे हैं सो अनादि कालीन वासनाके प्रभाववश नही कर पा रहे हैं। तो जिसकी उपलब्धि नही हो रही उसमे कल्पनासे यह कहना कि यह नाना रूपोमें उपलब्धि होरही है यह कथन परमार्थ नही हो सकता।

युक्तिरहित वृत्तको अनादिवासनाहेतुक माननेका अनिष्ट परिणाम—उक्त शंकाके समाधानमे कहते हैं कि यदि असहायरूपकी अनुपलब्धि अनादि अविद्याके उदयसे मानी जा रही है अर्थात् जो कुछ दिख रहा है उसकी उपलब्धि भी अनादि अविद्याके उदयसे मानी जा रही है तो इस तरह जिस किसी भी उपलब्धि अनुपलब्धि के लिए अनादि अविद्याका कारण बतानेपर कुछने भी कुछ कहा जा सकेगा, जो शंका-कारको अभीष्ट नही है, ऐसा भी सिद्धान्त कहा जा सकेगा। जैसे सत्व, रज, तम इव

भी उपयुक्त नहीं ठहरता कि पदार्थमें जितने भेद व्यवहार हैं वे सब कल्पनासे हैं जिनको कि इन शब्दोंमें कहा करते हैं। शङ्काकारके कल्पनाभेदको ढककर अर्थात् स्वलक्षण निरंश स्वरूपका आवरण करके व्यवहारके लिए स्थित रहता है ऐसा सिद्धान्त युक्त नहीं है क्योंकि विधि और प्रतिषेधके सम्बन्धसे रहित अर्थात् जहाँ सत्त्व और असत्त्व का सम्बन्ध न माना हो ऐसे स्वलक्षणरूप भेदका प्रत्यक्षसे ज्ञान नहीं हो रहा है। सभी लोग जो कुछ भी प्रत्यक्षसे निरख रहे हैं वह सब यों ही निरखा जा रहा है कि जैसे घट घट है, अघट नहीं है, तो विधि प्रतिषेध दोनोंका सम्बन्ध बना हुआ है प्रत्येक पदार्थमें। तब वहाँ विधि प्रतिषेध रहित पदार्थ नहीं पाया जा रहा है। तो मान ही लेना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ अन्वयव्यतिरेकात्मक है। अन्वयव्यतिरेकात्मकतासे रहित केवल भेद स्वलक्षण अनुमानसे भी नहीं जाना जाता है।

विधिप्रतिषेधात्मक वस्तु माने बिना व्यवहारकी अशक्यता यदि विधिका और प्रतिषेधका निराकरण कर दिया जाय, न माना जाय विधि और प्रतिषेधको तो कोई व्यवहार ही नहीं बन सकता। जो कुछ भी लोक व्यवहार चल रहा है वह सब इसी मूलपर तो चल रहा है। किसीने कहा घट लावो तो सुनने वाला शंका नहीं करता है कि यह घट है या नहीं है। तुरन्त घटको ही ले आता है। उसको यह दृढ़तासे परिज्ञान है कि यह घट है। घटके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ नहीं है। उन पर निवृत्तियोंमें भी उसे ऐसा संदेह नहीं है कि यह कहीं पट नहीं है, या यह चौकी आदिक कोई अन्य वस्तु तो नहीं है। समस्त पर पदार्थोंसे निवृत्तिका और स्वयं उस पदार्थमें विधिका पूरा परिचय है व्यवहारी जनोंको तभी तो उस प्रकारका व्यवहार बन रहा है। किन्तु शंकाकार दार्शनिकके मन्तव्यके अनुसार विधि और प्रतिषेधका लोप कर दिया जाय तब तो वहाँ व्यवहार नहीं बन सकता। कल्पनासे भेदका आवरण करके स्थितिका विरोध बन जायगा। तब जैसी प्रतीति हो रही है वैसा ही मान लेना चाहिए। परमार्थसे अनेक स्वभावरूप भावकी प्रतीति हो रही है। अर्थात् विधि प्रतिषेधात्मक पदार्थ है, सत्त्वासत्त्वात्मक पदार्थ है, नित्यानित्यात्मक पदार्थ है। यों अनेक स्वभावरूप वस्तुमें प्रतीति हो रही है। इस कारणसे अनेक स्वभावके अभाव होनेपर भेद भी सम्भव नहीं हो सकता। क्षणिकता, निरंशता, स्वलक्षणता ये सब भी सम्भव नहीं हो सकते। तब स्वयंके स्वरूपमें और परमें न पाये जाने वाले विधि प्रतिषेधरूप आकारका जब यह स्पष्ट परिचय बता रहा है तब यह निरंशवादी दार्शनिक वस्तुस्वरूपमें मुग्ध ही तो हो रहा है, अपने आग्रहमें आसक्त ही रहा है।

एकानेकाकार पदार्थकी प्रतीति—सभी पदार्थोंमें असहाय निरंशरूपसे उपलब्धि नहीं होती। जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं इन्हें ही उदाहरणमें ले लीजिए। कोई असहाय, निरंश, निरपेक्ष कोई तत्त्व दिख रहा है क्या ? कदाचित निरंशरूपमें उपलब्धि हो तो उस स्थितिमें भी नाना रूपोंकी उपलब्धि है तब तो

गुणोंका जो एक महान रूप है वह दृष्टिमें नहीं आता और जो दृष्टिमे आता है बुद्धि आदिक वह मायाकी तरह ही निःस्वभाव है, मिथ्या है। यो कथन भी मान लिया जाय अथवा सब कुछ यह पुरुष तत्त्व ही है, ब्रह्म ही है, ये नाना कुछ भी नही हैं। लोग उसके प्रपचको तो निरखते हैं पर कोई भी पुरुष उन पुरुष ब्रह्म तत्त्वको नहीं निरख पाता है इत्यादि जो कुछ बताया गया उपलब्धि और अनुपलब्धि उसमे कारण कह दिया जायगा कि अनादि अविद्याका उदय होनेसे। जहाँ युक्तिको, अनुभूतिको प्रश्रय न दिया जाय, जो सिद्धान्त मान रखा है या जो परम्परासे मानता आया है उस ही का आग्रह किया जाय। उसके विरुद्ध कुछ भी माननेके लिए तैयारी न हो उमे अनादि अविद्याका उदय बतायें तो यो कुछ भी कहा जा सकता है फिर सभीके तत्त्व प्रमाण कर लेना चाहिए। तब यह सम्वृत्ति सामान्य और समानाधिकरण तथा विशेषण विशेष्य भाव आदिक व्यवहारके विभिन्न आकारोको धारण कर रही है और स्वय सम्वृतिमें अनेकरूपका निराकरण किया जा रहा है तो ऐसा सिद्धान्त मानने वाले को यह सम्वृत्ति स्वय व्यवस्थित कर देता है।

संवृत्तिकी एकानेकाकारतासे साधर्म्य वैधर्म्यके अविनाभावका समर्थन देखिये—अनेकरूपताके बिना सामान्य आदिक व्यवहारोसे प्रतिभास और कल्पना उत्पन्न नहीं हो सकती। तो मानना होगा कि सम्वृत्ति अनेकरूप है और वह अनेक रूप सम्वृत्ति क्या है? विकल्प, ज्ञान ही तो है और सत्यका अन्वेषण है, केवल मिथ्या ही बात वहाँ कही जाती हो सो बात नही है। सम्वृत्तिकी तरह अन्य भावान्तरकी अनेकात्मकता सिद्ध होनेपर वास्तविक जो साधर्म्य वैधर्म्य आदिककी स्थिति है सो अविशेषरूपसे विकल्प बुद्धिके मिथ्यापनको बताने वाले दार्शनिकोको यह स्थिति निराकृत कर देती है। देखो सम्वृत्तिके स्वरूपमें अनेकात्मकपना है ऐसे ही हेतुवादमे साधर्म्य और वैधर्म्यकी स्थिति होनेमे अनेकान्तात्मकपना है। तो सम्वृत्तिमें तो मान लिया जायगा कि अनेकान्तात्मकता है और अन्य पदार्थोंमे हेतु आदिकमे अनेकात्मकता न माने यह कैसे हो सकता? प्रकृतमे बात यह सिद्ध की जा रही है कि वस्तुका स्वरूप अस्तित्व मात्र ही नही है किन्तु अस्तित्व प्रतिषेध नास्तित्वके साथ अविनाभावी है। स्वरूपसे अस्तित्व है। पररूपसे नास्तित्व है और उसके उदाहरणमें बताया गया है कि जैसे हेतुमे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभाव है, जहाँ सपक्ष होता है उस हेतुका विपक्ष भी हुआ करता है और फिर साधर्म्य शब्द ही कहाँसे आया? वह वैधर्म्यका प्रतिपक्ष है ना, और वैधर्म्य साधर्म्यका प्रतिपक्ष है तो इन शब्दोकी स्थिति भी प्रतिपक्ष से सम्बन्ध रखती है।

अस्तित्वकी नास्तित्वसे अविनाभाविताका विरोध करने वाले आशयका अनिर्वाह—इस प्रसगमें वर्णन करते करते अब यह प्रसग आया कि सर्व पदार्थ नित्य हैं, अथवा अनित्य हैं उसको सिद्धि करनेमें जो हेतु दिया जायगा उसमें साधर्म्य

उस हेतुको गौहृष्य न कहा जा सकेगा और वह निर्दोष न माना जायगा इसी प्रकार जब पक्षमें सर्वपदार्थ आ गए तो विपक्ष भी कैसे बताया जायगा? तो यो सर्वको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए जो सत्त्वादिक हेतु बताये जाते हैं वे सब अहेतु बन जायेंगे, क्योंकि नका सपक्ष और विपक्ष न मिलेगा। और जब ऐसा मान लेंगे कि साधर्म्य और वैधर्म्य का मिलना दृष्टान्त धर्ममे ही आवश्यक नहीं है। किन्तु पक्षके एक देशमे भी मिला हो तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति तो यह बात प्रकृतमे भी युक्तिसगत बन जायगी।

वस्तुमे अस्तित्व धर्म व नास्तित्वधर्म दोनोकी निर्दोष उदाहरणपूर्वक सिद्धि—इस कारिकामे यह बताया गया है कि एक पदार्थमे अस्तित्व धर्म नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभावी होता है क्योंकि वह अस्तित्व विशेषण है। जो जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी होता है। जैसे लौकिक दृष्टान्त है जब कहा कि नील कमल तो कमलका विशेषण बनाया नील तो यह नील धर्म अनील निषेधको अविनाभावी है अनीलकी व्यावृत्तिको रखता हुआ है अर्थात् कमल नीला है। न कि पीला आदिक। अथवा नील अनीलका अविनाभावी है अनील न हो तो नील क्या तो अस्तित्व भी यहा एक वस्तुका विशेषण है। तो वह नास्तित्वके साथ अविनाभावी है। यदि उसमें पररूपकी अपेक्षा नास्तित्व न हो तो स्वरूपका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया है साधर्म्य जैसे वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है तो इस अनुमान प्रयोगमे जो उदाहरण दिया गया है वह समस्त हेतुवोमे निर्दोष प्रकारसे सिद्ध है। इस ठीक विरोधमे शकाकारने जो आपत्ति उठाई थी कि जब सभी पदार्थ नित्य हैं प्रमेय होनेसे, यह अनुमान बनाया तो वहाँ विपक्ष तो कोई मिलता ही नहीं है और सपक्ष भी कोई मिलता नहीं है। उसका ऊहापोहपूर्वक समाधान दिया गया और उससे सिद्ध किया गया कि प्रत्येक तुमे साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी होता है। तो जब यह उदाहरण निर्दोषरूपसे प्रसिद्ध कर दिया गया तो उस कारण यह सिद्ध हुआ कि किसी भी धर्मीमे विशेषण प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी होता है जैसे कि साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है, जैसे उदाहरण लीजिये— शब्द अनित्य है कृतक होनेसे। जो जो अनित्य होते हैं वे वे अनित्य होते है जैसे घट आदिक। तो यहा घट आदिक सपक्षमे हेतु और साध्य दोनो सिद्ध होते हैं। जो अनित्य नहीं होता है वह कृतक भी नहीं होता है जैसे आकाश, नित्य पदार्थ। तो यहाँ साधर्म्यभेद विवक्षाके साथ अविनाभावी है। तो यहाँ अस्तित्व है विशेषण अतएव यह विशेषण प्रतिषेध्य धमके साथ अविनाभावी सिद्ध होता है। 'अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभावि विशेषणत्वात्' यह अनुमान निर्दोष सिद्ध है। इसमे जो हेतु दिया है उसमे न असिद्धताका, न विरोधताका, कोई दोष नही आया और जो उदाहरण दिया है उस उदाहरणमे साध्य अथवा साधन किसीको भी विकलता नहीं है। उदाहरणमे साध्य साधन धर्म पाये जा रहे हैं। और, जो पक्ष बताया है वह भी

धारण करने वाला अर्थात् जो विधि और प्रतिषेधका विषय करता है ऐसे नाना स्वभावोंको धारण करने वाला पदार्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे जाना जाता है और वह प्रमेय सिद्ध होता है। जो पदार्थ विधि प्रतिषेधात्मक है, स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् है यह प्रमाणके द्वारा जाना जाता है। और प्रमेय होता है। परन्तु आकाशपुष्पादिक अप्रमेय है। यों उस अनुमान प्रयोगमें जैसे कि कहा था कि सर्व पदार्थ नित्य हैं प्रमेय होनेसे तो प्रमेयत्व हेतुका व्यतिरेक नहीं मिलता सो बात नहीं है। वह प्रमेयत्व है हेतुका व्यतिरेक अप्रमेय है, आकाश पुष्पादिक है।

अन्तर्व्याप्तिलक्षणक तथोपपत्तिरूप अन्वयके सद्भावसे साधर्म्यका परिचय— शंकाकार कहता है कि अब सभी पदार्थोंको परिणामी साध्य बनाया है कि सभी पदार्थ परिणामी हैं। अनित्य हैं अथवा नित्य बनाया कुछ भी साध्य बनाओ, पर सभी पदार्थोंके लिए बनाया तो सबके कहनेसे फिर कोई शेष तो न बचा। तो सपक्ष भी कहाँ मिलेगा? सपक्ष तो उसे कहते हैं कि जो पक्षमें तो न हो किन्तु हेतु और साध्य पाये जायें ऐसे अन्य उदाहरण हो। सो अब सब वस्तुको पक्षमें ले लिया तो सपक्ष भी न बना और सपक्षपे अन्वय सम्भव न हो सका। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि देखिये—अन्तर्व्याप्ति जिसका लक्षण है ऐसा तथोपपत्तिरूप अन्वय यहाँ बराबर है। अन्वयकी मुद्रा है, तथोपपत्ति और व्यतिरेककी मुद्रा है अन्यथानुपपत्ति। हेतुके होनेपर साध्यका होना तथोपपत्ति कहलाता है और साध्यके अभावमें साधनका न होना अन्यथानुपपत्ति कहलाता है। तो तथोपपत्तिरूप अन्वय दृष्टान्तमें दिये गये सर्वात्मक पदार्थोंमें सिद्ध होता है। साधर्म्य और वैधर्म्य बतानेके लिए यह नियम युक्त नहीं है कि दृष्टान्त विशिष्ट धर्मीमें ही हेतुका साधर्म्य और वैधर्म्य बताया जाय। यहाँ सबको पक्षमें लिया है तो उन ही सभीमें दिखा दिया जायगा कि यहाँ तथोपपत्ति है। तो तथोपपत्ति मिलना चाहिए, चाहे वह पक्षके एक देशका हो उदाहरण मिल जाय या पक्षसे बाहरके कोई उदाहरण मिल जायें। जहाँ तथोपपत्ति सिद्ध होगा वहाँ साधर्म्य माना जायगा। जैसे कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होगी वहाँ वैधर्म्य माना जायगा।

तथोपपत्तिसे साधर्म्य न मानकर पक्षबहिर्गत दृष्टान्तका ही आग्रह करनेपर शंकाकारके सिद्धान्तकी भी अनुमान प्रमाणसे सिद्धिकी अशक्यता— यदि इस तरहका आयोजन न माना जाय अर्थात् तथोपपत्तिसे साधर्म्यकी सिद्धि और अन्यथानुपपत्तिसे वैधर्म्यकी सिद्धि यो स्वीकार न किया जाय तो—यह शंकाकार ही बताये कि सब पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दोगे उसका भी सपक्ष विपक्ष मिलेगा क्या? जैसे हेतु प्रयोग किया कि सर्व क्षणिक हैं सत्त्व होनेसे, तो यहाँ भी पक्षमें अब सर्व पदार्थ मिल गए तो अब सपक्ष क्या मिलेगा? सभी वस्तु पक्षमें आ गए हैं तो यहाँ भी सपक्ष मिल न सकेगा। तो जिस हेतुमें सपक्षसत्त्व न मिला,

गया है पर बिल्कुल निर्दोष है। यहाँ पक्ष किया है नास्तित्वका। नास्तित्वमें ही तो प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावत्व सिद्ध किया जा रहा तो नास्तित्वमें विशेषणत्व पाया जाता है। किसी वादको कहना जैसे कि यहाँ पररूपसे नास्तित्व है तो यह भी तो विशेषण ही कहा गया है। तो नास्तित्व विशेषण है अस्तित्वकी तरह। जैसे जब अस्तित्वका पक्ष बनाया गया था तो वहाँ वह विशेषण रहता था अस्तित्व ऐसे ही इस मतमें नास्तित्वको पक्ष बनाया है तो यह भी विशेषण कहलाया। और जो विपक्ष है जैसे आकाशपुष्प, उसमें जब नास्तित्वके प्रतिषेध्यके साथ अविनाभाव नहीं है तो वहाँ विशेषणत्व हेतु नहीं पाया जाता ?

अवस्तुमें अस्तित्वधर्मके अभावकी तरह नास्तित्वधर्मका भी अभाव— शंकाकारने यहाँ यह शंका की थी कि आकाशपुष्पमें नास्तित्व तो है, पर किसी भी प्रकार अस्तित्व नहीं बनता तब नास्तित्व अस्तित्वके साथ अविनाभावी है यह सिद्धान्त कैसे बनेगा ? इसके उत्तरमें कहा जाता कि ख पुष्पमें नास्तित्व धर्म भी नहीं है, अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों धर्म वस्तुमें बताये जाते हैं। ख पुष्प अवस्तु है तो आकाशपुष्पमें नास्तित्व नहीं है यह कैसे जाना ? यों जाना कि अस्तित्वके साथ अविनाभावी हो ऐसा नास्तित्व नहीं है। अवस्तु है इस प्रकारसे उसका असत्व तो है पर प्रतिषेध्य अस्तित्वके साथ अविनाभाव रखता हो ऐसा नास्तित्व नहीं है और इसी कारण आकाश पुष्पमें नास्तित्व विशेषण नहीं बनता। यों न तो इस हेतुमें असिद्ध दोष होता न विरोध और न अनैकांतिक दोष आता है। और, दृष्टान्त जो दिया गया है कि वैधर्म्य साधर्म्यके साथ अविनाभावी है। अन्वय न सिद्ध हो तो व्यतिरेक न सिद्ध होगा। तो यह जो दृष्टान्त दिया गया इसमें कोई दोष नहीं आ रहा। दृष्टान्तमें न तो साध्य विकलता है, न साधन विकलता है और न दोनोंकी विकलता है। दृष्टान्तमें साध्य साधन दोनों पाये जाते हैं। तो जैसे हेतुमें अन्वय व्यतिरेकके साथ अविनाभावी है एस ही व्यतिरेक अन्वयके साथ अविनाभावी सिद्ध होता है।

भेदविवक्षाकी व अभेदविवक्षाकी परमार्थसद्भूत वस्तुनिबन्धनता— जितनी भी भेद विवक्षायें हैं वे परमार्थ सद्भूत वस्तुके कारण हैं। यदि वस्तु नहीं है तो अवस्तुमें तो भेद विवक्षा नहीं बनती। इसी प्रकार अवस्तुमें अभेद विवक्षा भी नहीं बनती। अर्थात् अस्तित्व और नास्तित्वकी सिद्धि वस्तुमें की जाती है अवस्तुमें नहीं की जाती। यदि भेद विवक्षा और अभेद विवक्षा अवस्तुके कारण बन जाय, नहीं है वस्तु फिर भी अन्वय व्यतिरेक उसमें घटित किया जाय तब फिर यह प्रयोग विपरीत भी क्यों न हो सकेगा। जैसे शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमें कृतकत्व हेतु दिया जा रहा है तो वहाँ व्यतिरेककी जगह अन्वयका प्रयोग क्यों नहीं बना लिया जाता ? जैसे जो जो कृतक हैं वे सब अनित्य हैं जैसे आकाश। और जो अनित्य नहीं है वह कृतक नहीं है जैसे घट आदिक। तो यों उल्टा कथन क्यों नहीं कर दिया जाता ? हो

प्रत्यक्ष बाधित आदिक दोषोंसे युक्त नही है । अतः यह बात निर्दोषतया प्रसिद्ध होती है कि वस्तुका स्वरूप जैसे अस्तित्व है उसी प्रकार नास्तित्व भी है अपेक्षा जुदी है । स्वरूपसे अस्तित्व है और पररूपसे नास्तित्व है ।

एक वस्तुमे नास्तित्वकी अस्तित्वके साथ अविनाभाविताने शङ्का और उसके समाधानका उपक्रम—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि भले ही जीवादिकमे अस्तित्व नास्तित्वके साथ अविनाभावी है यह सिद्ध हो जाय क्योंकि जीव है, प्रमेय है, पर नास्तित्व किसी भी प्रकार अस्तित्वके साथ अविनाभावी नही बन सकता । जैसे आकाशपुष्प, उसमे नास्तित्व है आकाशपुष्प है नही । तो उसमें अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जायगा? आकाशपुष्प तो किसी भी प्रकार सत् नहीं है । तो यहाँ नास्तित्व अस्तित्वके साथ अविनाभावी तो न बन सका अतएव यह पक्ष तो युक्त हो जायगा कि अस्तित्व एकधर्मीमें नास्तित्वके साथ अविनाभावी होता है किन्तु यह पक्ष सिद्ध न होगा कि नास्तित्व अस्तित्वके साथ अविनाभावी है, ऐसी शङ्का रखने वाले दार्शनिकोके प्रति स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं :—

नास्तित्वं प्रतिषेध्येना विना भाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥ १८ ॥

नास्तित्वकी नास्तित्वके प्रतिषेधरूप अस्तित्वके साथ अविनाभाविता
एकधर्मीमे नास्तित्व प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे जैसे कि वैधर्म्य साधर्म्यके साथ अविनाभावी है । यहाँ सिद्ध किया जा रहा है नास्तित्वका प्रतिषेध्यके साथ अविनाभाव । तो नास्तित्वका प्रतिषेध्य हुआ अस्तित्व, जो विवक्षित धर्मका रूप हो वह अविवक्षित धर्मका प्रतिषेध कहलाता है । तो जैसे पूर्वकारिकामें बताया गया था कि अस्तित्व अपने प्रतिषेध्य नास्तित्वके साथ अविनाभावी है अर्थात् जैसे नास्तित्व न हो अस्तित्व नही ठहरता इसी प्रकार अस्तित्व न हो तो नास्तित्व भी नहीं ठहरता । एक अनुमान प्रयोग है कि शब्द अनित्य है कृतक होनेसे, तो यहाँ कृतकत्व हेतु द्वारा शब्दको अनित्यता सिद्ध की जा रही है । व्याप्ति बनती है कि जो जो कृतक होता है वह अनित्य होता है जैसे घट । घट कृतक भी है, अनित्य भी है । और, जो अनित्य नही होता वह कृतक नही होता । जैसे आकाश—वह अनित्य भी नही, कृतक भी नहीं । तो यहाँ यह बताया गया है कि यहाँ जो सिद्ध किया जा रहा है उसके लिये जो हेतु दिया है उसका वैधर्म्य साधर्म्यके साथ अविनाभावी है । ऐसा जो हेतुका विशेषण पना कहा है वह उदाहरणसे बिल्कुल प्रसिद्ध है । एक धर्मीमें या किसी भी एक वस्तुमें स्वरूपसे अस्तित्व और पररूपसे नास्तित्व है तो जैसे स्वरूपसे अस्तित्व, पररूपसे नास्तित्व स्वरूपसे अस्तित्वके साथ अविनाभावी है । तो यो नास्तित्व अस्तित्वको साथ लेकर ही बन पाता है । इस कारण जो यहाँ विशेषणत्व साधन बताया

विशेषण होनेसे । तो यहाँ विशेषणत्वमे अन्यथानुपपत्ति है इस तरह इस अन्यथानुपपत्तिका निर्दोष प्रकारसे सिद्धि होती है । अन्यथानुपपत्तिका अर्थ है कि यदि साध्य न हो तो साधन नही हो सकता । सो ही बात यहाँ बतायी गयी है कि यदि स्वरूप अस्तित्व न हो तो उसमे पररूप नास्तित्वको सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि जहाँ विपक्षमे बाधक प्रमाण मौजूद हो वहाँ अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही होती है ।

धर्मधर्मी व्यवस्थाको स्वेच्छाकल्पित कहनेकी अयुक्तता—शकाकार कहता है कि हेतुकी अन्यथानुपपत्ति सिद्ध भी हो जाय तो भी धर्म और धर्मीकी व्यवस्था तो कल्पित ही है । तो जब धर्मधर्मी व्यवस्था कल्पित है तो अनुमान भी कल्पित कहलायेगा । तो हेतुमें अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होती है, यह तो हम आपके सम्वृत्तिकी दशाकी बात बन रही है । वस्तुतः तो धर्म और धर्मी कल्पित है । स्वतत्र क्षणिक निरश ही पदार्थ हुआ करता है । तो जब अनुमान काल्पत हो गया तब फिर अनुमानकी बात समीचीन कैसे बनेगी ? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि धर्म और धर्मीका व्यवस्था अपनी इच्छाके अनुसार कल्पित नही बतायी जा सकती । यदि स्वेच्छानुसार धमधर्मीकी व्यवस्था कल्पित कर ली जाय तो वहाँ परमार्थ तत्त्वका अवतार नहीं होगा । जिसमे कि सर्व ही अनुमान अनुमेय व्यवहार विधिमें आये हुए धर्मधर्मी न्यायसे बाहर ही बाहर सत्व और असत्वकी अपेक्षा करता है यह बात युक्त हो जाय । तब भी शकाकारके सिद्धान्तमे यह कहा गया है कि जिन पुरुषोने तत्त्वार्थका अवलोकन नही किया । वास्तविक तत्त्वको नही जाना है वे लोग प्रतीतिके वशाय भेद और अभेदकी जो व्यवस्था बनाते हैं और उस व्यवस्थाका आश्रय करते हैं सो तत्त्वकी जानकारीके लिए करते हैं । इससे अधिक भेद अभेद व्यवस्थाकी परमार्थता नहीं है । इस प्रकार क्षणिकवादमें जो सिद्धान्त बताते हैं वह बच्चो जैसा अभिलाप है । क्योंकि समस्त पदार्थोंमे भाव स्वभाव माना गया है । भाव अर्थात् सद्भाव और अभाव अर्थात् परवस्तुका अभाव ये दोनो प्रत्येक वस्तुमे माने गए हैं । इस कारण सभी वस्तुओमे भेद और अभेद बराबर व्यवस्थित है, यदि सर्व वस्तुओमे भेद अभेदकी व्यवस्था न मानी जाय, भावाभावस्वभावरूप पदार्थको न माना जाय तो उससे तत्त्वकी प्रतिपत्ति नही बन सकती है । जो बात एकदम प्रत्यक्ष सिद्ध है । जिसमे किसी भी मनुष्यको विवाद नही उत्पन्न होता है वहाँ कल्पनायें करके कोई अनर्थ बातको सिद्ध करनेका प्रयास करे यह तो समय और उपयोगको खोना है । प्रयोजन तो आत्महित करनेका है और आत्महित करनेका साधन है तत्त्वज्ञान । तो जिस प्रकार से उस तत्त्वका परिज्ञान करनेमें ही आत्महित है, उसके विपरीत कुछ भी तकणा बनानेमे आत्महितकी सम्भावना नही है ।

वस्तुके विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वके विरोधमे कुछ दार्शनिकोकी शकायें और उनके निराकरणका उपक्रम—यहा निरशवादी कहते हैं कि अस्तित्व और

जाना चाहिए, पर ऐसा किसीको भी इष्ट नहीं है। तो इससे सिद्ध होता है कि भेद विवक्षा और अभेद विवक्षा अवस्तुके कारण नहीं होती। यदि अवस्तुके कारण भेदाभेद विवक्षा मान ली जाय तो विपरीत बात सिद्ध की जा सकती है। और, यदि अन्वय व्यतिरेकका विपरीत सम्बन्ध बना लिया जाय तो शब्दका अनित्यत्व सिद्ध करने वाले हेतुसे उल्टी बात सिद्ध हो बैठेगी। करना तो चाहिए था अनित्य सिद्ध हो बैठेगा नित्य सिद्ध। तो यह क्षणिकवादी जब कृतकत्व आदिक साधनकी अविरोधना को चाह रहा है तो उसे यह मानना ही पड़ेगा कि भेद और अभेदकी विवक्षा अर्थात् व्यतिरेक और अन्वय अस्तित्व और नास्तित्व ये वस्तुके कारणसे ही होते हैं। इस प्रकार यह बात बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध होती है कि जो कुछ भी विशेषण है वह सब एक वस्तुमे प्रतिपक्ष धर्मका अविनाभावी है। जो भी विशेषण दिया जाय वह अन्य विशेषणोंसे व्यावृत्त रहता है जैसे कि वैधर्म्य साधर्म्यके साथ अविनाभावी है। तो यहाँ नास्तित्व विशेषण है यह बात सिद्ध हो ही जाती है और जब विशेषण है तो अस्ति को साथ लिए हुए हैं, क्योंकि साध्यके सद्भावमें ही साधनका सद्भाव निश्चत् किया जाता है, अन्यथा व्यवहार संकर हो जायगा, कोई भी व्यवहार शुद्ध न रह सकेगा।

उदाहरणपूर्वक अस्तित्व और नास्तित्त्वकी वस्तुनिबन्धता—जैसे करभ और दही। करभका अर्थ है ऊँट और दहीका अर्थ है दही। ये दो शब्द हैं। तो करभ मे करभपना है और दधिमें दधिपना है। यह बात तो इसी बलपर सिद्ध है कि अस्तित्व परमार्थ सद्भूत वस्तुके कारणसे होता है। और भी देखिये! दधिमे करभपना नहीं है और करभमे दधिपना नहीं है। ऐसी यह नास्तित्वकी बात तब होती है जब कि नास्तित्व वस्तुके कारणसे कहा जाता है, अन्यथा जैसे करभमें करभपनाका सद्भाव है ऐसे ही दधिमें करभपना आ बैठेगा। और, जैसे दहीमें दधिपनेका सद्भाव है ऐसे ही करभमें भी दधिपना आ बैठेगा। तब कोई पुरुष यदि यह कहता है कि दही लावो तो जिस पुरुषको यह आदेश दिया है वह ऊँटके पास विचरने लगे क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व परमार्थ सद्भूत वस्तुके कारण नहीं माने जा रहे, अथवा जैसे वह पुरुष ऊँट के पास नहीं विचरता वैसे ही दधिके पास भी न विचरे! क्योंकि अब तो किसी भी जगह न तो इस दधिपनेका अभाव मान रहे और न अकरभपनेका अभाव मान रहे तो ऐसी स्थितिमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका व्यवहार संकर हो जायगा अर्थात् किसीमे प्रवृत्ति करना है, किसीमें प्रवृत्ति करनेका आदेश दिया है तो वहाँ निवृत्ति कर बैठे और जहा निवृत्ति करनेका आदेश दिया है वहाँ प्रवृत्ति कर बैठे। इससे सिद्ध है कि जब लोगोंकी प्रतीतिमें प्रसिद्ध बात है व्यवहार संकरता नहीं आ रही है तो वह इसी कारण नहीं आती कि नास्तित्वकी बात वस्तुके कारणसे हुआ करती है। इससे सिद्ध हुआ कि सभी विशेषण अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी होते हैं। यहाँ प्रकरणमें नास्तित्वकी बात कही जा रही है कि नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्वके साथ अविनाभावी है। इसका अनुमान प्रयोग है कि नास्तित्व अस्तित्वके साथ अविनाभावी है

जो विधान किया जाए उसका नाम है विधेय। अस्तित्व इसका पर्यायान्तर है और जो प्रतिषेध किया जाय, व्यतिरेकरूप हो, अभावरूप बनाया जाय वह है प्रतिषेध्य नास्तित्व सो यहां प्रयोग किया गया कि वस्तु विधेय प्रतिषेधात्मक है विशेष्य होनेसे। इस कारिकामें यद्यपि विशेष्य शब्द प्रथमान्त है किन्तु दार्शनिक पद्धतिके अनुसार यह हेतु बन जाता है। प्रत्येक पदार्थ अस्तित्व नास्तित्वरूप है क्योंकि विशेष्य होनेसे। इसमें उदाहरण दिया गया है साध्यधर्मका। जैसे कि साध्यधर्म अपेक्षासे हेतु होता है और अहेतु होता है, साध्यधर्मका जो आधार है उसे इस प्रसंगमें धर्मी माना। तब कहा गया है कि साध्यधर्म। धर्म तो धर्मीमें होता है, तो साध्य यहां बनाया जारहा है विधि और निषेधको। तो विधि निषेध यद्यपि धर्म है तो भी विधि निषेध धर्म होतेहुये भी इसमें लेकिन जब अन्य बात सिद्ध करनी हुई तो साधनाके प्रसंगमें यही धर्मी बन जाता है। तो साध्य हुआ धर्मी। उसका धर्म हुआ उत्पत्ति स्थिति विनाश याने उत्पादादिक अथवा कहिये उत्पत्तिमत्त्वादि। तो साध्यका धर्म अर्थात् उत्पत्तिमत्त्वादि यह हेतु भी है और अहेतु भी है। जब अनित्य साध्य बनाया जा रहा हो तब प्रयोग में यह उत्पत्तिमत्त्वादि हेतु बनता है अर्थात् अनुमान प्रयोग बन जाता है कि पदार्थ अनित्य है उत्पत्तिमान होनेसे। तो यहां जब अनित्य सिद्ध कर रहे हैं तो उत्पत्तिमत्त्व निर्दोष हेतु बन गया। और जब इस तरहका प्रयोग करें कि पदार्थ नित्य है उत्पत्ति मान् होनेसे तब यह उत्पत्तिमत्त्व अहेतु बन गया उत्पत्तिमत्त्व हेतु नित्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। तो जैसे साध्य धर्म अनित्यत्व साध्यकी अपेक्षासे हेतु है और नित्यत्व साध्यकी अपेक्षासे अहेतु बनता है क्योंकि उक्त साध्य धर्ममें गमकत्व और अगमकत्व दोनोंका योग है अर्थात् उत्पत्तिमत्त्वादि अनित्यत्वका तो गमक है और नित्यत्वका अगमक है क्योंकि इसी प्रकार साध्यका अविनाभाव और साध्यका विनाभाव इसमें पाया जा रहा है। साध्य जब अनित्य बना तो वहां साध्यके साथ अविनाभाव है हेतुका और जब नित्यत्व साध्य बनाया जायगा तो साध्यके साथ विनाभाव है, याने साध्यके बिना उत्पत्तिमत्त्व हेतु हो गया है इस कारण इस हेतुमें गमकत्व और अगमकत्व दोनोंका सम्बन्ध है। तो निर्दोष उदाहरण व हेतु वाले इस तरहके अनुमानसे जीवादिक पदार्थ अस्तित्व नास्तित्वात्मक सिद्ध होता ही है।

वस्तुको विधेयप्रतिषेध्यात्मक, विशेष्य व शब्दगोचर सिद्ध करने वाले अनुमान प्रयोग—यहां अनुमान प्रयोग यों बना कि सर्व पदार्थ अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप हैं विशेष्य होनेसे। तो यहां विशेष्यत्व हेतु कहा गया, वह असिद्ध नहीं है। याने सर्व पदार्थोंमें विशेष्यपना सिद्ध होता है। अनुमान प्रयोग भी करें कि ये जीवादिक पदार्थ विशेष्य हैं शब्द गोचर होनेसे हेतुकी तरह। इस अनुमानसे इन जीवादिक पदार्थोंमें विशेष्यत्व हेतु सिद्ध होता है तो यहां तक यह सिद्ध हुआ कि जीवादिक पदार्थ अस्तित्व नास्तित्वरूप हैं विशेष्य होनेसे और ये पदार्थ विशेष्य हैं शब्दगोचर होनेसे। अब यहां कोई आशंका कर सकता है कि हमको तो यह अच्छा है

नास्तित्व विशेषण ही है, विशेष्य नहीं है। इस कारण वह अस्तित्व परमार्थभूत साध्य साधन धर्मके अधिकरण नहीं हो सकते। साध्य तो बनाया है प्रतिषेध्यका अविनाभावीपना और साधन बनाया है विशेषणपना, तो इन दोनोंका अधिकरण प्रकृत साध्य साधन नहीं बन सकते हैं, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व कोई सत् पदार्थ तो हैं नहीं, विशेष्य तो हैं नहीं विशेषण ही माने गए हैं। तो जब ये दोनों साध्य धर्म और साधन धर्मके अधिकरण नहीं बन सकते तो जो दोनों अनुमान प्रयोग बनाये गए हैं पूर्वकारिकामें बताया है कि अस्तित्व प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है और इस कारिकामें बताया है कि नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्वके साथ अविनाभावी है सो ये दोनों ही अनुमान यहाँ नहीं बैठते कि अस्तित्व नास्तित्व धर्म हो और जीवादिक धर्मी हों इस रीतिसे संगत नहीं बनता। इसी प्रकार दार्शनिक और भी कहे जा रहे हैं कि वस्तु सर्वथा अभिलाप्य याने शब्दके द्वारा कहे जाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि जो वस्तुस्वरूप है वह अनभिलाप्य है वह शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता। उसको कहने वाला तो विकल्पज्ञान होता है। जो साक्षात् स्वलक्षण है जिसको परमार्थसे सिद्धि करनी हो उसका शब्द द्वारा कथन नहीं हो सकता। तथा और भी कह रहे हैं कि जीवादिकसे ये दोनों अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न ही हैं। क्योंकि प्रतिभास भेद है। अस्तित्वका विषय कुछ है नास्तित्वका विषय कुछ है और जीवादिक विषय अन्य है। जब इसमें प्रतिभासभेद है तो यह अलग ही चीज है, जीवादिक वस्तु अलग है। जहाँ प्रतिभासभेद होता है वहाँ भिन्नता ही होती है, जैसे घट पट। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं, तो यह प्रतिभासभेद इसमें है अतः भिन्न हैं। इसी प्रकार अन्य कोई दार्शनिक कहते हैं कि वस्तु अस्तित्वस्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि अगर वस्तु अस्तित्वमय हो गयी, नास्तित्वमय हो गई तो अस्तित्व नास्तित्व तो धर्म है और वस्तु है धर्मी, अब धर्मी हो गया धर्ममय तो सब एकमेक हो गए। अब वहाँ यह व्यवस्था कौन बनायेगा कि ये जीवादिक वस्तु तो धर्मी हैं और अस्तित्व नास्तित्व धर्म हैं। फिर तो धर्मी और धर्ममें संकर दोष हो जायगा, आदिक रीतिसे अनेक दार्शनिक वस्तुको विधिनिषेधात्मक माननेमें तैयार नहीं हो रहे। उनके प्रति आचार्य देव कहते हैं—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

पदार्थकी विधेय प्रतिषेध्यात्मकता, विशेष्यता व शब्दगोचरता—सर्व जीवादिक पदार्थ विधेय प्रतिषेध्यात्मक अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप हैं और विशेष्य हैं, शब्दके विषयभूत हैं। जैसे साध्य धर्म अपेक्षासे हेतु भी होता है और अहेतु भी होता है इसी प्रकार समस्त पदार्थ विधेयस्वरूप हैं और प्रतिषेध्य स्वरूप हैं। कारिकामें कहे गए शब्दोंका अर्थ और भाव इस प्रकार है। विधेय नाम है अस्तित्वका।

अस्तित्वादिक विशेषणोंकी प्रतीति सिद्ध करते हुए उक्त शङ्का समाधान

उक्त शङ्काके समाधानमें कहते है कि निरंशवादका यह कहना कि केवल स्वलक्षण ही वस्तु है, वही प्रतिभासमे आता है अस्तित्व आदिक नही, सो यह कथन युक्तिस त नही है। अस्तित्व आदिक अनेक विकल्पात्मक वस्तु अश सहित ही प्रतीतिमें आरही है, अर्थात् वस्तु सत् है असत् है, नित्य है अनित्य है। जो जो वस्तुमे धर्म हैं उन समस्त धर्मोंसे युक्त है वस्तु यों प्रतीतिमें आती है। यह निरंशवादी ऐसा तो स्वीकार करता है, अपना अभिप्राय बनाता है कि कोई पदार्थ किसी अस्तित्वादिक विशेषणसे विशिष्ट ग्रहणमे आ रहा है तो वहां वह पदार्थ किस विधिसे ग्रहणमे आता है कि प्रथम ग्रहणमे आया है स्वलक्षण, फिर उसमे विशेषण विशेष्यका परिचय हुआ, उसके अनन्तर विशेषण विशेष्यके सम्बन्ध ज्ञानके कारणसे वहाँ लोक स्थित हुई, लोकोंका परस्पर इस प्रकारका व्यवहार हुआ। उसके सकलनसे अर्थात् उतनी बातोंका जब सकलन हो जाता तब जाकर वह वस्तु विशेषण विशिष्ट रूपसे ग्रहणमे आता है अन्य प्रकारसे नही, इतना तो अभिप्राय रख रहे हैं निरंशवादी लोग, अब यहा देखो कि ऐसे अभिप्रायमे भी विधि प्रतिषेध स्वभाव वाले वस्तुके उस प्रत्येक तत्त्वका वस्तुका, विधिका, प्रतिषेधका, प्रत्येक तत्त्वका दर्शन होना अवश्यभावी हो गया है वस्तुका ही दर्शन होता है विधि और प्रतिषेध स्वभाव वाले विशेषणोंका दर्शन नही होता है यह नही कहा जा सकता। जब वस्तुका दर्शन हुआ तो वह वस्तु है विधि प्रतिषेधात्मक तो उस वस्तुके दर्शनके ही साथ विधि और प्रतिषेध उन स्वभाव विशेषणोंका भी ग्रहण हो जाता है। जैसे पदार्थके निरखते ही ग्रहण करनेका अर्थ ही यह है कि यह यही है, अन्य नही है। तो ग्रहण करनेके ही साथ विधि और प्रतिषेध भी ग्रहण हो जाता है। विधि और प्रतिषेधका ग्रहण न हो तो वस्तुका ही ग्रहण नहीं है।

सदसत्स्वभाव शून्य स्वलक्षणका दर्शन माननेपर सत्त्व असत्त्वका सविकल्पज्ञानसे भी निर्णय किये जानेकी अशक्यता

सदसत्स्वभाव शून्य स्वलक्षणका दर्शन माननेपर दूसरा दोष यह है कि यदि सत् असत् स्वभावसे रहित स्वलक्षणका दर्शन माना जाय अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा केवल स्वलक्षण जाना गया, जिसमे न सत् स्वभाव समझा गया न असत् स्वभाव समझा गया याने वास्तव मे स्वलक्षणमे सत् स्वभाव और असत्स्वभाव हैं ही नही यो सत् असत् स्वभावसे रहित स्वलक्षणका दर्शन माना गया, तो सदसत्स्वभावसे रहित स्वलक्षणका दर्शन माननेपर अब उस दर्शनके पश्चात् होने वाला जो सविकल्प ज्ञान है उस सविकल्प ज्ञानसे भी सत्त्व और असत्त्वका निर्णय नही बन सकता। क्योंकि दर्शनमे तो सत्त्व असत्त्व जाना नही और दर्शनके बाद जो सविकल्प ज्ञान बनता है उसका प्रयोजन यह मानते कि दर्शनसे जाने हुए विषय किए हुए पदार्थका ही निर्णय करदे, इसीलिए तो सविकल्पज्ञानको माना है। अब दर्शनमें सत्त्व असत्त्व जाना नहीं गया। तो उसके पश्चात् होने वाले सविकल्प ज्ञानसे सत्त्व असत्त्वका निर्णय कैसे होगा ? क्या

है कि पदार्थ शब्दगोचर ही नहीं है। पदार्थमें शब्दगोचरत्व असिद्ध है। तो इस शंका के उत्तरमें कहते हैं कि जीवादिक पदार्थ शब्दगोचर हैं इसको भी सिद्ध करने वाला अनुमान प्रयोग इसी कारिकासे ध्वनित हो रहा है। जीवादिक पदार्थ शब्दगोचर हैं विशेष्य होनेसे, हेतुकी तरह। इस अनुमानसे जीवादिक पदार्थोंमें शब्दगोचरता सिद्ध है। इस तरह उन्हीं जीवादिक पदार्थोंमें विशेष्यत्व और शब्दगोचरत्व परस्पर हेतु देकर बताया है। किन्तु इसमें इतरेतराश्रय दोष न समझ लेना कि जब पदार्थ शब्दगोचर सिद्ध हो ले तब तो वह विशेष्य सिद्ध होगा और जब विशेष्य सिद्ध हो ले तब वह शब्द गोचर सिद्ध होगा। ऐसा इतरेतराश्रय दोष क्यों नहीं आता ? उसका कारण यह है कि जो दार्शनिक सर्वथा वस्तुको अनभिलाप्य कह रहे हैं उनको शब्द गोचर सिद्ध करना है तो उनके प्रति शब्दगोचरत्व साध्य बनाया गया और उसमें विशेष्यत्व हेतु कहा गया। और, जो सर्वथा अविशेष्य मानते हैं वस्तुको अर्थात् शब्दाद्वैतवादी हैं उनके प्रति विशेष्यत्व सिद्ध करनेके लिए शब्दगोचरत्व साधन रूपसे कहा गया है। इसी प्रकार जो दोनों ही बातें नहीं मानते न तो वस्तुको विशेष्य मानते हैं और न शब्दगोचर मानते हैं यों दोनोंका असत्त्व कहने वाले दार्शनिकके प्रति वस्तुत्व हेतु कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुत्व हेतु दोनोंके मतमें प्रसिद्ध है। विशेष्य नहीं मानते हैं और शब्दगोचर नहीं मानते वे भी वस्तुत्व मानते हैं और शब्दगोचर नहीं मानते वे भी वस्तुत्व मानते हैं। तो दोनोंके यहाँ प्रसिद्ध विशेष्यत्व हेतुका यहां प्रयोग समझना चाहिए और दोनोंका ही सत्त्व न मानने वालोंके प्रति जब वस्तुको विधेय प्रतिषेध्यात्मक सिद्ध कर रहे हों तब वस्तुत्वात् यही हेतु वहाँ भी प्रयुक्त करना चाहिए। वस्तुत्वात् इस हेतुसे वस्तु विधेय प्रतिषेध्यात्मक सिद्ध हो जाता है तथा इसी हेतुसे वस्तु शब्दगोचर सिद्ध होता है। इस प्रकार इस कारिकामें उन सभी दार्शनिकोंकी आशंकाका निराकरण किया गया है और यह सिद्धान्त पुष्ट किया गया है कि जो भी सत् हैं वे समस्त सत् विधेय प्रतिषेध्यात्मक ही होते हैं।

अस्तित्व आदि विशेषणोंकी अप्रमेयताकी आशङ्का यहां निरंशवादी दार्शनिक शङ्का करता है कि प्रत्यक्षकी विधिसे अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानसे तो वस्तु स्वलक्षण ही ज्ञात होती है अस्तित्व नास्तित्व आदि विशेषण प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जाना जाता है क्योंकि निर्विकल्प दर्शन द्वारा जो वस्तु परिचयमें आता है वह स्वलक्षणमात्र है। जो है सो प्रतिभासमें आया। परन्तु अस्तित्व या नास्तित्व आदिक कोई विशेषण प्रतिभासमें नहीं आते क्योंकि प्रत्यक्ष विधि तो समस्त विकल्पोंसे रहित है, वह तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष विकल्पको जब विषय ही नहीं करता तो अस्तित्व नास्तित्व आदिक विशेषण कैसे ग्रहणमें आयेंगे ? अस्तित्व नास्तित्व आदिक व्यवहारोंकी सिद्धि तो सविकल्प ज्ञानमें ही होती है। इस तरह स्वलक्षण ही वस्तु है, पर अस्तित्व

विशेष मात्र जो विकल्प या निर्णय किया जाता है उसको सामान्य शब्दसे कहा करते हैं वे । सो प्रमाण अर्थात् सर्वसाधारण जनोंकी दृष्टिसे अभिमत पदार्थ तो अस्तित्व नास्तित्वका धर्मी है। पदार्थमें याने उस धर्मीमें अस्तित्व नास्तित्व दोनों रहते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध है तादात्म्यरूप अर्थात् पदार्थ ही विधिनिषेधात्मक है। जो तादात्म्यरूप ही तो सम्बन्ध हुआ। वही विधि निषेधरूप है। वही निषेध विधिरूप है स्वरूपसे सत्व है पररूपसे असत्व है। यों स्वरूपसे सत्व व पररूपसे असत्व यह उभय धर्म उस वस्तुमें तन्मयतासे है, इस कारण विधेय और प्रतिषेध्यमें तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है। अन्य सम्बन्धकी कल्पना करनेपर अनवस्था दोष आयगा। समवाय या अन्य कोई सम्बन्ध माननेपर कि उस सम्बन्धके द्वारा विधि और प्रतिषेधमें सम्बन्ध बना तो अब विधि और प्रतिषेधका इनके सम्बन्धका उस सम्बन्धान्तरसे क्या सम्बन्ध है? उसको सिद्ध करनेके लिए फिर अन्य सम्बन्धान्तर मानना होगा। यों अनवस्था दोष आयगा। तब बात यही सिद्ध होती है कि विधेय और प्रतिषेध्यमें तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है।

प्रत्यक्ष एवं परोक्षज्ञानमें सामान्यविशेषात्मक वस्तुका ही निर्बाध परिचय — विधेयप्रतिषेध्यात्मक स्वलक्षण होनेके कारण निरंशवादियोंका यह कहना सारभूत नहीं है कि जात्यादिमान याने सामान्यादिक धर्म वाले पदार्थोंका प्रत्यक्षमें ग्रहण नहीं हो सकता याने प्रत्यक्षके द्वारा जाति सामान्य आदिक वाले पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता। यह कहना सारभूत नहीं है तथ्य तो यह है कि सामान्य विशेषादिक न हों उनका अभाव हो तो प्रत्यक्षसे ग्रहण होना सम्भव नहीं है। देखिये — जो कुछ प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है, जो प्रमाणभूत किया जाता है उसमें यह क्रम नहीं पड़ा हुआ है कि पहिले सत्व असत्व विशेषणसे विशिष्ट वस्तुके ग्रहणमें पहिले सत्वादिक सामान्य रूप विशेषणका ग्रहण किया जाता हो और उसके पश्चात् फिर विशेष्यका ग्रहण किया हो विशेषणका ग्रहण करके विशेष्यके ग्रहणके विशेष्यका ग्रहण किया गया हो और फिर उस विशेष्यके ग्रहणके बाद विशेष्य विशेषणके सम्बन्धका ग्रहण किया हो और फिर उस विशेष्य विशेषणके व्यवहारके कारण फिर लोकस्थिति का ग्रहण किया हो अर्थात् सर्वजन जिस प्रकारसे समझते हैं व्यवहार करते हैं उसका ग्रहण किया गया हो और फिर लोकस्थितिके ग्रहणके अनन्तर फिर उसका सकलन किया गया हो याने वस्तुके जाननेका सम्बन्ध और योग फिट बैठाया गया हो सो ऐसा प्रतीतिक्रम सम्भव नहीं है, घटित नहीं होता है, क्योंकि जो कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानमें क्षयोपशमके अनुसार निर्बाध अनुभव हो रहा है वह विशेषण विशेष्यात्मक अथवा सामान्य विशेष स्वरूप वस्तुका ही ग्रहण होता है। होता है क्षयोपशमके अनुसार, लेकिन सभी जीवोंको जितना भी वस्तुओंका बोध होता है निर्बाध इस तरहसे ही बोध होता है कि जैसे यह सामान्य विशेषात्मक वस्तु है, उससे विपरीत अर्थात् केवल सामान्यरूप केवल विशेष विशेषरूप अथवा सामान्य और विशेष दोनोंसे रहित

कभी ऐसा होता है कि पीलके दर्शनके पश्चात् जो सविकल्प ज्ञान बना उससे वहाँ नीलपनेका निर्णय किया गया हो। जैसा दर्शन किया हो वैसा ही तो उसके बाद निर्णय होगा। पीतलक्षणका दर्शन किया तो उसके बाद होने वाले सविकल्पज्ञानमें पीतपनेका ही तो निर्णय हुआ कि नीलादिकका निर्णय हो जायगा? ऐसा भी माना नहीं खुद भी और न प्रतीतिमें आता कि दर्शन तो हो और कुछका उसके बाद ज्ञान द्वारा निर्णय होता है तो वह ज्ञान अथवा वह दर्शन मिथ्या कहलायगा। तो मानना होगा कि दर्शनके द्वारा भी विधि निषेधात्मक वस्तुका दर्शन होता है। इस कारण प्रमाणित किये गये ये विधि और प्रतिषेध स्वलक्षणकी सविकल्पताको सिद्ध करते हैं अर्थात् स्वलक्षणमें विधि और प्रतिषेध स्वभाव है इस प्रकार इन दोनों धर्मोसे तन्म यताको सिद्ध करते हैं।

स्वलक्षणकी सामान्यविशेषात्मकताका निश्चयन— यदि विधि और निषेधरूप भेद वस्तुमें न माना जाय याने विधि और निषेध धर्म है ही नहीं, ऐसा स्वीकार करलेनेपर तो यह वस्तु सत् है यह असत् है ऐसा उसमें दर्शन न बन सकेगा। अथवा मैं इसको ग्रहण करता हूँ इसको नहीं, इसे जानता हूँ इसको नहीं—इस प्रकार के विकल्प उत्पन्न न हो सकेंगे। किन्तु होता तो है ही सदसद्विषयक दर्शन और निर्णय। दर्शन भी विकल्परूपसे हो जाता है और ऐसा ही विकल्पमें ग्रहण भी होता है कि मैं इसको जानता हूँ इसको नहीं। तब यह सिद्ध हुआ कि वस्तु अथवा स्वलक्षण सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य विशेषात्मक वस्तुको ही स्वलक्षण कहा गया है। किन्तु समस्त विकल्पोंसे रहित स्वलक्षण नहीं है, जो केवल विशेषमात्र हो अथवा सामान्य मात्र हो या परस्पर अपेक्षा न रखकर सामान्यस्वरूप और विशेषस्वरूप हो ऐसा कोई स्वलक्षण नहीं होता। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है, क्योंकि वस्तु केवल सामान्यरूपसे व्यवस्थित नहीं या निरपेक्षतया सामान्य और विशेषरूपसे व्यवस्थित नहीं है किन्तु सामान्य विशेषात्मक ही वस्तुका स्वरूप है। उसे न केवल विधिरूप कह सकेंगे न केवल निषेधरूप कह सकेंगे किन्तु जात्यन्तररूप है और ऐसे जात्यन्तर स्वरूपसे लक्ष्यमें कुछ आया हुआ पदार्थ ही स्वलक्षण कहलाता है, ऐसा माननेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

एकधर्मीमें विधिप्रतिषेध धर्मका तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध—अब यहाँ कोई जिज्ञासा करे कि विधेय और प्रतिषेध्यका धर्मी कौन है? अर्थात् विधि और निषेध ये जो धर्मी सिद्ध किए जा रहे हैं, इनका आश्रयभूत आधार कौन है और फिर विधि और प्रतिषेधमें सम्बन्ध क्या है? जिससे कि विशेषण विशेष्य भाव समझा जा सके कि पदार्थ विधेयप्रतिषेध्यात्मक है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर उसका समाधान करते हैं कि सुनो! यहाँ धर्मी दो सिद्ध किए जा रहे हैं—अस्तित्व और नास्तित्व। तो इन दोनों धर्मोंका धर्मी है सामान्य। निरंशवादियोंके सिद्धान्तके अनुसार जहाँ विशेषण

साध्यकी अपेक्षा तो हेतु है और जो साध्य नहीं किया जा रहा उसकी अपेक्षा अहेतु है। तो अब इसलिये उस साध्यधर्मीके धर्ममें हेतुत्व विशेषण आया, अहेतुत्व विशेषण आया। तो इस तरहका परिज्ञान भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी तरह कृतकत्व अनुमानके प्रमाणमें जो हेतु उद्धृत किया गया है उसमें भी साध्य धर्ममें यह कृतकत्व सो व्..ं जब अनित्य सिद्ध किया जा रहा हो उसकी अपेक्षासे तो कृतकत्व है हेतु और जब नित्य सिद्ध कर रहे हो तो उसके लिए कृतकत्व है अहेतु तो उस कृतकत्वमें हेतुत्व विशेषण है, अहेतुत्व विशेषण है। उससे युक्त उस हेतुका प्रत्यक्ष बोध हो ही रहा है। धूम हेतु बताया जाता है अग्निको सिद्ध करनेके लिए धूम हेतु कहा तो वह हेतु बन गया। पर पानी सिद्ध करनेके लिए तो धूम हेतु न बनेगा। इसी प्रकार कृतकत्व हेतु दिया जाता है विनाश सिद्ध करनेके लिए। पदार्थ अनित्य है, उसका विनाश होता है, तो विनाश साध्यके लिए कृतकत्व हेतु है और नित्यता सिद्ध करनेके लिए कृतकत्व अहेतु है तो इसमें जैसे हेतु स्वभाव बना अहेतु स्वभाव बना तो इन स्वभावोंसे शंकाकार धूम आदिक कृतकत्व आदिकका साक्षात्कार कर लेवे समझ लेवें कि हाँ बात यह सही है कि यह ही हेतु स्वभाव वाला है और यही अहेतुस्वभाव वाला है। यदि ऐसा निर्वाध बोध न हो तो फिर विशेष्यका ज्ञान किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं हो सकता। अतः मानना होगा कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, विधेय प्रतिषेध्यात्मक है तो वस्तुमें अस्तित्व विशेषण भी है और नास्तित्व विशेषण भी है।

विशेषणत्वको सिद्ध करनेका आधारभूत मूल प्रसंग—मूल प्रसंग यह चल रहा है कि वस्तु विधिप्रतिषेधात्मक है, उसमें केवल विधिको ही मानने वालोंके प्रति यह कहा गया कि अस्तित्व अपने प्रतिषेध्यके साथ नास्तित्वके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे और इसही प्रकार केवल नास्तित्वको मानने वालोंके प्रति यह कहा गया कि नास्तित्व अपने प्रतिषेध्यकेसाथ अस्तित्वके साथ अविनाभावी है जो लोग अस्तित्व और नास्तित्वको विशेषण ही मानना चाहते उनके प्रति यह कहा गया कि वस्तु विधेय प्रतिषेध्यात्मक है विशेष्य होनेसे तो वस्तुमें विशेष्यता और वस्तुके अस्तित्वधर्ममें विशेषणत्व सिद्ध किया जा रहा है तो जब शंकाकारकी ओरसे इसके ऊहापोहके बीच जब यह कहा गया कि प्रत्यक्ष विधिमें तो वस्तु स्वलक्षण मात्र ही प्रतिभासमें आती है, किन्तु अस्तित्वादिक विशेषण नहीं तब उनके प्रति अस्तित्व और नास्तित्वको विशेषण सिद्ध किया जा रहा है और अस्तित्व नास्तित्वको विशेषण सिद्ध करनेके प्रयोगमें उदाहरण दिया गया है यह जैसे कि साध्य धर्म अपेक्षासे हेतु भी है व अहेतु भी है। तो साध्य धर्मको हेतुत्व विशेषणसे दिखाया गया है और अहेतुत्व विशेषणसे दिखाया गया है।

हेतुकी विशेषणोसे जानकारी न बताने पर दोषापत्तियाँ—हेतु को विशेषणोंके रूपमें समझने के लिये शंकाकार से पूछा जा रहा कि शंकाकार यह बताये

या निरपेक्ष सामान्य विशेषरूप वस्तुकी प्रतीति नहीं होती।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष, सविकल्प प्रत्यक्ष व शाब्दिक बोधमें विषयभेदके एकान्तका निराकरण—जब प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानमें आत्यन्त, अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ही निर्बाध रूपसे बोध हुआ तब यह मानना होगा कि दर्शन और विकल्प और शब्द इनके एकान्ततः विषयभेद नहीं है। जैसे कि निरंशवादी कहते हैं कि प्रत्यक्षज्ञानका विषय और है सविकल्प ज्ञानका विषय और है और शाब्दिक ज्ञान का, आगमका विषय अन्य है सो बात नहीं है। वस्तु एक वही प्रतिभासमें आता है। सामान्य विशेषात्मक पदार्थ जो दर्शनके द्वारा प्रतिभास हुआ था, वही सविकल्पज्ञानके द्वारा जाना गया और फिर शब्दों द्वारा उसीका ही प्रतिपादन किया गया तब दर्शन विकल्प और अभिधानका एकान्तसे विषयभेद नहीं कहा जा सकता। हाँ कथंचित् प्रतिभासभेद है वह रहा आये, कोई ज्ञान स्पष्ट रूपसे जगता है, कोई अस्पष्ट रूपसे जगता है तो प्रतिभासकी पद्धतिमें भेद हुआ तिसपर भी प्रतिभासमें वही पदार्थ जाना गया, कहा गया जो पदार्थ दर्शनके द्वारा ग्रहणमें आया। तो यह मानना पड़ेगा कि शब्दों द्वारा विशेषण भाव व विशेष्य भाव कहा जाता है सो वह विशेषण विशेष्यात्मक वस्तु सविकल्पज्ञानसे भी ग्रहणमें आया और ऐसा ही सविकल्प, विशेषण विशेष्यात्मक सामान्य विशेष स्वरूप पदार्थ दर्शनमें प्रतिभास हुआ। तब इसका निराकरण निरंशवादी नहीं कर सकता कि वस्तु सामान्य विशेष स्वरूप है, विधि प्रतिषेधात्मक है।

दृष्टान्तपूर्वक, दर्शन, सविकल्पज्ञान व शाब्दिक बोधके विषयभेदाभावकी सिद्धि—दर्शनमें सविकल्प ज्ञानमें और शाब्दिक बोधमें सविकल्प ज्ञानमें और शाब्दिक बोधमें प्रतिभास उस एक विषयका ही हुआ है—इसके लिए दृष्टान्त लीजिए कि जैसे समीपमें खड़े हुए और दूरमें खड़े हुए पुरुषको किसी एक वृक्षका प्रतिभास हो रहा है तो उनके प्रतिभासमें एक पदार्थ आ रहा है। लेकिन निकट रहने वालोंको तो स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है और दूर रहने वालेको अस्पष्टरूपसे प्रतिभास हो रहा है, सो भले ही प्रतिभासकी पद्धतिमें भेद है किन्तु जाना तो उस एक ही वृक्षको न। यदि प्रतिभासभेदसे विषयभेदका आग्रह कर लिया जाय तो योगियोंका प्रत्यक्ष और लौकिक जनोंका प्रत्यक्ष जब एकको विषय कर रहा है तो वहाँपर भी विभिन्न विषय होनेका प्रसंग आ जायगा। सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रत्यक्षमें आया है उसको प्रत्यक्षने ग्रहण किया इस कथनसे यह भी समझ लेना चाहिए कि वस्तुको विधिप्रतिषेधात्मक सिद्ध करने वाले अनुमानमें कथित उदाहरणमें जो बात कही गई है वह भी प्रत्यक्ष प्रमाणके विषयभूत है। उदाहरणमें बताया गया है कि हेतु साध्यकी अपेक्षासे हेतु कहलाता है। और असाध्यकी अपेक्षासे अहेतु कहलाता है जैसे धूम आदिक हेतु कहे गए तो वह धूम आदिक है साध्य धर्मीका धर्म, सो वह

असाध्यकी अपेक्षा न रखी जाय तो उन हेतुवोंके साक्षात्कार करनेमें विरोध है। किसी भी एक जगह अर्थात् किसी भी साध्यको सिद्ध करने वाले हेतुवोंके साधनत्व रहें और असाधनत्व रहे इसमे कोई विरोध नही है। सभी जन जानते हैं कि अग्निको सिद्ध करनेमे धूम साधन है और पानीको सिद्ध करनेमे धूम असाधन है। तो इस तरह जो उदाहरण दिया गया है वह प्रसिद्ध है। उदाहरण यह दिया गया है कि हेतुमें हेतुत्व धर्म और अहेतुत्व धर्म विशेषण हुए, इसका साक्षात्कार हो जाता है तो ऐसे ही विधि और प्रतिषेध ये भी विशेषण होकर भी अथवा विशेष्य होकर भी प्रत्यक्षके विषयभूत हो जाते हैं। तो तब यह उदाहरण प्रसिद्ध हो गया। वादी और प्रतिवादी दोनोंको सम्मतिमें आ गया तब यह फल निकला कि जो अभिधेय है वह विशेष्य होता है।

अनेक रहस्योंका कथन तथा अनेक भ्रममतोंका निराकरण—इस कारिकामें अनेक बातें सिद्ध की जा रही है। वस्तु विधि निषेधात्मक है विशेष्य होने से, विधि और निषेध विशेष्य है शब्दके विषयभूत होनेसे। विधि निषेध अभिधेय है, वक्तव्य है विशेष्य होनेसे। इन सब अनुमान प्रयोगोमे जो जो भी साध्य बनाये गए हैं निर्बाध सिद्ध हो जाते हैं। तो यह फलित अर्थ मान लेना चाहिए कि जो अभिधेय है वे सब विशेष्य होते हैं जैसे उत्पत्ति आदिक साधन साध्य और असाध्यकी अपेक्षासे हेतु भी है और अहेतु भी है उसी प्रकार विवादापन्न जो सत्त्व अभिधेयत्व आदिक हैं वे भी विशेष्य हैं क्योंकि शब्दोंके द्वारा अभिधेय हैं और ये ही सत्त्व अभिधेय आदिक विशेषण भी हैं। जब प्रयोग किया कि सब क्षणिक है सत्त्व होनेसे तो उन सब प्रयोगोमे यह देख लीजिए कि प्रत्येक शब्द विशेषणरूप भी बन जाता है और विशेष्य रूप भी बन जाता है। किसी भी शब्दमे अथवा सत्त्वादिक धर्ममें विशेषणात्मकता भी है और विशेष्यात्मकता भी है, उनमें विरोध नही होता। हाँ विशेषण मानने की अपेक्षा अन्य हैं और विशेष्यपना समझनेकी अपेक्षा अन्य है। अथवा अब दूसरे अनुमान प्रयोगपर दृष्टि कीजिए जो विशेष्य होते हैं वे अभिधेय होते हैं, शब्दो द्वारा कहे जा सकते हैं, जैसे उत्पत्ति आदिक और विशेष्य है अस्तित्व आदिक वस्तुके रूप इस कारण ये अस्तित्व आदिक अभिधेय याने कहे जाने योग्य हैं। इस तरह जो दार्शनिक वस्तु के स्वरूपको अवक्तव्य कहता था उसके मतव्य का निराकरण हो जाता है। जो दार्शनिक अस्तित्व आदिकमे विशेषण नही मानते थे अथवा विशेष्य नही मानते थे उनके मतव्य का भी निराकरण हो गया। और मूल अनुमान में कि समस्त वस्तुयें विधेयप्रतिषेध्यात्मक हैं जैसे उत्पत्ति आदिक साधन साध्यकी अपेक्षासे हेतु है और असाध्यकी अपेक्षासे अहेतु है, तो इसी प्रकार सत्त्व और अभिधेयत्वादिक भी धर्म विशेषणरूप भी है और विशेष्यरूप भी है, इस तरह सिद्ध होता है कि समग्र वस्तु विधेय प्रतिषेध्यात्मक है, इस कारिकामे मुख्यतया तृतीय भङ्ग की उत्पत्ति बतायी गई है कि वस्तुमे सत्त्व और असत्त्व दोनो हैं। द्रव्य दृष्टिसे भी वस्तु मे सत्त्व है और पर्याय दृष्टिसे व्यतिरेक दृष्टिसे वस्तुका असत्त्व है, और इन दोनो को ही जब क्रमसे विवक्षित

कि जब धूम हेतु बताया गया अग्निको सिद्ध करनेके लिए तो उस धूममें हेतुत्व और अहेतुत्व दोनों ही बातें हैं कि नहीं ? अग्निको सिद्ध करनेके प्रसगमें तो धूम हेतुत्व विशेषण वाला है और पानीको साध्य सिद्ध करनेमें धूम अहेतुत्व विशेषण वाला है यह बात माननी ही पड़ेगी कि यदि नहीं मानते तो देखिये अब धूम आदिकको हेतुत्व और अहेतुत्वके विशेषणसे नहीं मानते तो ऐसा वह शकाकार विशेष्य धूमका कैसे समझ सकेगा कि धूम तो विशेष्य है । इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे इस अनुमान प्रयोगमें अग्नि भी विशेष्य है और धूम भी विशेष्य है पर यह धूम विशेष्य को कैसे समझ पाया कि यह हेतु है, जब कि धूमके सम्बन्धमें यह जान लिया कि यह साध्य के साथ तो अविनाभावी है और असाध्यके साथ विनाभावी है। तो जो साध्यके साथ अविनाभावी हों, जिसमें साध्यके साथ अविनाभावीपना पाया जाय उसमें हेतुत्व कहा जायगा । तो साध्यकी दृष्टिसे धूममें हेतुत्व आया और जिसे साध्य न किया जा सकेगा ऐसे जल को साध्य बनानेके प्रसगमें धूम को अहेतुत्व रूप में निरखा जायगा । यदि शकाकार हेतुत्व और अहेतुत्व विशेषणको नहीं समझ पा रहा है धूममें तो धूम को भी न समझ पायगा । दूसरा दृष्टान्त लीजिए ! जहां अनुमान प्रयोग किया कि शब्द अनित्य है कृतक होनेसे तो कृतकत्व हेतु का साध्य है विनश्वरता । कृतकत्व बता कर शब्दकी विनश्वरता ही तो सिद्ध की जाती हो तो विनश्वरता साध्य बनानेपर कृतकत्वमें हेतुपना आया और नित्यत्व को साध्य बनानेपर कृतकत्वमें अहेतुपना आया । तो अब यह समझमें आ रहा है कि कृतकत्व साधनमें हेतुत्व भी है अहेतुत्व भी है तो हेतुत्व विशेषणसे युक्त और अहेतुत्व विशेषणसे युक्त रूपसे जो कृतकको न जान रहा हो तो विशेष्य कृतकको कैसे जान पायगा ? और जब कृतकत्व धूमवत्व इन विशेषणोंको न जान सका हेतुओंको न समझ सका तो विशेष्य साध्योंको भी कैसे समझ लेगा ? अनुमान प्रसगमें जब धूमको न जान पाया तो अग्निको कैसे जान लेगा ? कृतकको नहीं जान पाया तो विनश्वरको कैसे जान लेगा ? लेकिन ऐसा नहीं है, शकाकार जान रहा है और सभी पुरुष समझ रहे हैं कि यह हेतु है, यह साध्य है और यह हेतु इसी साध्यके लिए हेतु है, अन्यके लिए अहेतु है । ये सब बातें साधारण जनोंकी प्रतीतिमें आ रही है । और शकाकार भी मान रहा है तब उन हेतुओं को यह शकाकार साक्षात्कार करले अर्थात् यह मानले कि विशेषण और विशेष्य ये सब प्रत्यक्षगोचर होते हैं ।

साध्यधर्मीधर्ममें साध्येतरकी अपेक्षासे हेतुत्व व अहेतुत्वका स्पष्ट परिचय —अनुमान प्रयोगमें जिन हेतुओंका प्रयोग किया गया है सो वे इस प्रकारसे साक्षात्काररूप होते हैं कि साध्यकी अपेक्षा होनेपर तो उनमें साधनका स्वभाव पाया जा रहा है और जो साध्य नहीं हैं उनकी अपेक्षा होनेपर हेतुमें साधन स्वभाव नहीं पाया जा रहा, असाधनत्व पाया जा रहा तो साधनत्व और असाधनत्व स्वभावसे उन धूमकृतकत्व आदिक हेतुवोंका साक्षात्कार करनेमें कोई विरोध नहीं है । हां यदि साध्य

चतुर्थ भंग की सिद्धि होती है। इसमें कारण वे ही चार कहे जाने चाहियें। किसी धर्मीमें अवक्तव्य-आदिक धर्म अपने प्रतिपक्षके साथ अविनाभावी हैं विशेषण होनेसे। जैसे कि साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे इसी प्रकार अवक्तव्य भी वक्तव्य धर्मके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे। इसी प्रकार अवक्तव्य आदिक धर्म शब्दगोचर है याने अवक्तव्य है इस शब्दके द्वारा कहा जाता है विशेष्य होनेसे। अथवा अवक्तव्य विशेष्य है क्योंकि शब्दोंके द्वारा कहा जाता है आदिक रूपसे जैसे प्रथम तीन भंगोंकी सिद्धि की है उसी प्रकार इस चतुर्थ भंगकी भी सिद्धि होती है। जैसे वस्तुका अस्तित्व, वस्तुका नास्तित्व और वस्तुका विधेय प्रतिषेध्यत्व अपने प्रतिषेधके साथ अपने प्रतिपक्षके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे, विशेष्य होनेसे। शब्दका विषयभूत होनेसे वस्तुपना होनेसे। जैसे कि साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है। हेतुमें हेतुत्व और अहेतुत्व जैसे विशेषण बनता है इस तरह जैसा कि सिद्ध किया है उसी प्रकार अवक्तव्य भी पहिलेके कहे गए तीन भंगोंके साथ जो कि वक्तव्य है और उस वक्तव्यपनेके ही विशेष बताये गए हैं उनके साथ अविनाभावी है।

अवक्तव्यत्वके साथ पूर्वोक्त तीन धर्मोंकी भी पूर्वोक्त हेतुओंसे सिद्धि—अन्य सबाकी भङ्ग भी इन्हीं हेतुओंसे सिद्ध होते हैं। सत् अवक्तव्य असत् अवक्तव्यके साथ अविनाभावी है। असत् अवक्तव्यपना भी सत् अवक्तव्यपनेके साथ अविनाभावी है और सप्तम भङ्ग अर्थात् सत् असत् अवक्तव्यपना दोनों अवक्तव्यपनेके साथ अविनाभावी है। अर्थात् पञ्चम और षष्ठ भङ्गोंमें जैसा प्रयोग किया गया है वह है सप्तम भङ्गका प्रतिपक्ष उसके साथ अविनाभावी है। इस तरह इन सब धर्मोंका अपने प्रतिपक्ष धर्मके साथ अविनाभावीपना सिद्ध किया गया है और ऐसा सिद्ध होने पर इन सब प्रयोगोंमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता बल्कि अन्यथा कल्पना करनेपर ही विरोध आता है। जैसे कि अवक्तव्यत्व आदिक धर्मोंके अपने प्रतिपक्ष स्वभावके अविनाभावी नहीं माने जाते हैं तो प्रत्यक्षसे और अन्य प्रमाणसे विरोध उत्पन्न होता है क्योंकि ऐसा किसी भी समय वस्तुमें देखा नहीं जा रहा है। वस्तु स्वरूपसे सत् है व पररूपसे असत् है ऐसा वस्तुमें देखा ही जा रहा है। और वही वस्तु स्वरूपसे सत् है व पररूपसे नहीं है दोनों धर्मोंको क्रमसे देखे जानेपर उभय है एक साथ निरखनेपर अवक्तव्य है आदिक बातें प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे सिद्ध हैं। अतः इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। और, इस रीतिसे हे भगवन् जिनेन्द्र देव! आपके शासनमें कोई विरोध नहीं आता। स्याद्वाद शासनसे विरुद्ध शासनमें ही विरोध देखा जाता है। इस तरह सप्तभङ्गके प्रकारोंमें वस्तुकी अनेकात्मकताकी सिद्धि हुई।

सर्वथा विधि या निषेधसे अनवस्थित अर्थात् कथंचित् विधिरूप व कथंचित् निषेधरूपसे अवस्थित वस्तुकी अर्थक्रियाकारिताके समर्थनका उपक्रम—यहाँ यह विदित हो रहा है कि वस्तु विधि और प्रतिषेधसे अनवस्थित है अर्थात्

किए जाता है तो वस्तु उभयात्मक है। तो वस्तु स्यात् अस्ति स्यात नास्ति इस तृतीय भङ्ग का इस कारिकामे समर्थन किया गया है। अब जिज्ञासु जानना चाहता है कि शेष के भङ्ग जो चार और शेष रहे हैं वे किस प्रकार निकालना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्यदेव अगली कारिकामें कहते हैं —

शेष भगाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगत ।
न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनींद्र तव शासने ॥२०॥

प्रथम तीन भङ्गोकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त हेतुओंसे शेषभङ्गोकी भी सिद्धि—शेषभङ्ग भी यथोक्त हेतुओंके प्रयोगसे सिद्ध कर लेना चाहिए। उनकी सिद्धिमें भी कोई विरोध नही आता। सो हे मुनीन्द्र तुम्हारे शासनमें वस्तु स्वरूपकी सिद्धिमें पूर्वापर कही भी विरोध नही है। पहिली कारिकाओमे स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति इन दोनो भङ्गोको युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है तब शेष भङ्गोका अर्थ लगाना कि ५ भङ्ग सिद्ध करना है और इसके ऊपरकी कारिकामे तृतीय भङ्गका भी वर्णन किया है, उससे यह अर्थ लगाता है कि ३ भङ्ग तो बताये जा चुके है अब शेषके चार भङ्ग सिद्ध करना है। तो शेषके चार भङ्ग सिद्ध करनेमें वे ही हेतु समर्थ है जिनसे प्रथम, द्वितीय, तृतीय भङ्ग सिद्ध किया गया है। वस्तु विशेष प्रतिषेध्यात्मक है, इस कथनसे तृतीय भङ्गकी सिद्धि की गई है। अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है यह तृतीयभङ्ग, तब वह सिद्ध करता है कि वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है। ये तीन भङ्ग वक्तव्य हैं और स्वतु वक्तव्य हैं। तो जब ये वक्तव्य हैं तो वक्तव्यत्व धर्म अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है। वक्तव्यका प्रतिषेध्य है अवक्तव्य सो इससे ध्वनित होता है कि वस्तु स्यात् अवक्तव्य है इस तरह चतुर्थभङ्ग इन ही हेतुओसे सिद्ध करना चाहिये।

पूर्वोक्त हेतुओसे ही शेष भङ्गोकी सिद्धिका विवरण शेष भगोको सिद्ध करने के लिए इस कारिका मे जो यह 'यथोक्तनययोगत" यह जो हेतु बताया गया है अर्थात् उक्त हेतुओं के योगसे तो इससे वे सब हेतु ग्रहण कर लिए जाते हैं, विशेषण-त्वात् विशेष्यत्वात् अभिधेयत्वात वस्तुत्वात। इन चार हेतुओसे शेष भगोंकी भी सिद्धि होती है, इस कारणसे प्रकृत्य आदिक भी किसी एक धर्मके साथ, जो कि अपने से विरुद्ध हो याने वक्तव्यपने के स्वभावके साथ अविनाभावी सिद्ध होता है अर्थात् किसी धर्मीमें अवक्तव्यत्व-धर्म है, क्योकि वक्तव्यपना भी अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है अर्थात् प्रथम जो तीन भग हैं—स्यात अस्ति स्यात नास्ति स्यात अस्ति नास्ति, ये वक्तव्य कहलाते हैं और यदि अवक्तव्य कहलाते हैं और यदि अवक्तव्य है तो वक्तव्य हो तभी वक्तव्य की बात कही जा सकती है। और अब वक्तव्यपना वक्तव्यत्व के साथ अविनाभावी है याने वक्तव्य को गौण करके अवक्तव्यको ही प्रधानतया कहा जाता है। तो वक्तव्यके तीन धर्म हैं, उनके विरुद्ध है अवक्तव्यपना। तो इस तरह

वाला पदार्थ हो तो वह अर्थक्रियाका करने वाला नही है, क्यों नही है ? इसका कारण सुनो ! सप्तभङ्गीमे अर्थात् स्याद्वादमे जो वस्तु विधि और प्रतिषेधमें समारूढ है अर्थात् जो कथंचित् सत् स्वरूप है कथंचित् असत् स्वरूप है वही वस्तु अर्थक्रिया कर सकता है अर्थात् वही परिणमन कर सकने वाला होता है। कथंचित् सत् हो वही पदार्थ ही तो कारण सामग्रीमे अपने स्वभावमें अतिशय उत्पन्न कर सकता है।

कथंचित् सत्त्व असत्त्वसे व्यवस्थित वस्तुमे अर्थक्रिया बननेका उदाहरण—जैसे कि स्वर्ण है, अब स्वर्ण चूँकि सत् है तभी तो अनेक कारण सामग्री मिलनेपर उसमे आभूषणोंकी रचना बन सकती है स्वर्णत्वकी दृष्टिसे स्वर्ण सत् ही है, और केयूर कङ्कण आदिक आभूषणोंके आकार दृष्टिसे वह असत् है, याने उस स्वर्णमे अभी कोई आभूषण नही बने हैं। तो आभूषणोंके आकारकी दृष्टिसे असत्त्व है और स्वर्णत्वकी दृष्टिमे सत्त्व है। अब वे स्वर्ण केयूर आदि आभूषणोरूप परिणमनेकी शक्ति रखते हैं और जितनी अन्य सामग्री है, कारण हैं नियत जिन कारणोसे उस स्वर्णके आभूषण बना दिए जाते हैं तो उन सब सामग्रीयोंमे और चूँकि स्वर्ण स्वर्णकी उपादान सामग्रीमें उन आभूषणों रूप परिणमनेकी शक्ति है और फिर स्वर्णको बनाने वाले स्वर्णकारका व्यापार हुआ अनुकूल क्रिया सम्पन्न हथौडा आदिक ये बाह्य सामग्रियाँ मिलीं। तो जैसे स्वर्णमे आभूषणरूप परिणमनेकी शक्ति है यह तो है अन्तरङ्ग सामग्री और स्वर्णकार उस प्रकारका व्यापार करे और हथौड़ा आदिकका व्यापार करे तो ये सब हैं बाह्य सामग्री। तो ये सब बाह्य सामग्री जब इकट्ठी होती है, समर्थ कारण बनते हैं, तो वे स्वर्ण केयूर आदिक आभूषणोके आकार रूपसे उत्पन्न हो जाते हैं।

उदाहरणपूर्वक कथंचित् विधिविशेषात्मक वस्तुमे अर्थक्रियाकी सिद्धि
स्वर्णकेयूरादि उदाहरणकी तरह समस्त वस्तुओकी बात समझना चाहिए कि सत् असत् स्वरूप होकर ही पदार्थ अर्थक्रियाका करने वाला है। पदार्थमें परिणमन हुआ तो उस परिणमनको द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तो सत् कहेंगे और पर्यायार्थिक दृष्टिसे असत् कहेंगे। उस प्रकारके परिणमनकी योग्यता द्रव्यमें है और चूँकि वह द्रव्य पहिले था, वही द्रव्य अब है, तो यों द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत् बना और पर्यायार्थिक दृष्टिसे वह परिणमन अभी नही है, अब हो गया तो असत् ही हुआ। ऐसे जीवादिक समस्त पदार्थोंमें सत् असत् स्वरूप घटा लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं माना जाता है याने सत् असत्का एकान्त करनेपर उसमे अर्थक्रिया नही बन सकती। जैसे उसी स्वर्णमे सोचिये कि क्या केयूर आभूषण सर्वथा सत् है अथवा असत् है ? यदि सर्वथा सत् कहोगे तो फिर उनके बनानेकी आवश्यकता क्या रही ? क्यों स्वर्णकार वहाँ अपना व्यापार करेंगे ? वे आभूषण तो सत् ही हैं। तो प्रतीति प्रमाणित नही करती यह बात कि केयूर आदि आभूषण वहाँ सर्वथा सत् हैं। यदि कहा जाय कि सर्वथा असत् ही आभूषण बना है

न सर्वथा विधिरूप है और न सर्वथा निषेधरूप है तो सर्वथा सत्त्व असत्त्व आदिकसे अनवस्थित होता हुआ ही यह अनेकात्मक पदार्थ अर्थ क्रियाकारी होता है और सप्त-भङ्गीके भेदसे युक्त होता है अन्य प्रकारसे नहीं। अर्थात् यदि सर्वथा विधिरूप हो तो न सप्तभङ्गीके प्रकार बनेंगे और न वह वस्तु किसीकी परिणतिको कर सकेगा। इसी तरह सर्वथा असत्त्व आदिके माननेपर भी यही आपत्ति है। तो विधि निषेधसे अनव-स्थित पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी होता है अन्य प्रकारसे नहीं। इस तरह अपने पक्षका साधन और पर पक्षका दूषण बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं।

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥ २१ ॥

सर्वथा विधि निषेधके धर्मोंसे अनवस्थित वस्तुकी अर्थकृत्ताका वर्णन—इस प्रकार विधि और निषेधसे अनवस्थित पदार्थ अर्थक्रियाका करने वाला है अर्थात् जो पदार्थ सर्वथा है, ऐसा नहीं है, सर्वथा नहीं है ऐसा भी नहीं है, सर्वथा विधि निषेध धर्मसे अनवस्थित है वही पदार्थ परिणमन करने वाला होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो युक्तिसंगत व्यवस्था न बनेगी। जैसे कि कार्य यदि सर्वथा सत् ही माना जाय या सर्वथा असत् ही माना जाय तो वह अपने सहकारी और उपादान कारणसे उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसका विवरण इस प्रकार है कि यदि सर्वथा सत् ही कार्य माना जाय कि यह कार्य तो पहिलेसे अनादिसे ही है, वही किया गया तो सर्वथा सद्भूत कार्य में कार्य शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता, उपकार ही क्या है? जब था ही पहिलेसे तो वह रचा ही क्या गया है? इसी प्रकार यदि सर्वथा असत् हो कार्य है किसी भी दृष्टिसे उसका सत्त्व नहीं है। यों हो कि द्रव्य भी कुछ नहीं है और असत् ही कुछ बन गया है तो ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि सर्वथा असत् कार्य बनने लगे तो सर्वथा असत् आकाशपुष्प आदिक भी निर्मित होने लगें। तो सर्वथा सद्भूत या सर्वथा असद्भूत जैसे कार्य बनता नहीं है, कार्यकारी नहीं है इसी प्रकार सर्वथा सत् और सर्वथा असत् पदार्थ भी कार्यकारी नहीं हो सकता।

कथंचिद् विधिनिषेधसे अवस्थित न किये गए वस्तुमें अर्थकारिताका अभाव—अथवा इस कारिकाका द्वितीय अर्थ लीजिए! जो कथंचित् विधि और निषेधसे अनवस्थित् पदार्थ है वह कार्यकारी नहीं होता याने जिसमें कथंचित् विधि रूप कथंचित् निषेधरूपकी सिद्धि नहीं है वह पदार्थ कार्यकारी नहीं बनता। जैसे कि कार्य बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग उपाधिसे विशिष्ट यदि स्याद्वाद पद्धतिका न हो तो वह कार्यकारी नहीं होता। सर्वथा निरंश वस्तुमें कोई भी विशेषण नहीं बन सकता याने जिसमें उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं, किसी प्रकारका परिणमन नहीं है, उसमें किसी भी प्रकारकी अर्थक्रिया नहीं बनती। सत्त्व असत्त्व आदिकमेंसे किसी एक ही भङ्गमें रहने

रूपमे पहिलेसे सत् है तब बन गया। यदि सर्वथा ही असत्का घडा बन जाय तब तो कल्पनामात्रमे अथवा यों ही आकाशमे हाथ पैर चलाकर घडा तैयार कर दिया जाना चाहिए, पर ऐसा कहीं होता नही है। तो सर्वथा असत् घडेकी उत्पत्ति नही हुई। और कोई कहे कि वह सर्वथा सत् ही था जैसे कि सत्कार्यवादी दार्शनिक मानते हैं कि प्रत्येक कार्य उस द्रव्यमे सदा काल रहते हैं, कारणके द्वारा केवल उन कार्योंका व्यक्त कारण होता है, पर वह कार्य सदा काल है। तो भाई जो सदा काल है उसका फिर करना क्या? जैसे अनेक चीजें कमरेमे रखी हैं और उनपर कपडेका आवरण पडा है तो आवरण हटानेसे कोई चीजें नही बन गई। चीजे तो बनी हुई पहिले थी, तो यों ही सर्वथा सत्को कार्यकारी बताया जाय तो वह कार्य ही नहीं बन सकता। इस कारण अनेकान्तमें ही अर्थक्रिया सम्भव होती है।

उत्पत्त्यादिमान पदार्थकी प्रमाणप्रसिद्धता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि उत्पत्ति आदिक तो किया ही नही है, क्योंकि क्षणिक पदार्थकी उत्पत्ति आदिक असम्भव है और इसी कारण क्रियारूपत्वात् यह हेतु असिद्ध है, अभी तो यह सिद्ध करने के लिए कि निराधार उत्पत्ति और विनाश नही होता है इसमें हेतु दिया गया है क्रियारूपत्वात् तो क्रियारूपपना क्षणिक पदार्थमे सम्भव ही नही है। अतः हेतु असिद्ध है। अतः उससे अनुमानकी सिद्धि नही होती। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि क्षणिकवादका यह वक्तव्य सगत नही है क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे ये वचन विरुद्ध हो रहे हैं, चक्षुजन्य ज्ञानमे उत्पत्तिमान पदार्थका बराबर प्रतिभास हो रहा है। यदि इन सब जनोंका चक्षु इन्द्रिय द्वारा यह सब न दिख रहा हो कि यह पदार्थ नष्ट हुआ, अब उत्पन्न हुआ और वहीका वही जातिमें रहा, ऐसा न दिखता हो तो किसीसे पूछकर बताओ। सभी लोग साव्यवहारिक प्रत्यक्षका ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि पदार्थ उत्पत्तिमान है विलयमान है। और भी देखिये! निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानमे उत्पत्ति विनाश और स्थिति क्रियारहित केवल सत्तामात्रका प्रतिभास होना यह बाधित है। जो लोग यह मानते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानमे एक सिर्फ निर्विशेषण सत् ही जाना जा रहा है कि उत्पत्ति विनाश स्थिति आदिक विशेषण कुछ नही विदित होते हैं तो ऐसे उनके मतव्यमे बाधा आती है। बाधा यों आती है कि यदि दर्शनके द्वारा उत्पत्ति सहित सत्ताका बोध न हो तो फिर विकल्पज्ञानमे उन उत्पत्ति आदिकसे विशिष्ट अर्थका ज्ञान न होना चाहिए, क्योंकि जैसा देखा जाता है वैसा ही उसका निर्णय होता है। यदि दड और पुरुषका सम्बन्ध न देखा हो तो यह पुरुष दडी है, डडा वाला है यह विकल्प नही होता। तो इसी तरह यदि दर्शनसे उत्पत्त्यादियुक्त उत्पन्न पदार्थ न देखा जाता हो तो उसके पीछे होने वाले सविकल्प ज्ञानके द्वारा भी ये पदार्थ उत्पत्ति मान है, ऐसा निर्णय नही हो सकता।

शंकासमाधानपूर्वक उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त पदार्थकी सिद्धि—अब शंका-

तो मिट्टी पत्थर आदिकमे आभूषण क्यो नही बन जाता ? कोई पत्थरको ही हथौड़ामे पीटे पाटे और कोई उसे स्वर्णका आभूषण बनाना चाहे तो क्या वहाँ स्वर्णका आभूषण बन सकेगा ? नही बन सकता अथवा किसी आधार बिना ह केयूरादिक नहीं बन सकता । तब समझना चाहिए कि सर्वथा असत् भी आभूषण नही किया गया जा सर्वथा सत् बताते उसकी फिर उत्पत्ति ही क्या है ? फिर कारणकी अपेक्षा भी क्यो की जायगी ? और, यदि सर्वथा असत् कार्य माना जायगा तो जो सर्वथा असत् है उस को भी उत्पत्ति बन नही सकती । और जो सर्वथा अनुत्पन्न है उसमे न स्थिति बताई जा सकेगी न व्यय बताया जा सकेगा । क्योंकि सर्वथा असत् होनेसे आकाशपुष्पकी तरह । जैसे आकाशपुष्प सर्वथा असत् है तो उसकी न ध्रुवता है न उसका व्यय है, क्योकि वह उत्पन्न ही नही है । तो सर्वथा असत्की उत्पत्ति स्थिति ध्रौव्य ये कुछ भी नही बन सकते हैं इस कारण सत्त्वके एकान्तमे और असत्त्वके एकान्तमे किसी भी प्रकारसे अर्थक्रिया सम्भव नही होती है ।

द्रव्यरूपसे सत् व पर्यायरूपसे असत् कार्यका उत्पाद होनेका सिद्धान्त शंकाकार कहता है कि ऐसा मान लीजिए कि सामग्रीके पहिले तो वह कार्य अविद्यमान है । यो अविद्यमान कार्यकी उत्पत्ति हुई है ऐसा मान लेनेमें कौनसा दोष आता है ? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा मानते हुए शंकाकार यदि यह मान रहे हैं कि वहाँ निरन्वय विनाश नहीं है तब तो सत् और असत्के एकान्तका अभाव आ जायगा क्योंकि इस मान्यतामें यही बात सिद्ध होती है कि सामग्रीके पहिले वह कार्य अविद्यमान तो है लेकिन जहाँ वह कार्य बनेगा उसका अन्वय बना हुआ है । वह एक पदार्थ है जिसमें कि परिणमन हुआ करता है । सत् एकान्तका और असत् एकान्तका यहाँ अभाव हो सिद्ध हो जायगा । देखिये ! सामग्रीका निरन्वय विनाश माननेपर जब वह निष्कारण होगया तो उस प्रकारसे उत्पत्ति हो न सकेगी याने स्वर्ण जैसा आभूषण ही बने यह बात तब ही तो मानी जा सकती है जब कि स्वर्णका अन्वय माना जाय स्वर्णत्वका अन्वय न माननेपर उस स्वर्णके प्रसगमें अन्य प्रकारके कार्य क्यो न बन जायेंगे ? यदि उसे निष्कारण माना तब तो घट पट सदेह रूप जिस चाहे कार्यकी उत्पत्ति हो जाय, पर निराधार न तो उत्पत्ति हो सकती और न व्यय हो सकता क्यो कि उत्पन्न होना और व्यय होना यह एक कार्य है, क्रियारूप है स्थितिकी तरह । जैसे कि कोई चीज ध्रुव रहती है तो वह निराधार तो नही है कोई द्रव्य ही तो है जिसकी कि ध्रुवता हो रही है । इसी प्रकार जिसका उत्पाद व्यय बन रहा है वह वस्तु निराधार तो नहीं है, मूलभूत द्रव्य है तब उसमें उत्पाद व्यय चल रहा है । यही बात लौकिक दृष्टान्तमे भी प्रत्यक्षसे दिखती है कि उपादान कारण ध्रुव है और बाह्य सामग्रीके मिलनेपर उसमे उत्पाद और व्यय होता है । जैसे मिट्टी पहिलेसे है उसको सानकर पिण्ड बनाकर चाकपर रखकर कुम्हारने घडा बनाया तो वह घडा सर्वथा असद्भूत नही बन गया । द्रव्यरूपसे वह था याने जो घडा बना वह वस्तु मिट्टी

क्रिया निराधार नहीं है उसका आधार है और क्रियाका जो आधारभूत हो वही द्रव्य कहलाता है और वह द्रव्य नित्य है वही उत्पत्तिव्ययध्रौव्ययुक्त है। उक्त विवरणसे यह बात सिद्ध होती है कि जो पहिले असत् हो सर्वथा, उसको भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। द्रव्य दृष्टिसे वह मूलमे है कुछ तब उसको उस धारामें उत्पत्ति हुई है। यदि शंकाकार यह पक्ष ग्रहण करे कि निरन्वय अविनाश होनेपर अथवा सान्वय रहकर विनाश होनेपर तो यह कहा जा सकेगा कि पहिले जो असत् था उसकी ही उत्पत्ति हुई है। तो उत्तरमे कहते है कि ऐसा पक्ष करनेपर तो स्याद्वादका ही आश्रय लिया गया समझिये ! क्योंकि इसमे असत् कार्यवादका विरोध किया गया है। यहाँ कथंचित् प्रायः सब पदार्थकी ही उत्पत्ति हुई मानी गई है। इस कारण यह वचन पूर्ण युक्तिसगत है कि एकान्तसे सत् और असत् उत्पत्ति नही कर सकते हैं। किसी पदार्थको यदि सत् ही मान लिया जाय तो वहाँ उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और किसी पदार्थको सर्वथा असत् ही मान लिया जाय तो भी उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे एकान्तसे सत् है आकाश। वह तो है ही, शुरु से है अन्त तक रहेगा और उसमे परिवर्तन भी क्या हो रहा है ? तो एकान्तसे सत् आकाशकी उत्पत्ति क्या ? और वन्ध्यापुत्र आकाश कुसुम, ये एकान्तसे असत् हैं, सर्वथा असत् हैं तो उनकी उत्पत्ति क्या ? तो जो एकान्तसे सत् हो अथवा एकान्तसे असत् हो वह उत्पन्न हो नही सकता। जैसे कि आकाश और वन्ध्यापुत्र यह जो उदाहरण दिया गया है वह उदाहरण सही है क्योंकि यहाँ साध्य और साधनकी विकलता नही है।

द्रव्यार्थिकनयसे अनुत्पद्यमान वस्तुमे अर्थक्रियाकी सिद्धि– अब यहाँ शंकाकार कहता है कि फिर इस समय अनुत्पन्न आकाश आदिककी स्थिति कैसे मान ली जावेगी जब कि अभी यह नियम बनाया गया था कि जो अनुत्पन्न हो उसको स्थिति और विनाश नही होता। तो आकाश तो उत्पन्न होता नही और यहाँ अनुमान में भी यह सिद्ध कर दिया गया कि आकाश उत्पन्न होता नही तो अनुत्पन्न आकाशकी स्थिति कैसे रहेगी ? उत्तरमें कहते हैं कि हमने आकाश आदिकका सर्वथा अनुत्पाद स्वीकार नही किया है। हाँ इस समय जो उदाहरणमें कहा है कि सर्वथा सत् आकाश है और उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि द्रव्यनयकी अपेक्षासे हमने इस प्रकार आकाशका उदाहरण दिया है, अथवा लौकिक जनोंकी प्रसिद्धिके द्वारा हमने आकाशका उदाहरण दिया है। लोग भी मानते हैं कि आकाशमे परिवर्तन नहीं होता और वह कभी उत्पन्न नहीं होता है। तो लोककी प्रसिद्धिके अनुसार आकाशका उदाहरण दिया, इस कारण यहाँ पूर्वापर विरोध नही आता। पहिले तो जो सर्वथा अनुत्पत्तिमान है उसकी स्थितिका निषेध सिद्ध किया था किन्तु जो कथंचित् अनुत्पत्ति मात्र है उसका प्रतिषेध नहीं है। जो द्रव्यार्थिकनयापेक्षया अनुत्पन्न नहीं हो अनुत्पद्यमान हो उसकी ही तो स्थिति सम्भव है और यह बात केवल आकाशमें ही क्या घटित करते हो, सभी पदार्थोंमे यह घटित होगा कि द्रव्य दृष्टिसे सभी पदार्थ

कार कहता है कि पदार्थमे यद्यपि उत्पत्ति आदि का दर्शन नही होता। तो उत्पत्ति आदिकका दर्शन न होनेपर भी उस प्रकारकी जो पूर्व वासना है उत्पत्ति मात्र आदि समझते रहनेका जो पूर्व संस्कार है उस पूर्व वासनाके वशमे उत्पत्ति विशिष्ट विकल्प होता है कि यह पदार्थ उत्पत्तिमान है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि इस तरह यदि वासनाके कारणसे ही विकल्प मान लिया जाय और वास्तवमे पदार्थमे वह बात न हो तो यह भी कहा जा सकता कि नीलादिक पदार्थ के और सुखादिकके दर्शन न होनेपर भी केवल वासनाकी वजहसे ही नील है यह सुख है यहाँ मैं सुखी हूँ आदिक विकल्प बनाये जा सकते हैं फिर तो नीलक्षण और सुखादिक की व्यवस्था भी नहीं की जा सकती कि यह सुख है, यह नील है, यह अन्य है आदिक कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। शंकाकार यदि यह कहे कि व्यवस्थाका विरोध होता हो तो हो और नीलादिक विकल्प भी हो जायें हम तो वहाँ निरालम्बन विज्ञान मात्र मानते हैं। जो ज्ञान होता है वह आलम्बनसे रहित है। उत्तरमें कहते हैं कि निरालम्बन विज्ञान मात्र माननेपर भी यह कहा जा सकता है कि अन्य सतानोंमे नीलादिक पूर्वापर क्षणका ज्ञान न होनेपर भी और निज सतानमें सुख दिक क्षणो का ज्ञान न होनेपर भी उस प्रकारके विकल्प वासनावश बन जायेंगे, क्योकि अब तो निरालम्बन ज्ञान ही मान लिया तो फिर उस विकल्पकी भी व्यवस्था कैसे बनेगी ? यदि शकाकार यह कहता हो कि उस विकल्पकी व्यवस्था नही बनती तो मत बनो हम तो एक ज्ञान मात्र ही मानते हैं तत्त्व, तो इसके उत्तरमें सुनो ! यदि ज्ञानाद्वैत मात्र ही तत्त्व माना जाय तो वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि यह ज्ञानाद्वैत स्वरूप केवल वासनाके बलसे हुए प्रतिभासमें आ रहा है। वस्तुत: ज्ञानाद्वैत है नहीं। तो यो ज्ञानाद्वैतके अभावमें भी उसकी वासनाके वशसे ज्ञानस्वरूपका प्रतिभास हो रहा है यह कहा जा सकता है। तब तो फिर उस सत्‌स्वरूपकी स्वत गति न बनी। अर्थात् उस सम्वित् स्वरूपका स्वत ज्ञान नही हुआ, किन्तु वासनाके बलपर ज्ञान हुआ है। तो वह भी परमार्थ तत्त्व न रहेगा। यदि शकाकार यह कहे कि वह ज्ञानस्वरूप तो सत् है, उस सत् ज्ञानस्वरूपका उस प्रकारकी वासनाके बिना ही स्वत परिचय हुआ है। उसमें वासनाके बलसे ही काम हुआ, यह नहीं कहा जायगा, उसका ज्ञान सचमुच हुआ है। तो इसके उत्तरमें भी यह निर्णय बन सकेगा कि निज सतानमे जो सुख आदिक पूर्व उत्तर परिणमन हैं, क्षण हैं और बाह्य सतानोमें जो नील पीत आदिक अर्थ हैं अथवा पदार्थोंकी उत्पत्ति विनाश स्थिति रूप जो क्रिया विशेष है वह भी सत् है और उन सतोका ही दर्शन हुआ है और तब उस प्रकारके विकल्प उत्पन्न होना युक्त है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य निराधार न हो सकनेसे सदसदात्मक वस्तुमें अर्थक्रियाकी सिद्धि—जब उत्पत्ति आदिक क्रिया है यह बात सिद्ध हो गई तो प्रकृत बात जो यह कही जा रही थी कि निराधार उत्पत्ति विनाश नही होते क्रियारूप होनेसे तो उत्पत्ति आदिकका क्रियापना सिद्ध हो गया है, सो इससे यह भी सिद्ध हो गया कि

सुनयार्पित अंशकी अर्थक्रियाकारिता सिद्ध करते हुए शंकाका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सुनयसे अर्पित अर्थात् विवक्षित जो विध है प्रतिषेधका निराकरण करने वाली नहीं है। जो प्रतिषेधका जिसने निराकरण नहीं किया ऐसी विधिको अर्थक्रियाकारी माना ही गया है। अन्यथा अर्थात् यदि प्रतिषेध निरपेक्ष अस्तित्वका अर्थक्रियाकारी मान लिया याने ऐसे सत्त्वको जो पररूपसे असत्त्व की अपेक्षा नहीं रखते ऐसे सत्त्वको यदि अर्थक्रियाकारी मान लिया जाय तो वह दुर्नयका अर्पित सत्त्व कहा जायगा। तो शंकाकारका यह कहना कि सुनयसे जो विवक्षित विधि अंश है वह यदि अर्थक्रियाकारी हो जाता है तो इस ही घटनासे हेतु का व्यभिचार आयगा। सो यह बात कहना युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि सुनयसे विधि अंश भी अर्थक्रियाका करने वाला है क्योंकि उसने अपने प्रतिपक्षी प्रतिषेधका निराकरण नहीं किया है और यह बात स्यात् शब्दसे ध्वनित है। इस विधिसे, अस्तित्वने सप्तभङ्गोंकी विधिमें ही अपना स्वरूप रखा है। सप्तभङ्गोंकी पद्धतिमें ही वह प्रविष्ट है, क्योंकि इस विधिमें प्रतिषेधका निराकरण नहीं किया। तो विधि सप्तभंगीकी पद्धतिमें प्रविष्ट है, ऐसा माननेपर अनवस्था भी नहीं बतायी जा सकती। क्योंकि उस विधिमें अन्य विधिकी कल्पना नहीं उत्पन्न होती। पदार्थ स्वरूपसे सत् है ऐसा समझकर अब उस स्वरूप सत्त्वमें अन्य सत्त्वकी कल्पना नहीं उठती है। जो प्रथम बार सत्त्वकी समझ आयी तो वह समझ ही है।

सुनयसे सर्व धर्मोंका और प्रमाणसे ग्रहण करनेपर प्रमाण और नयमें अविशेषताके प्रसंगकी शंका और उसका समाधान—यहाँ शंकाकार कहता है कि सुनयसे विवक्षित जो अंश है वह अन्य अंशोंका निराकरण जब नहीं करता तब एक साथ सर्वभंगोंमें नय विषयत्व प्राप्त हो जायगा और तब फिर नय और प्रमाणमें कोई भेद न रह सकेगा। अथवा प्रमाणका अर्थ यही तो करते हैं कि सर्व धर्मोंका ज्ञान करना वस्तुके अनेक धर्मोंका ज्ञान करना सो प्रमाण है और सुनयमें भी यही किया गया कि सुनयसे अर्पित जो भी एक अंश है उस ज्ञानमें अन्य भङ्गका निराकरण न करना, इसका भाव यही तो है कि अन्य भङ्गका भी बोध किया गया है उस सुनयमें, तो अब नय और प्रमाणके स्वरूपमें भेद क्या रहा? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि विधि भङ्गमें अर्थात् सप्त भङ्गोंकी पद्धतिमें जो प्रथम भङ्ग बना है स्याद् अस्ति तो इस भङ्गमें नास्तित्व आदिक जो अन्य भङ्ग हैं वे गौण किए गए हैं और सत्त्वकी प्रधानता की गई है और जब सप्तभङ्गी पद्धतिमें द्वितीय भङ्गकी बात कही जाती है अर्थात् नास्तित्व बताया जाता है तो उस भङ्गमें अस्तित्वादिक अन्य भङ्गोंको गौण कर दिया जाता है और उस प्रतिषेधको प्रधानता की जाती है। यों नयलक्षण प्रमाणलक्षणसे अलग ही है। क्या बना अब नयका लक्षण कि प्रमाणमें अर्पित तो है प्रधान रूपसे अशेष भङ्ग स्वरूप वस्तु। सो वह तो है प्रमाण वाक्य और नय वाक्यमें एक अंश प्रधान है, अन्य अंश गौण है, यों प्रमाणमें और नयमें अन्तर आता है। तात्पर्य यह

उत्पन्न नहीं होते केवल पर्यायदृष्टिमे ही उत्पत्ति विनाश माना गया है, इस कारण जो अर्थ क्रियाकारी है वह विधि और प्रतिषेधकी कल्पनासे कल्पित सप्तभंगीके विधानमे आरूढ होता हुआ जो विधिके एकान्तमें अनवस्थित है और निषेधक एकान्तसे भी अनवस्थित है वह अर्थकारी होती है। तात्पर्य यह है कि जो भी पदार्थ सर्वथा सत् रूपसे अवस्थित न हो, सर्वथा असत्रूपसे अवस्थित नहीं। सर्वथा असत्रूपसे अव-स्थित नहीं वही परिणमन कर सकता है। सत्त्व और असत्त्वके एकान्त माननेपर वहाँ सर्वथा अर्थक्रियाका विरोध है ऐसा इस कारिकाका अभिप्राय है और इससे यह सिद्ध किया है कि जगतमे जो भी पदार्थ होते हैं वे समस्त पदार्थ कथंचित् विधि और निषेधसे अवस्थित हैं अर्थात् कथंचित सत् है कथंचित असत् है ऐसा तो कहा जा सकेगा, पर सर्वथा सत और सर्वथा असत नहीं बताया जा सकता।

सुनयार्पित विध्यंश व निषेधांशकी भाँति सर्वथा सत् या असत्में अर्थ क्रिया हो सकनेकी आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि सुनयमें जो विव-क्षित है विधि अंश अथवा निषेध अंश वह अर्थक्रियाकारी है या नहीं? यदि अर्थ क्रियाकारी मानते हैं अर्थात् सुनयसे जाने गए सत्त्व या असत्त्व ये अर्थक्रियाकारी बताये जावें, तब तो इससे ही हेतु व्यभिचारी बन जायगा हेतु दिया गया है कि सर्वथा सत और असतमें अर्थक्रियाका विरोध है, लेकिन विधि अंशमें और निषेध अंश में तो अर्थक्रिया मान ली गई तो दूसरे दर्शनोंके लिए जो सत्कार्यवादी हैं या असत् कार्यवादी हैं उन्हें दोष दिया जाय और यहाँ स्याद्वाद शासनमें सुनयकी विवक्षासे जानी गई विधि अंशको अर्थक्रियाकारी बता रहे हैं उन्हें दोष नहीं दिया जाता अथवा सुनयसे ही असत्त्वांश बताया जाय वहाँ भी दोष नहीं देते हैं। तो हेतु व्यभिचारी है इससे यह सिद्ध न किया जा सकेगा कि सर्वथा सत और सर्वथा असत पदार्थमें अर्थ-क्रिया नहीं हो सकती। जैसे स्याद्वाद शासनमें द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जाने गए विधि अंशमें अर्थक्रिया होती है और निषेध अंशमे अर्थक्रिया होती है इसी प्रकार सर्वथा सत असतमे अर्थक्रिया बन जायगी। जिस विधि अंशको या जिस निषेध अंशको अर्थक्रिया-कारी मान लिया गया वह सप्तभंगीविधिमें समारूढ नहीं है, वह तो एक दृष्टिसे एक धर्म वाली बात है। यदि एक सत्त्व अंशमें अथवा असत्त्व अंशमे सप्तभंगीपना लाद दिया जाए तो प्रत्येक एक एक भंगमें सप्तभंगी आ पड़ेगी फिर अनवस्था हो जावेगी। अतः विध्यंश और निषेधांशको अर्थक्रियाकारी नहीं मान सकते। और विध्यंश व निषेधांशको अर्थक्रियाकारी न माननेपर यह सिद्ध हो बैठेगा कि सुनय अवस्तुको विषय करता है, क्योंकि जो अर्थक्रियाकारी हो उसे ही वस्तु माना है। विध्यंश और निषे-धांश अर्थक्रियाकारी तो हैं नहीं तो अवस्तु सिद्ध हुए और इन्हें जाना सुनयोंने तो निष्कर्ष यह निकला कि सुनय अवस्तुको विषय करता है। इस प्रकार निरंशवादीने सर्वथा सत् या असत् एकान्तमें अर्थक्रियाका विरोध है,' इस सिद्धान्तमें बाधा उप-स्थित करनेके लिये शंका की है।

रहा है कि इत्यादिक धर्मोंका धर्मीके साथ उपकार्य उपकारक भावरूप सम्बन्ध अगर मानते हो तो यह बताओ कि धर्मीके द्वारा धर्मोंका उपकार किया गया या धर्मोंके द्वारा धर्मीका उपकार किया गया ? जैसे जीव वस्तु तो धर्मी है. उसमें धर्म सिद्ध किए जा रहे हैं और स्वरूपसत्त्व पररूपासत्त्व ये सब धर्म हैं तो ये धर्म जीवके हैं यह सिद्ध करने के लिए उपकार्य उपकारक भावकी बात की जा रही है, तो जीव वस्तुके द्वारा उन सत्त्व असत्त्वोंका उपकार किया गया या सत्त्व असत्त्वोंके द्वारा जीवका उपकार किया गया ? यदि कहो कि धर्मीके द्वारा धर्मोंका उपकार किया गया तो धर्मी क्या एक शक्तिसे धर्मोंका उपकार करता है या अनेक शक्तियोंसे याने जीव वस्तु उन सत्त्व असत्त्वोंका उपकार एक शक्तिसे ही कर डालता है या अनेक शक्तियोंसे कर पाता है ? यदि कहो कि एक शक्तिसे ही जो कि उस धर्मीसे अभिन्न है, उस ही शक्तिसे धर्मी धर्मोंका उपकार करता है तब तो यही बात आयी कि एक धर्मके द्वारा अर्थात् सत्त्व धर्मके द्वारा नाना धर्मोंके उपकारमें निमित्तभूत शक्तिके बलसे धर्मी आत्माकी प्रतिपत्ति की गई है। यहाँ जानकारी एक उपकार कहा जा सकता है या अन्य कुछ बात होना भी उपकार कहा जा सकता है। तो अब नाना धर्मोंका उपकार करनेमें निमित्तभूत शक्तिके द्वारा एक धर्मके माध्यमसे धर्मी आत्माका ज्ञान कर लिया गया तो उसके द्वारा उपकार्य जो समस्त धर्म समूह हैं उनकी भी प्रतिपत्ति हो जायगी। फिर तो समस्त धर्मोंका परिचय हो गया। यदि कहो कि भले ही एक धर्मके माध्यमसे धर्मीकी प्रतिपत्ति हो गई लेकिन वहाँ उपकार्यकी प्रतीति नहीं हुई अर्थात् उपकार किया जाता है सब धर्मोंका तो वहाँ सब धर्मोंकी जानकारी नहीं हो पायी है, तो कहते हैं कि जब उपकार्य धर्मोंकी प्रतीति भी सम्भव नहीं हो सकती। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि धर्मी एक शक्तिके द्वारा उन समस्त धर्मोंका उपकार करता है। यदि कहो कि अपने स्वरूपमें अभिन्न अनेक शक्तियोंके द्वारा धर्मी धर्मोंका उपकार करता है तो यहाँपर भी वही बात सोच लीजिए कि अनेक धर्मोंके माध्यमसे इस धर्मीकी जानकारी हुई तब जानकारी हो ही गई। फिर भिन्न-भिन्न धर्मोंका समूहका प्रयोजन क्या ? और उन उन उपकारक समस्त धर्मोंकी प्रतीति नहीं होती तो उसके उपकारक इस एक जीवादिक वस्तु धर्मीकी भी प्रतीति नहीं बन सकती।

धर्मोंका धर्मीके साथ उपकार्य उपकारक सम्बन्ध माननेके प्रसंगमें धर्मों द्वारा धर्मीके उपकारकी असिद्धिका शंकाकारका कथन—अब शंकाकार दूसरे पक्षको लेकर उलाहना दे रहा है कि यदि यह कहा जाय कि स्वरूपके द्वारा धर्मोंके द्वारा धर्मीका उपकार होता है अर्थात् स्वरूप सत्त्व पररूपासत्त्व आदिक जो अनेक धर्म हैं उन धर्मोंके द्वारा जीवादिक वस्तु धर्मी उपकृत होते हैं तो इस पक्षमें यह बतायें कि एकोपकार्य शक्ति वाला आत्मा वहाँ धर्मोंके द्वारा उपकृत हो रहा है या अनेकोपकार्यशक्ति वाला आत्मा उन धर्मोंके द्वारा उपकृत होता है ? दोनों ही पक्षोंमें यह बात पूछनेपर समस्त धर्म समूहका जो कि इस समय उपकारक बन रहे हैं उनका

है कि प्रमाण वाक्यमें तो सभी अंश प्रधान होते हैं और नय वाक्यमें जिसको बोला गया है स्पष्ट करके वह तो प्रधान होता है और अन्य अंश गौण होते हैं। यदि उन गौण अंशोंका निराकरण कर दे तब तो वह दुर्नय कहलाता है और अंशोंका निराकरण न करे तो वह सुनय कहलाता है। यों सुनय और प्रमाणमें अन्तर है, किन्तु जैसे प्रमाणसे जानी हुई वस्तुमें अर्थक्रिया सिद्ध करते हैं उसी प्रकार सुनयसे प्रतिपन्न वस्तुमें भी अर्थक्रियाकी बात सिद्ध होती है।

प्रथम भङ्गसे ही वस्तुका ग्रहण हो जानेसे शेष भङ्गोंके कथनकी निरर्थकताकी आशंका — अब शंकाकार कहता है कि देखिये! जीवादिक वस्तुवोंमें सत्त्वके कथनसे जो कि प्रथम भङ्गमें बताया गया है उस सत्त्वके कथनसे जब समग्र वस्तुको जान लिया गया याने प्रथम भङ्ग सत्त्वके द्वारा जीवादिक वस्तुको समझ लिया गया है तब द्वितीय आदिक भङ्गोंका कहना अनर्थक है। जीव सत् है। अब समझ तो लिया सत्, कमी क्या रही? अब द्वितीय भङ्गोंका बोलना किस प्रयोजनके लिए है? असत्त्व आदिक जो धर्म हैं जिनको द्वितीय आदिक भङ्गोंमें बोला जा रहा है वे तादात्म्य रूपसे ही तो हैं याने जीव सत् है इसी रूप तो अजीवकी अपेक्षा असत् है यह बात बनी। तो वह असत्त्व उस सत्त्वसे तन्मय है, कोई भिन्न चीज तो नहीं है। तब प्रथम भङ्गने ही उस जीव वस्तुकी प्रतिपत्ति करा दी। यदि स्वरूप सत्त्वको पररूप असत्त्वसे तन्मय न माना जाय, असत्त्वादिक धर्मोंको यदि इस प्रथम भङ्गसे भिन्न मान लिया जाय तो यह धर्म वस्तुसे भिन्न पड़ जायगा कि जीवमें स्वरूप सत्त्व है वह तो ठीक है अर्थात् पररूप असत्त्व इस जीवसे भिन्न है और अन्य-अन्य भङ्गोंमें बताये गए धर्म भी जीव वस्तुसे भिन्न हैं। यदि अभिन्न हैं तो जब जीवमें सभी भङ्ग अभेद रूपसे रह रहे हैं तो भङ्गोंसे भङ्ग भी अभेद हो गए तब अन्य भङ्गोंके कथन करनेका कोई प्रयोजन न रहा। तो अन्य भङ्गोंमें प्रथम भङ्गोंसे तन्मय माननेपर तो द्वितीय आदिक भङ्गोंका कहना व्यर्थ है और यदि उन भङ्गोंका पृथक मानते हो तो वे वस्तुसे अलग हो जायेंगे क्योंकि अब उनमें विरुद्ध धर्मका अध्यास हो रहा है। धर्मी वस्तुकी प्रतीति जो है वह उन धर्मोंकी प्रतीति नहीं कहलाती। वस्तुका परिणाम अन्य रूपसे है। जैसे कपड़ा और और पिशाच। जब इनमें विरुद्ध धर्म हैं तब अभिन्नता कैसे कही जायगी? और, जब भिन्न भिन्न मान लिया धर्मोंको तो यह धर्म इन धर्मोंकी तरह है ऐसा व्यपदेश भी तो न बन सकेगा। कैसे यह निश्चय कराया जा सकेगा कि स्वरूप सत्त्व पररूपासत्त्व आदिक धर्म इस जीवके हैं क्योंकि उस वस्तुसे इन धर्मोंका अब सम्बन्ध ही नहीं मान रहे।

धर्मोंका धर्मीसे उपकार्य उपकारक सम्बन्ध माननेके प्रसंगमें धर्मी द्वारा धर्मके उपकारकी असिद्धिका शङ्काकारका कथन — यदि सैद्धान्तिक लोग इन धर्मोंका धर्मी के साथ सम्बन्ध माननेकी बात कहें तो उस प्रसंगमें शंकाकार कह

का अङ्गित्व होनेपर शेष धर्मोंकी अङ्गता होनेसे सभी भङ्गोके कथनकी सार्थकता बनाते हुए उक्त शंकाओंका समाधान—अनन्त धर्मात्मक धर्मीके धर्म धर्ममें, प्रत्येक धर्ममें जुदे-जुदे ही प्रयोजन हैं, अतएव उन सब धर्मोंका निरूपण करना आवश्यक है। अब यहाँ यह एक रहस्य समझ लीजिए कि उन सब धर्मोंमें जिस किसी भी धर्मका वर्णन किया जाय लक्ष्यमें लिया जाय तो वह उस समय बन गया अंगी धर्मी, और, उस एक धर्मको धर्मी मान लिए जानेपर शेष जो धर्म हैं उनमें सिद्ध होता है इसका धर्मपना। जैसे एक जीव वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मोंमेंसे जब एक स्वरूपसत्त्वका वर्णन किया जा रहा है, स्वरूपसत्त्वको दृष्टिमें लिया जा रहा है तो इस स्थितिमें अब स्वरूप सत्त्व अंगी बन गया। इसकी सिद्धि बनायी जा रही है। तो स्वरूपसत्त्वका समर्थन पररूपके असत्त्वसे मिलता है ना। तो अब पररूपका जो असत्त्व है वह स्वरूपसत्त्व अङ्गीका धर्म बन गया। तो धर्मी धर्मीकी व्यवस्था लक्ष्य और लक्षणोपर निर्भर है। यहाँ धर्मीका अर्थ है अनन्त धर्मात्मक पदार्थ इसके लिए अनुमान प्रयोग किया जाता है कि अनन्त धर्मात्मक जीवादिक पदार्थ धर्मी है प्रमेयत्व होनेसे। यदि जीवादिक अनन्त धर्मात्मक-सत् धर्मी न कहलायें तो इनकी प्रमेयता नहीं बन सकती है। तो चूंकि ये अनन्त धर्मात्मक जीवादिक पदार्थ प्रमेय हैं प्रमाणके विषयभूत हैं इस कारण ये वस्तु सब धर्मी कहलाते हैं। जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह ही प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक सत् ही होता है।

धर्मीको अनन्त धर्मात्मक सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतुको व्यभिचरित बतानेका शंकाकारका प्रयास—शंकाकार कहता है कि जो अभी अनुमान प्रयोग किया गया है कि जीवादिक पदार्थ धर्मी अनन्त धर्मात्मक हैं प्रमेयत्व होनेसे तो इस हेतुका धर्मके साथ व्यभिचार होता है क्योंकि धर्म प्रमेय तो है परन्तु अनन्त धर्मात्मक नहीं है। हेतु तो पाया गया पर साध्य नहीं पाया गया। यदि धर्मको भी अनन्तधर्मा सिद्धकर दोगे तो धर्म तो अभी धर्मी बन गया। जो अनन्त धर्मात्मक है उस ही को तो धर्मी कहते हैं। सो अब यह धर्म तो धर्मी बन गया, तब धर्म नाम इसका न रहा और जब धर्म न रहा तो धर्मके अभावमें धर्मी भी कुछ नहीं कहलाता, यों दोनोका अभाव हो गया। यों "प्रमेयत्व होनेसे" यह हेतु सदोष है, यदि कहो कि प्रमेयत्व जो साधन धर्म है अर्थात् हेतुरूपसे प्रयोग किया गया धर्म है वह अनन्त धर्मोंसे शून्य है, तो ऐसा माननेपर लो अब तो इस प्रमेयत्वके साथ ही अनैकान्तिक दोष हो गया। प्रमेयत्व हेतु" प्रमेय तो है परन्तु अनन्त धर्मात्मक नहीं है। हेतु पाया जाय और साध्य न पाया जाय इसीको तो अनैकान्तिक दोष कहते हैं। यदि इस प्रमेयत्वको भी अनन्तधर्मा मान लोगे तो यह प्रमेयत्व भी धर्मी बन गया। जो अनन्त धर्मात्मक होता है वह धर्मी कहलाता है। तो अब इस प्रमेयत्वके धर्मी हो जानेके कारण यह पक्षमें गिना जायगा। जो धर्मी है उसे पक्ष पक्ष कहते हैं तो फिर प्रमेय

ज्ञान अगर नहीं होता तो उपकार्यशक्ति स्वरूप धर्मीका भी ज्ञान नहीं हो सकता। यही बात क्षणिकवाद सिद्धान्तमें बतायी गई है कि नाना सत्वादिक धर्मोंके उपकार की कारणभूत शक्तिसे अभिन्न स्वरूप जिसका है ऐसे धर्मीका अगर ग्रहण हो गया तब फिर उस धर्मीके द्वारा उपकार्य अनेक धर्मोंका उन धर्मोंसे कोई भेद न रहा तो जब यों एकात्मता आ जाती है तब अनेक भंगोंका कहना निरर्थक है।

धर्मोंकी उपकारिका व उपकार्या शक्तियोंको धर्मीसे भिन्न माननेपर उपकारकी असिद्धिका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—अब शंकाकार पूछ रहा है कि धर्मोंका उपकार करने वाली शक्तियाँ और उपकार्य जो बन रही हैं ये शक्तियाँ उस समय उन शक्तियोंके द्वारा उस धर्मीका कोई उपकार अथवा उस धर्मीके द्वारा उन धर्मियोंका कोई उपकार किया जाता तब तो यह सम्बन्ध भी नहीं बताया जा सकता। व्यपदेश भी नहीं किया जा सकता कि ये धर्मीकी शक्तियाँ हैं ये जीवके धर्म हैं। यदि कहो कि धर्मीका जो उपकार हुआ है वह शक्तियोंसे अभिन्न है तो अभिन्नका अर्थ है वही, तो शक्तियोंने वही कर दिया तो शक्तिमान कोई चीज न रही। क्योंकि जो शक्तिमान वस्तु धर्मी है वह तो शक्तियोंका कार्य बन गया। तो शक्तियोंका कार्य होनेसे वे शक्तियाँ ही कहलायेंगी। शक्तिमान कोई जीवादिक वस्तु धर्मी न कहला सकेंगे। और फिर यदि उन शक्तियोंसे शक्तिमानको भिन्न मानते हो और फिर ऐसी अभिन्न शक्तियोंके द्वारा शक्तिमान उपकार किया गया है तो अनवस्था दोष आयगा, क्योंकि शक्तियोंके द्वारा किया हुआ उपकार है यह किस तरहसे कहा जायगा? यदि कहो कि अन्य प्रकारसे सिद्ध कर लिया जायगा तो वह उपकार भी भिन्न है। तो यों उपकारान्तर मानते चले जाना पड़ेगा, कहीं भी विराम नहीं हो सकता। यों अनवस्था दोष आयगा। शक्तिमानके द्वारा शक्तियोंका उपकार किए जानेपर भी अन्य अन्य शक्तियोंका विकल्प बना रहना पड़ेगा। तो यों भी अनवस्था दोष है क्योंकि अन्य अन्य शक्त्यन्तरका अथवा उपकारान्तरका जब निर्णय न बना-ओगे तो पहिली शक्ति और पहिले उपकारका भी निर्णय न हो सकेगा। तब इन सब प्रकरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि शक्ति और शक्तिमानका व्यवहार नहीं बनता। तब मूल बात शंकाकारकी यह है कि जीव स्वरूपसे सत् है उसमें अपना स्वलक्षण है, इस ही बातसे जब जीव वस्तु सिद्ध हो गई तो प्रथम भंगसे ही धर्मीकी जानकारी बन चुकनेपर फिर द्वितीय आदिक भंगोंका कहना अनर्थक है। इस प्रकार अनेक भंगोंकी सिद्धिमें बाधा देने वाली समस्त शंकाओंका निराकरण करते हुए आचार्य देव कहते हैं।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥२२॥

धर्मीके प्रत्येक धर्ममें अन्य अन्य प्रयोजन होनेसे तथा किसी एक धर्म

धार बन जाता है। प्रमेयत्व भी प्रमेय नहीं है, किन्तु नय विषयका आधार होनेसे नय है। अतः इस प्रमेयत्व हेतुका जो कि जीवको अनन्त धर्मात्मक सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त किया गया है उसका न तो धर्मके साथ व्यभिचार है और न प्रमेयत्व साधन धर्मके साथ व्यभिचार है। हाँ प्रमाणका विषयभूत जो प्रमेयत्व हेतु है वह अपने धर्म की अपेक्षासे अनन्त धर्मात्मक है और धर्मी है। एक अन्य धर्मकी अपेक्षासे प्रमेयत्व धर्मी बन गया, इस कारण प्रमेयत्वको पक्षमें यदि प्रविष्ट करते हो तो कर दीजिए, विवक्षानुसार वह पक्ष बन जायगा, पर पक्ष बन जानेपर भी प्रमेयत्वमें हेतुपनेका व्याघात नहीं है, क्योंकि स्वपर पदार्थोंका अनन्तधर्मत्व साध्य है वहाँ प्रमेयत्व हेतु बन सकता है अन्यथा अर्थात् प्रमेय और पदार्थ ये अनन्त धर्मात्मक न हो तो प्रमेयत्व साधन की उपपत्ति नहीं बन सकती। स्व और पर आत्मा मेरा शब्द द्वारा वाच्य स्व और जीवादिक पदार्थ ये स्वयं अनन्त धर्मात्मक हैं और ऐसा ही साध्य बनानेमें ये हेतु समर्थ हो रहे हैं इस कारण धर्मी अनन्त धर्मात्मक है, अथवा जो अनन्त धर्मात्मक है वह धर्मी है यह बात निर्दोष रूपसे सिद्ध होती ही है यहाँ तक अनन्त धर्माधर्मी इस शब्द की व्याख्या की गई है।

प्रत्येक धर्ममें प्रयोजनभेद व धर्म धर्मीकी कथंचिद्भेदाभेदात्मकता होनेसे भेदाभेदात्मक वस्तुमें विरोधादिका अनवकाश—अब इस कारिकाकी द्वितीय वार्ता कर रहे हैं उस अनन्त धर्मात्मक धर्मीके प्रत्येक धर्ममें अस्तित्व नास्तित्व आदिक प्रत्येक धर्ममें भिन्न भिन्न प्रयोजन है। जैसे सत्त्व धर्मका प्रयोजन विधान है असत्त्व धर्म का प्रयोजन प्रतिषेध है उन्हीं धर्मोंका प्रयोजन प्रवृत्ति निवृत्ति, अज्ञानविच्छेद आदिक अनेक हैं, किन्तु एक ही प्रयोजन नहीं है जिससे कि यह कहा जाय कि प्रथम भंगसे ही वस्तुका परिचय हो जाता है अतएव शेष धर्मोंका कहना अनर्थक है। तब प्रत्येक धर्मके द्वारा जो परिचय कराया जाता है वह भिन्न-भिन्न प्रयोजनमें हैं तो समग्र प्रयोजन वाला अनन्त धर्मात्मक धर्मी एक धर्मके कथन द्वारा ही कैसे कह लिया जायगा। अतः अन्य धर्मोंका कहना सार्थक है अनर्थक नहीं। धर्म धर्मीसे न तो अभिन्न ही है और न भिन्न ही है अर्थात् न तो अनर्थान्तर है कि वही मात्र अर्थ है और न अर्थान्तर है कि यह धर्म कुछ इन धर्मोंसे भिन्न बन गया हो तो जब धर्म धर्मीसे न भिन्न है न अभिन्न है सर्वथा तो इन दोनों पक्षोंमें दिये जाने वाले दूषणोंका यहाँ अवकाश नहीं है। धर्मी और धर्म ये कथंचित् भेदाभेदात्मक हैं सो भेदाभेदात्मक वस्तु आत्मस्वरूप है। जैसे चित्राकार और चित्राकारका एक सम्वेदन जैसे चित्र द्वैतवादमें यह बताया गया है कि ज्ञानक्षण एक है परन्तु उसमें अनेक चित्राकार हैं अनन्त पदार्थ जो ग्रहणमें आते हैं, उन सबका आकार है सो पूछा जाय कि उस ज्ञानमें जो अनेक आकार पड़े हुए हैं वे भिन्न हैं या अभिन्न तो वहाँ सर्वथा कुछ कहा न जा सकेगा। यदि वह चित्राकार एक ज्ञानसे भिन्न है तो वह चित्र सम्वेदन ही क्या कहलायेगा? और, यदि अभिन्न है तो भी चित्र सम्वेदन

त्व हेतु न रहेगा यों भी प्रमेयत्व हेतु दूषित हेतु है। उससे पदार्थको अनन्त धार्मिकता सिद्ध नहीं होती। उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि क्षणिकवादियों द्वारा दिया गया यह उपालम्भ समीचीन नहीं है क्योंकि धर्मीके अतिरिक्त कुछ भी हो किसीके भी सर्वथा धर्मत्व ही रहे यह नियम नहीं है। अर्थात् धर्म भी किसी दृष्टिसे धर्मी बन जाता है। तो किसी भावमें सर्वथा धर्मपना ही रहा जब यह नियम न रहा तो प्रमेयत्व हेतु का धर्मके साथ व्यभिचार न रहेगा। देखिये जो स्वधर्मोंकी अपेक्षासे सत्वादिक धर्म हैं वह ही अपने धर्मान्तरकी अपेक्षासे धर्मी बन जाता है, जैसे प्रमेयत्व अथवा सत्व ये धर्मी जीवादिक पदार्थोंकी अपेक्षासे धर्म है पर जब इस सत्वका लक्ष्य करके इस सत्व की विशेषता बताने लगे कि सत्व किसे कहते हैं सत्वमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है, अब यों अनेक विशेषोंका वर्णन करने लगे तो वह ही सत्व अब धर्मी बन गया तो स्व-धर्मोंकी अपेक्षासे सत्वादिक धर्म हैं और सत्वादिक अन्य धर्मोंकी अपेक्षासे सत्वादिक धर्मी है तो यों सत्वादिक अनन्त धर्मात्मक सिद्ध हो जाते हैं। फिर प्रमेयत्व हेतु के व्यभिचारका कोई अवकाश नहीं रहता, इस प्रसंगमें यह आशंका न रखना चाहिए कि फिर तो यह अनवस्थित नामक दोष आ जायगा। जब धर्म को ही अनन्त धर्मात्मक धर्मी कह दिया तो उसके जो धर्म होंगे वे भी धर्मी बन जायेंगे फिर उसका धर्म भी धर्मी बन जायगा। यों तो अनवस्था दोष आ जायगा। ऐसी आशंका न रखना चाहिए, क्योंकि धर्म और धर्मीके स्वभाव भेदका व्यवहार अनादि अनन्त है किसी वृत्तवलयकी तरह जैसे उसके सभी भाग पूर्व और अपर कहलाते हैं अथवा अभव्यके संसारकी तरह अनादि अनन्त है धर्म धर्मीके स्वभाव भेदका व्यवहार तो अब जिसका लक्ष्य किया उसका और उस लक्ष्यकी अपेक्षा बस दोनोंका सम्बन्ध रहा और वहां सिद्ध होने वाला स्वभाव भेद व्यवहारमें आ गया वहां अनवस्थाका क्या अवकाश ?

धर्म और प्रमेयत्व नयके विषयभूत होनेसे अनित्य धर्माधर्मीके साध्य करनेमें प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतुकी अव्यभिचारिता होनेके कारण अनन्तधर्मधर्मीकी सिद्धि— अब यहां शंकाकार कहता है कि देखिये! जीवादिक पदार्थोंसे पृथक किया गया धर्म प्रमेय बन गया ना। तो जब पृथक किया गया सत्वादिक धर्म स्वतन्त्र बन गया तो वह प्रमेय हो जायगा, स्वतन्त्र एक वस्तु बन जायगा ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि धर्मी जीवादिकसे पृथक समझा गया धर्म प्रमेय नहीं हो जाता क्योंकि वह धर्म नयविशेषका विषयभूत है, प्रमाणका विषयभूत नहीं है। एक वस्तु जो अनन्त धर्मात्मक है उसका परिचय तो प्रमाणसे मिला। अब उस वस्तुके जो सत्वादिक अंग हैं वे अंश नयके विषयभूत हैं अतएव वे धर्म प्रमेय नहीं है, किन्तु नय हैं नयके विषय-भूत हैं, इसी कारण प्रमेयत्व हेतुका उस धर्मके साथ अनैकान्तिक दोष नहीं होता, क्यों कि धर्म प्रमेय नहीं है, किन्तु नय है। इस ही कथनसे यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रमेयत्व धर्म भी खुद नयका विषयभूत है। तो प्रमेयत्व धर्म भी नय बना, वह प्रमेय नहीं बना जिससे कि यह कहा जाय कि लो उस प्रमेयत्वके साथ ही इस हेतुका व्यभि-

अनुमान या आगम आदिक निरर्थक हो जायेंगे क्योंकि जो दर्शन और सविकल्प ज्ञानके द्वारा पदार्थ ग्रहण किया गया था उस ही का ग्रहण अन्य प्रमाणसे हो रहा है। वह किस प्रकार उसका वर्णन सुनो।

प्रत्युपाधि स्वभावभेद न माननेपर स्वार्थानुमानकी निरर्थकता—जब शब्दादिकका साक्षात् प्रतिभास कर लिया गया अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा शब्दादिकका दर्शन किया, प्रतिभास किया तो उस शब्दके बारेमे फिर क्षणिकपनेको सिद्ध करनेके लिए अनुमान बनाते हैं सो न बन सकेगा क्योंकि जब शब्दको निर्विकल्प प्रत्यक्षसे जान लिया तो फिर गृहीत हो गया। अब गृहीतका ग्रहण फिर अनुमान द्वारा प्रत्यक्षसे जान लिया तो फिर गृहीत हो गया। अब गृहीतका ग्रहण फिर अनुमान द्वारा कराया जाता है। तो ग्रहीत ग्रहण होनेसे वह अप्रमाण हो जायगा। तो अब शब्द शब्दके बारेमे स्वार्थानुमानका प्रयोग नही हो सकता। अथवा किसी भी तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए स्वार्थानुमानका प्रयोग बन ही न सकेगा, क्योंकि जिस विषयको स्वार्थानुमानसे सिद्ध किया जा रहा उसका तो ज्ञान पहिले दर्शन और सविकल्प ज्ञानसे ही हो चुका था। धर्मीके ज्ञान होनेपर अब कोई ऐसा स्वभाव नही रहा जो जाना न गया हो। ऐसी स्थितिमे कोई साध्य ही नही हो सकता है। शकाकारके यहाँ दो ख्याल थे एक तो यह कि पदार्थमे स्वभावभेद नही होता। दूसरे यह कि पदार्थको दर्शन आदिकके द्वारा जब प्रतिभाससे ले लिया तो उसका कोई सा भी स्वभाव अज्ञात न रहा, सब कुछ ज्ञात हो गया और इसी कारण पदार्थमे यह स्वभावभेद भी नही बन सकता। तो इसीके उत्तरमे कहा जा रहा है कि किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर फिर वहाँ कोई अप्रतिपन्न स्वभाव रहा हो नही, तो अब किसे सिद्ध करना है? दूसरा कारण यह है कि स्वभावमें अतिशय किसी भी प्रकार नही माना गया है इस कारण स्वार्थानुमानकी सिद्धि नही हो सकती।

प्रत्युपाधि स्वभावभेद न माननेपर परार्थानुमानकी निरर्थकता—अब परार्थानुमानकी बात सुनो। परार्थानुमान होता है वचनात्मक स्वार्थानुमानसे तो स्वयका प्रतिबोध कराया जाता है और परार्थानुमानसे दूसरेको प्रतिबोध कराया जाता है। तो वचनात्मक जो परार्थानुमान है वह भी सिद्ध नही हो सकता, क्योंकि जब अनुमान प्रयोग चलेंगे तो सबसे पहिले धर्मीको कहना पड़ता। जैसे यह पर्वत अग्निमान है धूमवान होनेसे तो यहाँ यह पर्वत इस । अश धर्मी कहलाता है, पक्ष कहलाता है। तो जब धर्मीका प्रथम बोलना बना तो धर्मीके कथनमात्रसे ही साध्यका निर्देश सिद्ध हो जायगा क्योंकि शङ्काकारने यह माना है कि पदार्थका किसी भी प्रकार ज्ञान हो तो वहाँ सर्व अशोका अवयवका ज्ञान हो जाता है। तो जब पर्वत इतना जाना गया तो अग्निमान है आदिक जो भी विशेषण हो सकते हैं सबका ज्ञान हो जायगा। साधन धर्मीर वचनमात्रसे साध्यका निर्देश बन जाता है, अतः परार्थानुमान

क्या कहलायेगा ? तो जैसे भिन्न और अभिन्नताके परे किसी जात्यन्तर रूपमें चित्रा-कार एक सम्वेदनको मानना है इसी प्रकार भेदाभेदात्मक वस्तु भी एक जात्यन्तर रूप है। भेदाभेदात्मक वस्तुमें विरोध आदिकको कोई अवकाश नहीं है।

अन्यतम धर्मकी प्रङ्गता होनेपर शेष धर्मोंकी प्रङ्गता और प्रति धर्मकी अपेक्षा धर्मीमें स्वभाव भेदका वर्णन—अब यहाँ तीसरी बात परखिये जिसका कि संकेत इस कारिकामें किया गया है कि उन अस्तित्वादिक धर्मोंमेंसे जो एक वस्तुमें पाये जाते हैं उनमेंसे कोई भी धर्म लो, उस धर्मको जब प्रधानता दी, उसको एक अंगी रूपमें निरखा तो उस समय स्यात् शब्दसे सूचित अन्य धर्म उसके अंग बन जावेंगे अर्थात् अन्य धर्मोंकी गौणता हो जाती है। और उसको स्पष्ट कहनेसे उस धर्मकी प्रधानता हो जाती है। क्योंकि जानने वालेकी इच्छा विशेषके अनुसार ऐसी ही विवक्षा बनी है। ऐसा ही उसने लक्ष्यमें लिया है और ऐसी ही विवक्षा बनी है। ऐसा ही कहनेकी प्रवृत्ति बनी है तो यहाँ यह निर्णय समझ लेना चाहिए कि एक भंगके बोलनेपर अन्य भंगोंका बोलना निरर्थक नहीं होता। समस्त धर्मोंका प्रयोग युक्त ही है क्योंकि प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। जो धर्म बोला गया है उस धर्मका प्रधान रूपसे परिचय हुआ है और शेष धर्मोंका वहाँ गौणरूपसे परिज्ञान है इस कारण अन्य धर्मोंका प्रयोग करना युक्त ही है। इन सब कारणोंसे धर्मी के प्रत्येक धर्मकी दृष्टिसे कथंचित् स्वभावभेद सिद्ध हो जाता है। जिस नयका विषय होनेसे धर्ममें नयत्व स्वभाव आया प्रमाणका विषय होनेसे प्रमेयत्व स्वभाव आया वही धर्म जब अगौणरूपसे विवक्षित हुआ तो वह प्रमाणका विषय बन गया। जो धर्म ग्रहणमें आया उसकी अपेक्षासे गृहीतत्व स्वभाव बना। जो धर्म ग्रहणमें न आया उसकी अपेक्षासे अगृहीतत्व स्वभाव बना यों धर्मीमें प्रत्येक धर्मकी दृष्टिसे कथंचित् स्वभाव भेद सिद्ध होता है।

प्रत्युपाधि स्वभावभेद न माननेपर प्रमाणान्तरकी अनुपपत्तिका प्रसङ्ग—यदि प्रत्येक धर्मके प्रसंगमें परमार्थतः स्वभावभेद न माना जाय तो जो पदार्थ दृष्ट हुआ है अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा प्रतिभात हुआ है अथवा जो अवगाहित बन गया है फिर उस पदार्थके सम्बन्धमें अनुमान आदिक अन्य प्रमाणोंका कहना अथवा अन्य वचनोंका बोलना निरर्थक हो जायगा, क्योंकि वस्तुमें निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा पहिले ही ग्रहण कर लिया गया। तो अब अन्य प्रमाणसे ग्रहण करनेपर ग्रहीत ग्रहणका दोष आता है अर्थात् प्रमाण द्वारा ग्रहीत किए गए तत्त्वका ही ग्रहण किया है, और पुनरुक्त दोष भी आता है तो इसके दोष को दूर करनेके लिए जैसे उस स्वलक्षणमें भी स्वभावभेद मानना पड़ेगा ऐसे ही धर्मीके प्रत्येक धर्मके प्रसंग में भी स्वभावभेद मान लेना चाहिये। यदि परमार्थसे धर्म धर्मके प्रति स्वभावभेद न माना जाय ज्ञानके द्वारा ज्ञान किया जानेपर फिर उस पदार्थको जाननेके लिए

निरर्थक है यह कहना उचित नही रहा ऐसा निरशवादी कहे तो उसका समाधान सुनो कि जब धर्मी मात्र अभ्रान्तिमे निर्बाध सिद्ध हो गया तो अब साध्य स्वभावमे भी भ्रान्ति नही रह सकती । यदि साध्यमें भ्रान्तिम मान ली जाय तो फिर साधन मे भी भ्रान्ति आ पडेगी । जैसे कहते कि शब्द क्षणिक है सत्व होनेसे तो शब्दकी क्षणिकतामे भ्रम हो गया उसको दूर करनेके लिए अनुमान प्रयोग बताते तो शब्द को सत्तामे भी भ्रम हो गया तो भ्रान्त साधनसे तो पदार्थका निश्चय न होगा । तो अनुमान प्रयोग यो भी न बन पायगा । और यदि शब्दके सत्वमें निर्णय समझते हो कि शब्दका सत्व तो निश्चत है व भ्रान्ति नही हुई है तो शब्दके अनित्यपनमे भी क्यो अनिश्चय बताते ? जब हो शब्दका निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभास हुआ वैसे ह अनित्यपना भी जान लिया गया उस पदार्थके सम्बन्धमे जितने भ धर्म और गुण है वे सब जान लिए गए । यदि नहीं जान लिए गए तो स्वभावका अतिशय फिर मानना ही पडेगा कि कोई धर्म नही जाना गया । अग जाना गया । अब जाना गया । तो अब शब्दमे कोई विशेषता समझी गई । यदि निश्चित धर्मका और अनिश्चित धर्मका जैसे कि साधनको तो निश्चित माना और साध्यको अनिश्चित माना तो ये दोनो ही एक स्वभाव वाले हो जायें स्वभाव भेद न माना जाय तो इसमे तो व्यवहार हा बिगड जायगा । अत्यन्त भिन्न पदार्थ भी एक हो बैठेंगे - कपडा और पिशाच ये दोनो भी एक हो जायेंगे, इस कारण स्वभावभेद प्रति धर्म अपेक्षासे वस्तुमे है, यह न माननेपर अनेक प्रकारकी विडम्बनायें बन जायेंगी ।

स्वभावभेद प्रतिधर्म अपेक्षास होनमे अनेक विडम्बनाये —अब यहाँ शकाकार कहता है कि यद्यपि पदार्थमे स्वत: स्वभावका अतिशय नही है, स्वभावभेद नही है तो भी विजातीय भेदके कारण स्वभावका अतिशय बन जायगा । याने अन्य व्यावृत्तिसे या विजातीय जो उसके प्रतिपक्षी हैं अनेक पदार्थ उनके भेदके कारण स्वभावमे अतिशय हो जायगा, पर स्वभावातिशय पदार्थमे स्वत. नही है तब परमार्थत: जो सिद्धान्त बताया है उसका घात न होगा । तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि फिर देखिये —सत्व उत्पत्ति एव कृतकत्व आदिक जो हेतु कहे जाते है उनमें स्वत कोई प्रतिपक्ष स्वभाव विशेष तो रहा नही, याने सत्वका प्रतिपक्ष स्वभाव हुआ असत्व । उत्पत्तिका प्रतिपक्ष स्वभाव हुआ अनुत्पत्ति कृतकत्वका प्रतिपक्ष स्वभाव हुआ अकृतकत्व तो प्रतिपक्ष स्वभाव विशेष तो माना नही, तब, यह कल्पना भी कैसे बन जायगी कि जितने पररूप हैं, जितने विजातीय है उतने ही वहाँ व्यावृत्तिया हैं । जैसे एक घट पदार्थका कहना है तो घटके अलावा लोकमे जितने भी पदार्थ हैं, हैं वे सब अनन्त पदार्थ । तो उन प्रत्येक पदार्थोंकी घटमें व्यावृत्ति है अर्थात् घटमे सारे ही अन्य अनन्त पदार्थ नहीं हैं, तो जितने भी पर पदार्थ है उनकी व्यावृत्ति है इस कारणसे वहा स्वभावभेद बन जायगा, यह कल्पना भी नही बन सकती, क्योंकि जब घटमें

का प्रयोग करना गृहीत ग्रहण है इस कारण अप्रमाण होगा। धर्मीका एक बार जब वचन कह दिया गया तो फिर उसमें कुछ भी सिद्धि करना पुनरुक्त कहलायगा। क्योंकि इससे जब जान लिया पहिले या जिस किसी भी धर्मीको प्रथम जान लिया तो जान लिया। अब उसमें स्वभावका अतिशय तो हो नहीं सकता। शंकाकार स्वयं यह मानता है कि पदार्थमें स्वयं भेद नहीं है। जो पहिली बार परखा सो परखा ही गया। उसमें कोई गृहीत ग्रहण हो ऐसा भेद नहीं हुआ करता। तो इन सब कारणों से अनुमान आदिक प्रमाणोंका प्रयोग करना निरर्थक हो जायगा।

अनन्त धर्मात्मक धर्मीका निर्णय —यदि प्रमाणान्तरोंकी निरर्थकताके दोषसे बचना है तो यह मानना होगा कि पदार्थमें धर्म धर्मके प्रति स्वभावभेद पड़ा हुआ है और जब स्वभावभेद है तो वहाँ अनन्त धर्म सिद्ध होते हैं। फिर उन अनन्त धर्मोंमें प्रत्येक धर्मके परिज्ञानका प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। और तब वहाँ जिस किसी भी धर्मको लक्ष्यमें लेते हैं तो वह प्रधान बनता है और शेष जो गौण धर्म हैं वे अङ्ग कहलाने लगते हैं इस बातमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। तो उक्त विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ निरंश नहीं है सावयव है सांश है अनन्त धर्मात्मक है। इसी प्रकार निरंशवादियोंका यह कहना भी बिना विचारे हुआ है कि जब पदार्थ निरंश है तो किसी भी पदार्थको जब देख लिया निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा विषयभूत हो गया तो उसके सारे धर्म ही जान लिए गए देख लिए गए, क्योंकि पदार्थ निरंश है। पदार्थको जाननेपर सब कुछ जान लिया, वहाँ यह जाना गया और यह धर्म नहीं जाना गया यह भेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो उनने अंश और धर्म है ही नहीं। केवल निरंश पदार्थके सम्बन्धमें भ्रान्ति रहती है उसका कारण निश्चय नहीं हो पाता तब साधनकी प्रवृत्ति होती है और अनुमान प्रयोग बनता है, ऐसा निरंशवादियोंका कहना बिना विचारे ही कहना है, क्योंकि जो स्वभाव देख लिया गया, जिस पदार्थका निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा प्रतिभास हो गया उसमें यदि स्वभावका अतिशय नहीं मानते तो समस्त गुणोंके साधनका विरोध होता है। समस्त गुण क्या ? जब स्वभावमें कोई अतिशय नहीं मानते, भेद ही नहीं मानते तो 'सारे गुण" यह कहना ही स्ववचन बाधित है।

अनन्त धर्मा धर्मीमें स्वभावातिशय न माननेपर विडम्बनाका दिग्दर्शन —यदि यहाँ निरंशवादी यह कहे कि समस्त गुणोंके दर्शनको विरुद्ध कैसे कहा जा रहा है ? जितने दृष्ट अर्थमें और समस्त गुण वाले धर्मी मात्रमें अभ्रान्ति है तो उतने रूपसे धर्मीमें अभ्रान्ति है, पर समस्त गुणोंमें अभ्रान्ति नहीं है। एक धर्मीको जान लिया तो धर्मी मात्रके जाननेमें कोई भ्रम नहीं है पर उसके जो समस्त गुण हैं उन गुणोंमें भ्रान्ति हो सकती है और उस गुणकी सिद्धिके लिए फिर अनुमान बनाना सार्थक होता है, इसलिए समस्त गुणोंके दर्शन हो ही गये और अनुमान प्रयोग करना

कहलाया है प्र त्व इसी तरह अन्य उत्पत्तिवानपना न रहे उसे कहते हैं उत्पत्तिमान। ऐसा उत्पत्तिमान ही कुछ अनुत्पत्तिमान शब्दसे कहा जाता है इसीतरह कृतक ही अकृतक कहा जाता है अर्थात् उसमे कृतकान्तर न हो इसी प्रकार वस्त्वान्तरसे रहित वस्तु ही अवस्तु कही जाती है तो यह सब व्यवहार जो चल रहा है वह सब निषेधकी प्रधानतासे व्यवस्थित पद थ चलता है।

उक्त कथनमे भी सत्त्वादिक वस्तु धर्मोकी सिद्धि बताते हुए शकाका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि इस कथनमे भी तो परमार्थसे सत्त्वादिक वस्तु स्वभाव भेदोकी सिद्धि हो जाती है खुद ही कहा है कि अन्य वस्तुओका सत् नही है ना वही विवक्षित वस्तु असत् है। तो आखिर उस वस्तुमे सत्त्व हो असत्त्व हो यह स्वभाव तो आना ही गया। जो स्वभाव भेद सिद्ध हो जाता है, जिसमे स्वभाव भेद न हो उसे वस्तु रूप ही माननेसे विरोध आता है माना भी कैसे जायगा। जो स्वभाव सत् हैं, उनमे गौणभाव और प्रधानभाव बनता है। जैसे कि शरीर॰ अग हैं शिर और पैर तो उनमे गौण और प्रधानभाव बन जायगा। शिरकी प्रधानता है पैरकी गौणता है। तो जो सत् स्वरूप है ऐसे स्वभावमे तो गौणभाव और प्रधानभाव बन जाता है, किन्तु जो असत् हो, खरगोशके सीग आकाशके पुष्प आदिक इनमे गौण और प्रधान भाव बनाया कैसे जा सकेगा ? इस कारण कल्पना किए गए अन्यापोहके द्वारा धर्मान्तरकी व्यवस्था बनोना अनर्थक प्रलाप मात्र है। जैसे असत्त्वकी व्यवस्था यो बनायी जाती है निरशवादमें कि अन्य वस्तुका सत्त्व इस विवक्षितमे नही है, यही असत्त्व कहलाया। तो केवल कल्पित व्यावृत्ति मात्रसे धर्मान्तरकी व्यवस्था बताना यह केवल प्रलाप मात्र है। जो विवक्षित वस्तु है वह ही स्वय अपने स्वरूपमे है और पररूपसे नही है। इसमे अस्तित्वकी तरह नास्तित्व धर्म भी व्यवस्थित है। यो न माना जाय तो वस्तुके स्वभावका अभाव ही बन जायगा। फिर तो जिस किसी भी बातके लिए कुछका कुछ कहा जा सकता। यो भी कहा जा सकता कि वस्तु कोई चीज न ी होती अवस्तुकी व्यावृत्तिसे वस्तु नामका व्यवहार होता है। और व्यावृत्ति बतानेके लिए कल्पित वस्तु व्यावृत्तिसे अवस्तुका व्यवहार माना गया है।

परस्पराश्रयता बताकर उक्त उपालम्भकी व्यावृत्ति बतानेमे शकाकारके इष्टकी असिद्धि— यहा शकाकार कहता है कि यह उपालम्भ देना कि यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु कोई चीज नही है वस्तुका तो अवस्तुकी व्यावृत्तिसे व्यवहार होता है और कल्पित वस्तुकी व्यावृत्तिसे अवस्तुका व्यवहार बनता है, ऐसा उपालम्भ देना यो सगत नही बनता कि इसमे परस्पर आश्रयपणका दोष आयगा। अवस्तु व्यावृत्तिसे वस्तुका व्यवहार बनाया और वस्तुकी व्यावृत्तिसे अवस्तुका व्यवहार बनाया तो इस कथनमे परस्पर आश्रयका दोष हो गया। जब वस्तु व्यवहार सिद्ध हो ले तो अवस्तु व्यवहार बने। जब अवस्तु व्यवहार बने तब वस्तु व्यवहार बने तो ऐसा इतरे-

स्वयं प्रतिपक्ष स्वभाव वही पड़ा हुआ है तब पररूपकी दृष्टिसे वहाँ भी भेद है यह कल्पना करना असंगत है।

सत्त्वादि हेतुओंके व्यावर्त्य पररूपका अभाव होनेसे असिद्ध होनेके कारण सत्त्व असत्वादि अनेक धर्म और उनकी विवक्षावश अङ्गिता व अङ्गताकी सिद्धि—कोई भी पदार्थ असत् या अनुत्पत्ति वाला या अमूर्तक वस्तुभूत निरन्वयवादियोंके यहाँ नहीं है, सो इन हेतुओंका कोई पररूप नहीं है, क्योंकि स्वभाव विशेष माना ही नहीं गया वस्तुमें। तो फिर किससे निवृत्त होता हुआ शब्दादि स्वलक्षण परमार्थतः स्वभावभेद होनेपर भी विजातीय भेदकी वजहसे स्वभाव भेद वाला कल्पित किया जा सकेगा ? यदि शङ्काकार यह कहे कि दूसरे लोग मानते हैं स्वरूपका प्रतिपक्ष स्वभाव उससे सिद्धि हम कर लेंगे तो उसका उत्तर स्पष्ट है कि दूसरेने जो कुछ माना वह शंकाकारको तो प्रमाणभूत नहीं है, शङ्काकारकी निगाहमें तो वह अप्रमाण है। तो अप्रमाणसे जिसकी सिद्धि है, प्रमाणसे नहीं है, उससे कुछ सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि शङ्काकार यह कहे कि वह स्वभावभेद कल्पनासे आरोपित होता है तो यह बतायें फिर वे उस कल्पनाकी उत्पत्ति कैसे होती है ? यदि यह कहा जाय कि अनादि कालसे जो अविद्या साथ लगी है उसके उदयके कारण कल्पनाकी होती है तब सुनो कि फिर उसी अनादि अविद्याके कारण सत्वादिक धर्मकी कल्पना भी करलो। फिर वहाँ असत्व व्यावृत्ति, परपदार्थकी व्यावृत्ति याने अन्यापोहकी कल्पना बनानेका श्रम क्यों किया जाता है ? वास्तविकता यह है कि जो कुछ भी सत् है वह स्वयं सत् है। स्वरूपसे सत् है और उसीका ही यह विशेषण है कि पररूपसे असत् है। तो अन्यापोह और स्वरूप सत्व इन दोनोंका परस्पर अविनाभाव है। अब शब्द द्वारा वाच्य केवल अन्यापोह मानना तो असंगत है और निर्विकल्प अवाच्य केवल स्वलक्षण मानें, अन्यापोह स्वरूप न मानें, पररूपका असत्व न मानें तो भी असंगत है। तो पदार्थमें स्वरूपकी अपेक्षासे सत्व है पररूपकी अपेक्षासे असत्व है इसी तरह अन्य भी अनेक धर्म हैं। अन्य उन धर्मोंमें जिसका निर्णय किया जा रहा हो वह बन जाता है धर्मी और शेष अन्य धर्म जो कि गौण रूपसे ज्ञात है वे बन जाते हैं उसके अंग।

शंकाकार द्वारा सत्त्व उत्पत्तित्व कृतकत्वके व्यावर्त्य परिकल्पित पररूपोंकी सिद्धिका प्रयास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सत् ही कोई गौण है विधि स्वभाव जिसमें ऐसा वह सत् ही निषेधकी प्रधानतासे असत् कहा जाता है। जो पदार्थमें प्रथम भङ्ग स्वीकार किया है स्याद्वादियोंने कि सत है तो वही सत् निषेधकी प्रधानतासे असत्रूप कहा जाता है, क्योंकि असत्व नाम है उसका जो अन्य सत्वसे रहित को ही असत्वका व्यपदेश किया गया है। एक वस्तुमें जो सत् है उसके अलावा वस्त्वन्तरमें जो सत् है उसको कहते हैं अन्य सत् उस अन्य सत्से रहित है यही

असत्त्वादि व्यावृत्तियोंका दर्शनसे ग्रहण न होनेपर भी अनादिवासनासे सद्विषयक सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति माननेपर नील रूपादि व सुखादिकी व्यवस्थाका अभाव प्रसंग — अब शंकाकार कहता है कि कोई असत्त्व व्यावृत्तिको निराकार दर्शनने नहीं देखा, फिर भी अनादिकालकी वासनाके कारणसे असत्त्व व्यावृत्तिकी कल्पना उत्पन्न होती है ऐसा स्वीकार किया जाता है। तो इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो इसी प्रकार यह भी कह लीजिए कि नीलादिक विकल्पोंकी उत्पत्ति हो जायगी और ऐसा यदि बन बैठे कि नील पदार्थका निराकार दर्शनसे प्रतिभास न हो और विकल्प ज्ञानने इसको जान लिया तब तो नीलादिक रूपकी व्यवस्था न होनी चाहिए अर्थात् जब निराकार दर्शनने उस वस्तुको प्रतिभासा ही नहीं तो सविकल्प ज्ञान जो कुछ हो रहा वह कुछ भी हो जाय, उसमें अब कोई निश्चयकी बात तो न रहेगी कि यह नील ही कहा गया है अथवा पीलो कहा गया है और इस तरह सुखादिककी भी व्यवस्था किसी तरह सम्भव नहीं हो सकती जैसे नील रूपके न देखने पर भी वासनाके कारण नील विकल्प माना तो ऐसी ही यहाँ कहा जा सकेगा कि सुखादिकका दर्शन न होनेपर भी केवल वासनाकी सामर्थ्यसे ही सुखादिकका विकल्प बन जाता है तो इस विधिमें यह सुख है यह दुःख है ऐसे अनुभवकी कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी। यदि यह आशंका करें कि स्वसम्वेदनके द्वारा ही सुखादिक प्रतिभासमें आते हैं तो स्वसंवेदन व्यवस्था भी बनानी कठिन हो जायगी क्योंकि कह देंगे कि अनादि वासनासे ही निश्चयकी उत्पत्ति होती है। तो उस निश्चयमें भी अब क्या दम रहा जो व्यवस्था कुछ बना सके यदि इस प्रकार ऐसी आशंका करें कि अनादि वासनाके कारण सुखादिक विकल्पोंकी उत्पत्तिको कह कौन रहा है जिससे कि सुखादिककी व्यवस्था न बन सके तो यों यदि फिर वासनासे सुखादिक विकल्पोंकी उत्पत्ति नहीं मानते हो तो उस सम्वेदनकी अथवा सुख आदिककी अव्यवस्था होना अपने आप सिद्ध हुआ क्योंकि सुख आदिकको दर्शनने भी ग्रहण नहीं किया और अनादि वासनाके सहयोगसे भी विकल्प न बना। तो सुखादिककी अव्यवस्था अपने आप बन बैठी। जैसे कि स्वर्गरचना करानेकी शक्ति इसे कैसे सिद्ध कर सकोगे? अथवा वेद्याकारका भेद कौन निश्चित कर सकेगा? तो यों यदि विकल्पसे सुख आदिककी बात नहीं मानी जाती और वासनाको ही मानते हो तो सुख आदिककी व्यवस्था न बनेगी और यदि वस्तुके जो सही स्वरूप है उस ढंगसे बात करोगे तो सब व्यवस्थायें बन जायेंगी। शंकाकार यदि ऐसा कहे कि स्वरूपका ज्ञान तो स्वतः हो जाता है यह तो बाह्य पदार्थोंके ज्ञानकी बात है कि अनादि वासनासे बने विकल्पसे बने, पर स्वरूपकी तो जानकारी स्वतः बन जाती है। तो ऐसी यदि आशंका करे तो भी यह बात सिद्ध न हो पायेगी क्योंकि उस प्रकारका निश्चय नहीं बनता। स्वरूपकी स्वतः गति कैसे सिद्ध की जा सकेगी? कोई युक्ति ही नहीं है। जैसे कि अद्वैतवादका निश्चय निरंशवादी नहीं मानते। तो यों कथन मात्रसे स्वरूपका स्वतः ही परिचय हो जाता है यह

तराश्रय दोष होयेसे यह उपालम्भ नहीं दिया जा सकता अथवा ऐसी कल्पना नहीं हो सकती और न करनी चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि तब तो फिर कल्पित असत्त्वकी व्यावृत्तिसे सत्त्वकी मान्यता करना और सत्त्वकी व्यावृत्तिसे असत्त्वकी कल्पना करना यह भी न किया जाय, ऐसी कल्पना न होना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर भी परस्परमें आश्रयकी समानता है। जब असत्त्व व्यावृत्तिसे सत्त्व सिद्ध हो सो यहाँ पर भी परस्पर आश्रय होनेसे यह भी कल्पना मत बनाओ।

सत्त्वादि न मानकर स्ववासना सामर्थ्यसे सत्त्वादि कल्पनाकी उत्पत्ति माननेपर अनेक विडम्बनाओंका दिग्दर्शन—यदि शंकाकार कहे कि देखिये—अपनी वासनाकी सामर्थ्यसे सत्त्व और असत्त्व आदिक कल्पनाओंकी उत्पत्ति होती है और उन कल्पनाओंकी उत्पत्तिसे सत्त्व असत्त्वका व्यवहार बनता है। तो इसका उत्तर है यह कि यह सत्त्व असत्त्वका व्यवहार हो परस्पर अपेक्षा रखता है। सो इसमें तो अपेक्षा चल रही है। परस्पर आश्रयका दोष यहाँ न बनेगा। समस्त धर्म धर्मीके जो विकल्प हैं और शब्द हैं ये स्वलक्षणको विषय नहीं करते। न तो विकल्पज्ञानका विषय स्वलक्षण है और न शब्दोंका विषय स्वलक्षण है इस कारण कल्पित अन्यकी व्यावृत्ति इसका विषय बनता है स्वलक्षणको तो केवल निर्विकल्प दर्शन ही प्रतिभासमें लेता है। तो स्वलक्षण विकल्प ज्ञानका विषय नहीं और शब्दोंका विषय नहीं, तो विकल्पज्ञानका और शब्दोंका विषय नहीं, तो विकल्पज्ञानका और शब्दोंका विषय अन्य व्यावृत्ति है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस तरहकी कल्पना बनानेपर कि विकल्पज्ञान केवल अन्यापोहको विषय करता है और शब्द भी अन्यापोहको विषय करता है, इस तरह माननेपर यही तो अर्थ बनेगा कि इन्द्रियज ज्ञान भी फिर स्वलक्षणके विषय करने वाले न माने जायेंगे। और वह इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल व्यावृत्तिको ही देखे क्योंकि ऐसा सिद्धान्त मानते हैं कि दर्शन जिस पदार्थको विषय करे उस ही पदार्थको प्रमाणित करनेके लिए विकल्पज्ञान बनता है। तो जो पदार्थ देखा नहीं गया उसमें विकल्प ज्ञानका सम्बन्ध न बन सकेगा और यदि न देखे गए न ग्रहण किए गए पदार्थको विकल्पज्ञान जानने लगे तब तो नील पदार्थमें पीत या श्वेत आदिकका विकल्प उठने लगेगा। क्योंकि विकल्प ज्ञानको अब यह सम्बन्ध माननेकी बात न रही कि वह किसी देखे हुए पदार्थके बारेमें ही अनुभव करे जैसे नील पदार्थमें पीत आदिक नहीं देखे गए तो नील पदार्थमें पीत आदिक विकल्पोंकी उत्पत्ति भी नहीं मानी गई क्योंकि वहाँ नील पदार्थ ही देखा गया है और उसी कारण नील विकल्पोंकी ही उत्पत्ति होती है। तो जैसे यह बात मान लेना चाहिए कि जब निराकार दर्शनसे असत्त्व व्यावृत्ति न देखी गई तब विकल्प ज्ञानसे असत्त्व व्यावृत्तिका विकल्प न होना चाहिए, और निराकार दर्शनमें स्वलक्षणको ही देखा है तो विकल्पज्ञानके द्वारा स्वलक्षणका ही विकल्प होना चाहिए। किन्तु शंकाकार ऐसा तो नहीं मानते। निरंशवादमें माना यह गया है कि अन्यापोहमें ही विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

तो वहाँ विदित होता है कि वस्तु स्याद् एक है। सत् पर्यायनयकी अपेक्षासे अथवा सर्वथाकी दृष्टि लगा कर सब एक है यह कहना युक्त नहीं बनता क्योंकि इसमें प्रमाणसे विरोध है। जैसे किसी एक मनुष्यका जब पिता बताया जा रहा है तो पुत्रकी अपेक्षा से वह पिता कहा जा सकता है, उसका पिताकी अपेक्षासे पिता नहीं कहा जा सकता या जगतके सभी मनुष्योंकी अपेक्षा पिता नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि इसमे प्रत्यक्षसे विरोध आता है।

सद्द्रव्यनयकी दृष्टिसे भी जीवादिक छहों द्रव्योमे एकत्वकी अनुपपत्तिकी आशंका—यहाँ शंकाकार कहता है कि सद्द्रव्यनयकी भी अपेक्षा लगा लें फिर भी जीवादिक द्रव्य एक तो न बन जायेंगे क्योंकि छहों द्रव्योको एक माननेमे प्रतीतिसे विरोध आता है। क्योंकि उन सभी द्रव्योके विषयमे एकत्व प्रत्यभिज्ञान नहीं बन रहा है कि जो ही यह जीव है सो ही यह अजीव है। प्रत्यभिज्ञान न होनेपर एकत्वकी प्रतीति नहीं बन सकती। तो छहों द्रव्योमे एकत्वकी प्रतीति तो की ही नहीं जा सकती। तो सद्द्रव्यनयकी अपेक्षासे छहों द्रव्योको एक न कहा जा सकेगा। वहाँपर भी क्रम-क्रमसे ही एक-एक पदार्थकी सिद्धि की जा सकेगी। इसका कारण यह है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञानके द्वारा ही साध्य होता है अन्यथा प्रत्यभिज्ञानकी दृष्टिसे विपरीत हो और उसे एक मान लिया जाय तो इसमे बड़ी विडम्बना बन जायगी। देवदत्त और यज्ञदत्त ये दो भिन्न भिन्न पुरुष हैं, उनमे भी एकत्व बन बैठेगा।

सत्त्व व द्रव्यत्वकी दृष्टिसे छहों द्रव्योमे एकत्वका अविरोध बताते हुए शंकाका समाधान—उक्त शंकाका समाधान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। कुछ दार्शनिक इस प्रकारसे समाधान देते हैं कि जो सद् द्रव्य नयकी अपेक्षासे स्यात् एक कहा गया है सो यहाँ सद्द्रव्य नयका अर्थ है कि सत् ही द्रव्य है, यह तो समाससे सिद्ध हुआ सद्द्रव्य और सद्द्रव्य विषयक नय है परम संग्रहनय, शुद्धसंग्रहनय। जिस संग्रह नयमें सबका संग्रह है ऐसे संग्रहनयकी अपेक्षासे समस्त वस्तुओमें एकत्वकी बात कहनेमें कोई दोष नहीं है अर्थात् जितने भी पदार्थ हैं वे सब सत्स्वरूप हैं। उस सत्त्वकी अपेक्षा से सब एक है, ऐसा कहनेमे किसी प्रकारका विरोध नहीं है। कुछ दार्शनिक ऐसा समाधान करते हैं कि सद् द्रव्यनयका अर्थ यो होता है कि सद् द्रव्य ही नय कहलाता है क्योंकि सत् द्रव्य समस्त द्रव्योमे पाया जाता है, नीयमान है अर्थात् सभी पदार्थोंमे सत्त्व निरखा जाता है। उसकी अपेक्षासे सब पदार्थ एक हैं क्योंकि जीवादिक ६ पदार्थोंका अथवा उनके जो और भेद प्रभेद हैं अनन्तानन्त द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे, पर्याय रूपसे वे सब उस सद्द्रव्यकी पर्याय हैं अर्थात् भेद हैं। कहा भी है कि एक द्रव्य है और वह अनन्तपर्यायात्मक है। तो यो विवक्षासे सद्द्रव्य नयकी अपेक्षामे आकर सब वस्तु एक हैं और इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि वे सद्द्रव्य सब जगह सर्वथा पाये जाते हैं। किसी जगह विच्छेद नजर नहीं आता। जो वह है उसमें ही सत्त्व है। तो

स्वीकार कर लिया जायगा ? तो जब सुखादिकके दर्शन न होनेपर सुखादिककी व्यवस्था न बनी तब वस्तुके दर्शनसे उत्पन्न होने वाले निश्चयसे याने विकल्पज्ञानसे वस्तुके स्वभावभेदकी व्यवस्था माननी पड़ेगी और इस स्वभावभेदकी व्यवस्थासे सत्त्वादिक धर्मका निश्चय बनेगा।

वस्तुमें सत्त्वादिक धर्मोंकी परमार्थतः व्यवस्था —उक्त विवरणसे वस्तुस्वरूपका निर्णय करते हुए मान लेना चाहिए कि वस्तुमें सत्त्वादिक धर्मभेदकी व्यवस्था वास्तवमें है ये सत्त्व असत्त्व आदिक अनन्त धर्म वस्तुमें स्वतः न हों तो किसी भी जगह प्रवृत्तियोंका निर्णय नहीं हो सकता। जब सत्त्वादिक धर्मोंकी व्यवस्था परमार्थसे मान ली जाती है तो सत्त्वादिक सप्तभंगी समीचीन सिद्ध हो गई। क्योंकि सत्त्वादिक धर्मों की व्यवस्था सुनयके द्वारा बतायी गयी। वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। उन धर्मोंमें जिस किसी भी धर्मका भंग अथवा प्रयोग किया जाता है तो उस समय शेष अन्य धर्म गौण रूपसे परिचित हो जाते हैं। उनका विरोध न करके सुनय अपने विषयभूत धर्मको ग्रहण करता है और, इस पद्धतिमें सत्त्वादिक सप्तभंगीकी व्यवस्था सिद्ध होना वास्तविक ही है। अब इस समय सत्त्व असत्त्व सम्बन्धी सप्तभंगीकी तरह एक अनेकपनेकी सप्तभंगीमें भी उस ही प्रक्रियाका निर्देश करते हुए आचार्य देव कहते हैं ?

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।
प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥२३॥

एकत्व अनेकत्व आदिक धर्मोंकी सप्तभंगी विधिसे योजना—एक और अनेक विकल्प आदिकमें भी सप्तभंगीकी उस ही प्रक्रियासे इन धर्मोंको व्यवस्था बनाना चाहिए। नयोंके पण्डित जन नयोंके द्वारा प्रतिधर्मसे सम्बन्धित सप्तभंगीकी योजना ऐसी बनाते हैं स्यात् एक—अनेक ही है, यह एकत्व और अनेकत्वके प्रसंग में स्याद्वाद विशेष का विचार है और, इसमें जो प्रक्रिया पहिले बतलाई गई है उस ही प्रक्रियासे इसकी योजना है। इसी प्रकार स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है, अथवा कोई भी एक धर्म माना जाय तो उसके प्रतिपक्षभूत धर्म भी मानने पड़ते हैं। तो ऐसी स्थितिमें किसी भी एक धर्मके बोलनेपर उसके प्रतिपक्षभूत अन्य धर्म स्वतः कहे हुए हो जाते हैं। उन दोनोंकी क्रमसे विवक्षा किए जानेपर तृतीय उभय धर्मकी निष्पत्ति होती है और एक साथ दोनों कहे जाना अशक्य है। इस कारण अवक्तव्यपनेकी निष्पत्ति होती है। फिर क्रम अन्वित पद्धतिसे शेषके तीन भंग भी प्रयुक्त हो जाते हैं। तो यों स्याद्वादी जन युक्तिके अनुसार एकत्व अनेकत्व आदिक विकल्पोंमें भी सप्तभंगीकी योजना करते हैं। स्याद्वाद शासनसे विपरीत बुद्धि रखने वाले मनुष्योंको यह अधिकार नहीं है कि वस्तु धर्मकी सही योजना बना सकें। अब एकत्व और अनेकत्वके सम्बन्धमें किस प्रकार सप्तभंगीकी निष्पत्ति होती है सो सुनो। अब सद्द्रव्यनयकी अपेक्षा करते हैं

भाव वाली बुद्धि देखिये ! जो बाह्य विभिन्नतायें हैं उनमें भेद कर देना तो शक्य है। उनमें विशेषता भेद, उनका स्वरूप स्वभाव, स्वलक्षण सर्व बता करके उनमें पृथक्करणकी बात कही जा सकती है, पर बुद्धिमें जो नीलादिक आकार आये हैं वह अशक्य विवेचन है। उनका पार्थक्य करना अशक्य है। इस कारणसे चित्रज्ञानको अशक्य विवेचन कहा है और तभी वे नीलादिक अनेक प्रतिभास भेद होनेपर भी एक ही माने गए हैं। तो जैसे एक चित्रज्ञानमें नीलादिक प्रतिभास अनेक माने गए हैं और उसे एक ही कहा गया है इसी प्रकार जीवादिक विशेषका भेद बहुत है। अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं। अन्य भी द्रव्य हैं तो इतना विशेष होनेपर भी हैं तो सब एक सद्द्रव्य अर्थात् सबमें वह एक समान सत्त्व है। अस्तित्वका सामान्यमें क्या भेद।

पदार्थोंमें कालभेद देशभेद आकारभेदकी अपेक्षासे भेद होनेपर भी सत्त्वकी दृष्टिसे भेदका अभाव - कालभेद होनेपर भी उस सद्रूपताका पार्थक्य नहीं किया जा सकता। भले ही उनमें विभिन्न परिणाम होते हैं, जो पर सद्रूपता तो सबमें समान है। पदार्थोंमें देशभेद भी पाया जा रहा। कोई पदार्थ किसी जगह है कोई पदार्थ अन्य देशमें है, और यो स्पष्ट प्रथक् समझमें आ रहा है, पर देशभेद होने पर भी सद्रूपतासे उनको प्रथक् नहीं किया जा सकता। सत् यहाँ भी पदार्थ है और सत् दूर देशमें, अन्य देशमें पड़ा हुआ भी पदार्थ है। और भी देखिये, जैसे आकार भेद तो बता दिया जाता है। घड़ा इस आकारमें है, कपड़ा उस आकारमें है। देश भेदसे रहने वाले पदार्थमें आकार भेदकी तो प्रतीति हो जाती है पर आकारभेद होने पर भी सत्त्वमें क्या भेद है? यह भी है वह भी है? तो इस तरह सद्रूपतामें उन पदार्थोंमें भेद नहीं माना गया है। और यदि सद्रूपतासे उन विशेषोंका किसी समय किसी जगह पार्थक्य बन जाय, अर्थात् वह सद्रूप न रहे तो उनका स्वरूप ही नष्ट हो गया। इस कारण संग्रहनयकी दृष्टिमें इन समस्त जीवादिक पदार्थोंमें एकत्वरूपसे व्यवहार कहा गया है।

किसी भी पदार्थ या धर्मको सद्रूपतासे पृथक माने जानेकी अशक्यता अब शङ्काकार कहता है कि देखिये ! जैसे सामान्य विशेष और समवाय इन तीनमें सद्रूपता नहीं है फिर भी उनके स्वरूपका अभाव नहीं है। वैशेषिक सिद्धान्त मे सद्रूप तो द्रव्य, गुण कर्म ये तीन पदार्थ माने गये हैं किन्तु सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन पदार्थ सद्रूप नहीं हैं और फिर भी उनका स्वरूप है। तो उस ही दृष्टिसे शंका की जा रही है कि जैसे सामान्य, विशेष, समवाय, इनकी सद्रूपताका विवेचन है, पार्थक्य है फिर भी उनका अभाव नहीं। और इसी प्रकार प्रागभाव आदिक जो चार पदार्थ हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव, ये भी सद्रूपसे अलग हैं। फिर भी ये पदार्थ माने गए हैं इसी तरह जीवादिक पदार्थ

यो प्रतीतिसे विरोध नहीं है और सब पदार्थोंमे यह असत् ही है, यह सत् ही है, इस तरह अबाधित रूपसे प्रत्यभिज्ञानका सद्भाव पाया जा रहा है। जब कि प्रध्वंसाभाव रूप भी कुछ अभाव है ऐसा जो द्रव्यसे भिन्न है द्रव्य नहीं है, किन्तु पदार्थ है। जैसे कि पदार्थ ७ प्रकारके कहे गए हैं — द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव। तो द्रव्य तो नहीं है अभाव किन्तु पदार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि सब वस्तुओंमे भाव पाया जा रहा सद्द्रव्यपना प्रतीत हो रहा है, तो यह व्यभिचरित बात है, क्योंकि अभाव तो द्रव्यपना नहीं है, वह तो द्रव्यसे पृथक पदार्थ है। उस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि जब अभाव भी सद्द्रव्यकी पर्याय है तो कोई दूषण नहीं दिया जा सकता। अभाव कोई तुच्छाभाव नहीं है अर्थात् किसी भी वस्तुका सद्भाव न हो और एकदम असत्में अभावकी बात कही जाती हो सो नहीं है। सर्वथा असत्में न तो भावकी कल्पना होती है और न अभावकी कल्पना होती है। अभाव भी भावस्वरूप होता है इस कारण यह दूषण नहीं दिया जा सकता कि सब पदार्थोंमें सत् ही है, इस प्रकारसे प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है।

जीवादिक पदार्थोंमे स्वस्वलक्षणकी अपेक्षाभेद होनेपर भी सत्वकी अपेक्षासे अभेद— अब शंकाकार कहता है कि जीवादिक जो विशेष पदार्थ हैं अनेक प्रकारके चेतन अचेतन व्यक्तिरूप पदार्थ हैं वे परस्परमें व्यावृत्तरूप है अर्थात् एक दूसरेसे हटे हुए हैं। उनकी निवृत्तिरूप विवर्त ही विशेष है अथवा वे निवृत्तिरूप पर्यायमें हैं तब फिर क्यों कहा जा रहा कि द्रव्य एक है ? जब अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं और सभी एक दूसरेसे भिन्न हैं तब यह कैसे कह दिया कि एक द्रव्य है ? इसमे तो विरोध आता है। सभी प्रकट भिन्न-भिन्न हैं, सब सत्ता न्यारी न्यारी है। तो एक द्रव्य नहीं है अनेक द्रव्य है इन सभी पदार्थोंको एक बनानेमे विरोध है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि जीवादिक यद्यपि नाना हैं और वे परस्पर एक दूसरेसे निवृत्त स्वभाव वाले हैं फिर भी उन सबको कथंचित् एक रूपसे कहनेमें विरोध नहीं है, क्योंकि कथंचित् सत्व विशिष्टताका वहाँ प्रतिभास भेद है ही। यद्यपि वे जीवादिक समस्त विशेष पदार्थ अनेक हैं और परस्परमे एक दूसरेके सत्वसे निवृत्त हैं अन्यापोह रूप है और काल आदिकके भेदसे उनमे भेद नजर आ रहा है, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव सभी प्रत्येक वस्तुमें उनके उनमें ही हैं, ऐसे विभिन्न होनेपर भी सद्रूपता सबमे एक समान है इस कारण उनमे एकत्व कहा जाय सद्रूपताकी अपेक्षासे तो इसमे किसी प्रकारका विरोध नहीं है। जैसे कि चित्र ज्ञानमे नीलादिक प्रतिभासकी बात कही जाती है, चित्रज्ञान कहते उसे हैं कि नील पीत आदिककी बुद्धिका प्रतिभास जहाँ चलता हो फिर भी वह अपने स्वरूपमें एक ही है। तो जैसे वहाँ नीलादिक प्रतिभास अनेकानेक हैं। फिर भी ज्ञानकी अविशेषतासे वहाँ एक ज्ञानाद्वैत मान लिया गया है वह चित्र प्रतिभास वाली बुद्धि एक ही कहलाती है क्योंकि जो बाह्यमें नानापन है, नाना पदार्थ हैं उनसे विलक्षण है यह चित्र प्रति-

तो देखिये, विशेषण विशेष्य भावरूपसे प्रयोग किया गया ना, कि यह पुरुष कुण्डली है, तो कुण्डल और पुरुष जब इन दोनोको भेदरूपसे भी देखा जाता हो तब ही तो विशेषण विशेष्य भाव बनता है। जैसे कहा—नीलकमल, तो वह कमल नीला है, तभी तो वहाँ विशेषण भावरूपमे प्रयोग किया गया है कि नील कमल। और, दृष्टान्तमे भेद इस कहने वालेके चित्तमे पड़ा हुआ है कि नीलका अर्थ और है कमलका अर्थ और है। जो जो कमल हैं वे सब नील हैं, जो जो नील हैं वे सब कमल हैं। ऐसा नही है यह बात प्रतीतिमे है तो नील और कमल इनको भेदरूपसे जब प्रतीतिमें रख रहा है कोई तब ही कोई ऐसा प्रयोग कर सकता है कि नीलकमल। तो इस प्रकार सब जगह भेद देखा जा रहा है। भेद न देखा जानेपर फिर अनेक व्यवहार लुप्त हो जायेंगे।

वस्तुमे सर्वथा भेद व अनेकत्वकी भी अशक्यता ऐसा भी कोई शङ्काकार न कह सकेगा कि फिर तो सब ही प्रकारसे भेद ही मान लीजिए। यदि जीवादिक विशेष भिन्न हैं अनेक हैं तो अनेक हो हैं, फिर उनको किसी प्रकार एक न मान पाया हुए। तो सर्वथा भेदका एकान्त मान लेनेपर उनमे संख्या संख्यावानमें सर्वथा एकपना मान लेनेपर फिर व्यपदेश भी न बन सकेगा कि ये १० हैं क्योंकि १० का नाम भी केला है और केलेका नाम भी १० है तो जहाँ १० कम केले हैं वहाँ यह प्रयोग है कि १० केले है तो यह व्यपदेश फिर न बन सकेगा, जब कि संख्या और संख्यावानमें सर्वथा भेद नहीं है। अब यहा शङ्काकार कहता है कि संख्यावान पदार्थ है इस प्रकार व्यपदेश होनेका कारण समवाय है, संख्या आदिक है और उसका संख्यावान पदार्थमें समवाय सम्बन्ध होता है। उस समवाय सम्बन्धके कारण संख्यावान पदार्थ है, १० केले हैं आदिक व्यवहार बन जाते है। इसके समाधानमे कहते हैं कि समवाय भी मान लें तिसपर भी चूंकि संख्या और संख्यावान भेद ही मान लिया गया तो समवाय भी उस व्यपदेशका कारण नही बन सकता। जो भिन्न पदार्थ है विन्ध्याचल हिमालय पर्वत आदिक ये अब बिल्कुल न्यारे न्यारे हैं तो उनमें कैसे कह दिया जायगा कि यह इसका है? तो यो ही संख्या संख्यावान जब एकान्ततः भिन्न मान लिए गए तो उनमे कुछ भी कल्पनायें करके व्यवहार नही बनाना जा सकता उन्हें विशेषण विशेष्य भाव रूपसे नही कहा जा सकता। शङ्काकार कहता है कि १० केले है ऐसा जो संख्या संख्यावानका व्यवहार होता है उसका कारण है विशेषण-विशेष्य भाव अर्थात् समवेत जो संख्या संख्यावान है अर्थात् जिनका समवाय सम्बन्ध बनाया गया है ऐसे संख्या संख्यावानमे विशेषण विशेष्यभाव है। १० हुए विशेषण केले हुए विशेष्य। यो विशेषण विशेष्य भाव उनके व्यवहारका निमित्त हो जायगा। तो इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह बताओ कि विशेषण विशेष्य भाव संख्या संख्यावानसे क्या सर्वथा भिन्न है जैसे कि भेदैकान्तकी हठ की है। तो यदि संख्या संख्यावानसे विशेषण विशेष्यभाव भिन्न है तो फिर उसका व्यपदेश करनेके लिए अन्य

भी सद्रूपतासे पृथक् हो जानेपर भी उनका अभाव नहीं पाया जा सकता है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि सामान्य, विशेष समवाय और अभाव भी उस सत्के ही विवर्त हैं। इस कारणसे इस सामान्य, विशेष समवाय, अभावमें भी सद्रूपका व्यवच्छेद सिद्ध नहीं कर सकते। कारण यह है कि सामान्य कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। किन्तु जिस क्षेत्रमें जातिकी अपेक्षासे धर्मको निरखा जा रहा है सामान्यात्मक वही पदार्थ तो है। तो जैसे पदार्थ सत् है ऐसे ही वह सामान्य सत् है। यों ही विशेष, समवाय तादात्म्य जो कुछ भी देखे जा रहे हैं और यहाँ तक कि अभाव भी निरखा जा रहा है तो वह भी वस्तुके भावस्वरूप है। जैसे प्रागभाव उत्तर पर्यायका पहिली पर्यायमें अभाव तो उत्तर पर्यायका अभाव पहिली पर्यायके सद्भावरूप तो है, वही तो उत्तर पर्यायका प्रागभाव है। प्रध्वंसाभाव है, पूर्व पर्यायका उत्तर पर्यायमें अभाव, यों कहो व्यय और उत्पाद। तो जो व्यय है, पूर्व पर्यायका अभाव है वह उत्तर पर्यायके उत्पाद रूप ही तो है तो इस तरह अभाव भी भावस्वरूप सिद्ध होता है। तो इसका भी सद्रूपसे पार्थक्य कहना असिद्ध है। अन्यथा अर्थात् यदि इन तत्त्वोंको सद्रूपसे पृथक् कर दिया जाय तो फिर इनकी प्रमेयता नहीं बन सकती, अर्थात् ये प्रमाणके विषय न बन सकेंगे। और, सब अवस्तु बन जायेंगे क्योंकि जो सर्वथा सत्त्वसे भिन्न है उसको तो असत् ही कहा गया है इस कारण जीवादिक विशेष अर्थात् सभी पदार्थ काल आदिकका भेद रख रहे हैं। देश अलग है, काल अलग है, उनका पिण्ड अलग है उनकी व्यक्तियाँ न्यारी हैं तिसपर भी स्यात् एक द्रव्य है क्योंकि सद्रूपताकी अविशेषता होनेसे। जैसे कि नीलादिकके प्रतिभास भेद होनेपर भी ज्ञानरूपताकी अविशेषता होनेसे चित्रज्ञानको एक कहा जाता है। इस तरह एकत्व और अनेकत्व के सम्बन्धमें यह पहिला भङ्ग बना कि वस्तु सद्द्रव्यनयकी अपेक्षासे स्यात् एक है।

वस्तुमें व्यतिरेक दृष्टिसे स्याद् अनेकत्वकी सिद्धि—अब यह बतलाते हैं कि जिस प्रकार स्यात् एकपनेकी सिद्धि है उसी प्रकार व्यतिरेक दृष्टिसे, पर्याय अपेक्षासे जीवादिक विशेष अनेक हैं यह भी सिद्ध होता है। क्योंकि भेद रूपसे उनका दर्शन हो ही रहा है। प्रत्येक जीव न्यारे-न्यारे हैं, प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् हैं इस प्रकार भेदरूपसे ये सब पदार्थ पाये जाते हैं। जैसे कि कुछ दार्शनिकोंने संख्या और संख्यावान पदार्थोंको भेदरूपसे देखा है। अथवा सभी जन समझते हैं कि संख्या कोई अलग है, संख्यावान् पदार्थ अलग है। जैसे कहा १० केले तो १० की संख्याका अर्थ अलग है और केलेका अर्थ अलग है। जैसे संख्यावान वह पदार्थ केलेमें संख्याके स्वरूपसे अलग है। ऐसे ही जीवादिक विशेष भी भेद रूपसे देखे जा रहे हैं इस कारण स्यात् एक है स्यात् अनेक है। कोई ऐसा सन्देह कि संख्या और संख्यावानमें भेद तो नहीं देखा जा रहा सो बात नहीं कह सकते। यदि संख्या और संख्यावानमें भेद न देखा जाय तो विशेष विशेष्यका विकल्प नहीं बन सकता। अथवा जैसे—किसी पुरुषको कहा कि यह कुण्डली है, क्योंकि वह अपने कानोंमें कुण्डल (आभूषण) पहिने हुए है,

ही प्रसगको दार्शनिक पद्धतिसे और उक्त कारिकाओमे बतायी गई पद्धतियोसे निरखिये—यहाँ एकत्व तो सिद्ध किया जा रहा है, पर एकत्वको सिद्ध करते समय अनेकान्त स्वत सिद्ध हो जाता है। प्रधान और गौण विवक्षामें यह पद्धति बनती है। एक वस्तुमें एकत्व अपने प्रतिषेध्य अनेकत्वके साथ अविनाभावी है क्योंकि विशेषण होनेसे। जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी होता है। जैसे कि हेतुमें साधर्म्य वैधर्म्यके साथ अविनाभावी है। हेतुमें सपक्षकी बात कही जाती है तो सपक्षका वर्णन करना विपक्षकी भी याद दिलाता है। हेतुका विपक्षमे असत्व है इस प्रकार एक वस्तुमे एकत्वका वर्णन करना अनेकत्वको याद दिलाता है कि किसी दृष्टिसे वस्तुमे अनेकत्व भी है। इस तरह प्रथम भगके प्रयोगसे सिद्धि हुई। अब द्वितीय भगका प्रयोग सुनो। एक धर्मीमें अनेकत्व अपने प्रतिषेध्य एकत्वके साथ अविनाभावी है क्योंकि विशेषण होनेसे जैसे कि हेतुमे वैधर्म्य साधर्म्यके साथ अविनाभावी है, हेतुमें जब विपक्ष व्यावृत्त बतायी जा रही है तो वह वर्णन सपक्ष सत्त्वकी भी याद दिलाता है। विशेषण है ना अथवा साधर्म्य शब्द कहना ही यह सिद्ध करता है कि कोई वैधर्म्य भी है। इसी प्रकार एक धर्मीमें भेद विवक्षासे जो अनेकत्वकी बात कही जा रही है वह अपने प्रतिषेध्य एकत्वके साथ अविनाभावीपना सिद्ध करती है। इसी प्रकार एकत्व अनेकत्वका उभय भी अपने प्रतिषेध्य अवक्तव्यके साथ अविनाभावी है क्योंकि विशेषण होनेसे। अथवा जो यह उभयात्मकपना है सो अनेक हेतुओसे सिद्ध होता है। वस्तु स्यात् अनेक है विशेषण होनेसे, विशेष्य होनेसे, शब्दगोचर होनेसे और वस्तु होनेसे। वही एक पदार्थ विशेषण रूप भी होता है और विशेष्य रूप भी होता है। जैसे कि कोई हेतु अपने साध्यको अपेक्षासे हेतु रूप है, और जो साध्य नही है उस तत्त्वकी अपेक्षासे अहेतुरूप है। तो जैसे साधन धर्म अपेक्षासे हेतुरूप और अहेतुरूप होता है इसी प्रकार यह विशेषण है शब्दगोचर होनेसे अथवा शब्दगोचर है विशेष्य होनसे अथवा विशेष्य है और शब्द गोचर है वस्तु होनेसे। यों परस्पर हेतुओ द्वारा परस्पर तत्त्वकी सिद्धि की जाती है।

विशेषणत्वादि हेतुओका स्वाभिधेयप्रतिपक्षाविनाभावित्व विशेषणत्व यहाँ साधन धर्म है अर्थात् अनुमान प्रयोगमे हेतुरूपसे प्रयुक्त किया गया है पर विशेषण होनेपर भी जो कि अपने विशेष्यकी अपेक्षा है वह अपने प्रतिषेध्य विशेष्यके साथ अविनाभावी है विशेषण होनेसे। इस अनुमान प्रयोगमे वही अपेक्षासे विशेष्य विशेषण बनता है इस कारण विशेषणत्वादिक हेतुओंमे व्यभिचार दोष नही दिया जा सकता। यहाँ तभी कोई यह आशका नही कर सकता है कि विशेषण तो केवल पक्ष धर्मका बन गया सो यहाँ विशेषणत्व हेतु व्यभिचारी हो गया कि देखो साध्य विशेषण है पर यह अपने प्रतिपक्षके साथ अविनाभावी नही है। विशेषणत्व विशेष्यत्वके साथ अविनाभावी नही है, इसीप्रकार विशेष्यत्व हेतुमे भी व्यभिचार नही है क्योंकि अपने विशेषणकी अपेक्षा वह विशेष्य है फिर भी अपने प्रतिपक्ष विशेषणत्वके साथ अविनाभावी है,

जो भी कहा जाय वह अपने प्रतिपक्षका संकेत कर ही देता है, शब्द गोचरत्वका हेतुका भी जो प्रयोग किया गया है वह भी अनेकान्तिक दोषसे दूषित नहीं है, क्योंकि शब्द-गोचरत्वका अपने प्रतिषेध्य शब्दान्तर गोचरत्व अर्थात् अन्य शब्दोंके द्वारा विषयभूत नहीं है, प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी है, जो शब्दगोचर है वह अन्य शब्दोंके द्वारा विषयभूत नहीं है इसी प्रकार वस्तुत्व का साधन कहा गया है कि ये सब विधेय प्रतिषेध्यात्मक हैं एकानेकात्मक हैं वस्तुत्व होनेसे, तो वस्तुत्व जो साधन कहा गया है उसमें भी कोई व्यभिचार नहीं है क्योंकि अनेकान्तवादियोंके यहाँ ऐसा भी प्रतीतिमें विरोध नहीं है कि वस्तु धर्म वस्तुका एक अंश ही तो कहा गया है, सो वह वस्तुत्वधर्म किसी दृष्टिसे अपने प्रतिषेध्य अवस्तुत्वके साथ अविनाभावी है, तब प्रक्रिया विपरीत रूपसे कर दी जाती है, जैसे पदार्थ अपने स्वरूप चतुष्टयसे नहीं है तब इसी प्रक्रियाको विपरीत करके बोले कोई कि पररूप चतुष्टयसे है, स्वरूप चतुष्टयसे नहीं है तो इस प्रकारसे तो वह नहीं है। यों इन विपरीत प्रक्रियावोंमें अवस्तु है वह, वस्तु तो वह अपनी शुद्ध प्रक्रियामें है। तो जितने भी ये हेतु कहे गए हैं ये सब हेतु भी अपने प्रतिषेध्यके साथ अविनाभावी हैं इस कारणसे इनका प्रतीतिमें कोई विरोध नहीं है।

सर्वथा विधि निषेधसे अनवस्थित अथवा कथंचित् विधिनिषेधसे अवस्थित वस्तुकी अर्थक्रियाकारिता—उक्त विवरणसे यह निश्चय कीजिये कि एकत्व और अनेकत्वसे अनवस्थित अर्थात् वस्तु न सर्वथा एक है न सर्वथा अनेक है, यों सर्वथा एकत्व और अनेकत्वसे अनवस्थित सप्तभङ्गोंमें आरूढ होकर अपनी सप्तभङ्गी पद्धति प्रयुक्त होकर ये जीवादिक वस्तु हैं अर्थात् जीवादिक पदार्थ न सर्वथा एक हैं न सर्वथा अनेक हैं इस तरहसे सर्वथा विधि निषेधसे सर्वथा अनेक हैं इस तरहसे सर्वथा विधि निषेधसे अनवस्थित होती हुई ही वस्तु कार्यकारी बनती है अन्यथा यदि जीवको सर्वथा एक मान लिया जाय तो उसमें अर्थ क्रिया नहीं बन सकती। जो अपरिणामी है, सर्वथा एक है उसमें जब किसी भी प्रकार भेद नहीं, परिणति नहीं व्यतिरेककी बात बनती ही नहीं तो वहाँ अर्थक्रिया कहेंगे किसे ? इसी प्रकार वस्तुको सर्वथा अनेक मान लिया जाय जैसे कि कुछ दार्शनिकोंने वस्तुमें देखा सामान्य, विशेष गुण पर्यायें तो ऐसा कुछ भेद निरखकर उनको सर्वथा स्वतन्त्र सत् मानने लगेंगे कि वस्तु गुण भी है कर्म भी है सामान्य भी है, विशेष भी है। तो यह हुआ उनका अनेकैकान्त। इस तरह अनेकैकान्त माननेपर भी वस्तुकी अर्थक्रिया नहीं बन सकती। अर्थक्रिया हुआ करती है क्रमसे अथवा अक्रमसे। तो जब वस्तु सर्वथा एक है तो भी दोनों ही विधियोंसे अर्थक्रिया नहीं है। जब वस्तु सर्वथा अनेक हो तो अनेक है तो वहाँ अर्थक्रिया किसमें कहेंगे ? कोई मूलभूत वस्तु तो मानी ही नहीं गई। इस प्रकार सर्वथा एकका एकान्त करेंगे तब भी अर्थक्रिया नहीं बनती सर्वथा अनेकका एकान्त कहेंगे तब भी अर्थक्रिया नहीं बनती। इस तरह वस्तुको मानना होगा कि वह कथंचित् सत् और असत् है इसी प्रकार वह कथंचित् एक और अनेक है।

आप्तमीमांसा-प्रवचन षष्ठभाग समाप्त: